क्रौंचवध

लेखक

वि. स. खांडेकर

अनुवादकर्त्ता

वामन विश्वासराव भावे

प्रकाशक व व्यवस्थापक
रा. ज. देशमुख,
देशमुख आणि कंपनी
१९१ शनवार पेठ, पुणें २

संचालक
भ. त्र्यं. देशमुख,
बी.ए., एल्एल्. बी.

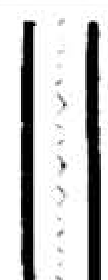
२. मुखपृष्ठ का चित्र श्री. दीनानाथ दलाल का है।

मूल्य ४॥ रुपये

क्रमांक १
१२ एप्रिल १९४४

मुद्रक
विठ्ठल हरि बर्वे,
आर्यभूषण मुद्रणालय,
९१५।१ शिवाजीनगर, पुणें ४.

सप्रेम समर्पित



स्टीफन् त्स्वाइग्

तथा

अर्न्स्ट टोलर्

की



स्मृतिमें

खांडेकर-वाङ्मय

कथा-संग्रह

नवचन्द्रिका (दुसरी आवृत्ति)
समाधीवरलीं फुलें (,,)
पाकळ्या (,,)
पूजन (दुसरी आवृत्ति लवकरच प्रसिद्ध होईल)
नवमल्लिका (,,)
नवा प्रातःकाल (,,)
पहिली लाट (,,)
दत्तक व इतर गोष्टी
जीवन-कला
ऊनपाऊस
दंव-बिन्दु
विद्युत्प्रकाश
अबोली
फुलें आणि दगड
सूर्यकमळें
घरट्याबाहेर
कल्चर्ड मोती
कलिका
स्त्री आणि पुरुष

लघु-निबंध

वायुलहरी (दुसरी आवृत्ति)
सायंकाल (,,)
चांदण्यांत
अविनाश
मंदाकिनी

कादंबऱ्या

कांचनमृग (दुसरी आवृत्ति)
दोन ध्रुव (,,)
उल्का (,,)
हिरवा चांफा (,,)
दोन मनें (,,)
पांढरे ढग (,,)
पहिलें प्रेम (,,)
क्रौंच वध (दुसरी आवृत्ति लवकरच प्रसिद्ध होईल)
हृदयाची हांक (,,)
रिकामा देव्हारा (,,)
सुखाचा शोध (,,)
जळलेला मोहर

विविध

रंकाचें राज्य (नाटक)
वनभोजन (टीका)
धुंधुर्मास (,,)
गडकरी (व्यक्ति आणि वाङ्मय)
आगरकर (,, दुसरी आवृत्ति लवकरच प्रसिद्ध होईल)
सहा भाषणें (अध्यक्षीय भाषणें)

बोलपट

छाया
ज्वाला
देवता
सुखाचा शोध
धर्मपत्नी (तेलगू)
अमृत
संगम
तुझाच
माझं बाळ
लग्न पहावं करून, सरकारी पाहुणे — मूळ कथानक—प्रो. चिं. वि. जोशी

खांडेकर-वाङ्मय

अनुवादित खांडेकर वाङ्मय

दोन ध्रुव (गुजराथी, कानडी)

दृष्टि लाभ (कथासंग्रह-कानडी)

क्रौंचवध

(हिंदी, गुजराथी व तामीळ अनुवाद छापत आहेत)

रिकामा देव्हारा (तामीळ)

सुखाचा शोध (,,)

पहिलें प्रेम (,,)

उल्का (,,)

जळलेला मोहर (,,)

घरट्याबाहेर (,,)

खांडेकर-वाङ्मय लवकरच प्रसिद्ध होणारीं पुस्तकें

पहिल्या वहिल्या

गोकर्णीचीं फुलें

मराठीचा नाट्यसंसार

बुद्ध आणि हिटलर

अश्रु

फुलें आणि कांटे

कल्पलता

वालुका

विसावें शतक

वा. म. जोशी (व्यक्ति आणि वाङ्मय)

तिसरी भूक

मेरे शब्द

सुप्रसिद्ध मराठी उपन्यास–लेखक श्री. वि. स. खांडेकर के 'क्रौंचवध' का अनुवाद राष्ट्र–भाषा हिंदी के वाचकों के सामने रखते हुए मुझे अत्यंत हर्ष होता है। मेरे इस प्रयत्न का श्रेय केवल देशमुख आणि कंपनी, पुणें को ही है। कंपनी के संचालक, लखनऊ विश्वविद्यालय के मेरे सहपाठी मित्र श्री. भ. व्यं. देशमुख की प्रेरणासे ही मैंने अनुवाद का काम हाथ लिया। यदि देशमुख आणि कंपनी के व्यवस्थापक श्री. रा. ज. देशमुख हाथ धो मेरे पीछे न पड़ते तो यह कार्य मुझसे न बनता। हिंदी–साहित्य–संमेलन के सभापति पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी ने कार्यव्यस्त रहते हुए भी अनुवाद का कुछ भाग पढ़ा। मेरा उत्साह बढ़ाया। उनका अनुग्रह भुलाया नहीं जा सकता।

'क्रौंचवध' के गुण-दोषों के बारे में भिन्न व्यक्तियों के भिन्न मत हो सकते हैं। किन्तु मेरी दृष्टि से उसका एकमेव गुण है—महाराष्ट्र के मध्यम वर्गीय बुद्धि-वादी लोगों का यथार्थ-चित्रण। महाराष्ट्र में शिक्षा-प्रचार का प्रारंभ स्वर्गीय लोकमान्य तिलक तथा उनके सहकारियों ने स्थापन की हुई डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी से हुआ। उन दिनों धनाभाव के कारण यह आवश्यक था कि कार्य-कर्त्ताओं का वेतन कम हो और कार्यकर्त्ता जीवन के ध्येय की लगन से काम करें। आज परिस्थिति बदल गई है। पुराने ध्येय छूट गये हैं। कम वेतन ही ध्येय रह गया है। साथ ही यह भावना भी है कि ऐसी संस्थाओं में काम करना याने देशसेवा का एक मार्ग है। प्रो. दादासाहब महाराष्ट्र के ऐसे ही एक प्रोफेसर का चित्र है। क्रौंचवध के डाक्टर भगवन्तराव भी महाराष्ट्र में अनेकों मिलेंगे। विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में पारितोषिक, छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कर पढ़ाई करना

महाराष्ट्र में बड़े गौरव की बात समझी जाती है। फल यह है कि विद्यार्थी जीवन के ये अलंकार ही अब साध्य बन गये हैं, जीवन के साधन नहीं रहे हैं। यही कारण है कि साधारणतः महाराष्ट्र के विद्यार्थियों की किसी भी विषय की पढ़ाई की वृत्ति जाती रही है। केवल वही पढ़ता है जो पारितोषिक इत्यादि के झमेले में पड़ना चाहता है। साधारणतः जीवन की पूर्ति इसी में समझी जाने लगी है कि अच्छी नौकरी हो और बी. ए. पास पत्नी। सुशिक्षित स्त्रियों के प्रति गप्पें बहुत हाँकी जाती हैं, मन की उदारता कम है। बर्ताव के बाह्य उपचार अलग हैं, किन्तु तत्त्वतः आज भी स्त्रियों के बारे का वही पुराना दृष्टिकोण है। बहुत ही कम लोग स्त्री की व्यक्तिगत हैसियत मान्य करते हैं। भगवन्तराव इन कम लोगों में से नहीं हैं।

दिनकर और सुलोचना के बारे में पाठक अपने मत स्वयं बना सकते हैं।

यह अनुवाद करने में मेरा उद्देश केवल अनुवाद करना ही न था। मेरी धारणा है कि यदि लेखक की वर्णित सामाजिक स्थिति का मैं दिग्दर्शन मात्र करा सका तो मैं अपने आपको काफ़ी सफल समझूँगा। इसीलिये मैंने 'क्रौंचवध' के मराठी गीतों को ज्यों का त्यों रख दिया है। संभवतः कुछ शब्द भी ऐसे मिलें जिन्हें कई पाठक सुनने के आदी न हो। अंग्रेजी के '*Research*' के अर्थ में प्रायः 'अनुसंधान' का उपयोग होता है। मराठी का 'संशोधन' मुझे इसलिये अच्छा लगा कि '*Research*' में संशोधन हमेशा होता है, अनुसंधान कभी कभी। मराठी में 'स्त्री' 'पुरुष' दोनों के लिये 'साहेब' का ही उपयोग होता हैं। मैंने उपन्यास में 'साहब' ही पर्याप्त समझा। हो सकता है कई सज्जन स्त्रीलिंग में 'साहबा' या 'साहिबा' अधिक पसंद करें।

मुद्रण-दोष अनेकों रह गये हैं। सहृदय–वाचकों से क्षमा की याचना करता हूँ।

उपन्यास की कथावस्तु की अच्छाई श्री. खांडेकरजी की है। किन्तु अनुवाद के गुणदोषों का उत्तरदायित्व सर्वथैव मेरा ही है।

पुणे
४-४-१९४४

वामन विश्वासराव भावे

निवेदन

बचपन में चौथी अंग्रेजी में पढ़ी हुई आंग्लकवि टामस हुड़ की एक कविता आजकल मुझे बहुत याद आती है। उस कविता का नाम है—'*I remember, I remember!*' कविता में निराशा का स्वर दिखाई पड़ता है। कवि यह कहना चाहता है कि बचपन में, अज्ञानवश क्यों न हो, सुख का चिरंतन आभास निर्माण होता रहता है। व्याकुल कविमन के एक विशेष क्षण का यह विचार मुझे तनिक भी मान्य नहीं है। फिर भी कविता की अंतिम कल्पना कुतूहल-पूर्ण है। कवि कहता है—बचपन में पेड़ से टँगे हुए हिंडोले पर बैठ ऊँचे ऊँचे झूलते समय मेरा मन यह सोच हर्ष से फूल जाता था कि मैं प्रत्यक्ष स्वर्ग की सैर कर रहा हूँ। किन्तु आज? आज झूला कितना ही ऊँचा क्यों न जाये मेरा मन सर्वदा उदास रहता है। आज मैं यह सच बात जानता हूँ कि फिर भी हिंडोला स्वर्ग से सहस्रों मील दूर है।

मेरे बचपन में मैं ऐसा ही झूला करता था। मेरे वृक्ष का नाम? बीसवीं शताब्दि। उस वृक्ष से एक सुंदर हिंडोला टँगा हुआ था। उसका नाम सुधार। इस हिंडोले पर बैठ कल्पना का झूला झूलते समय मुझ जैसे बालक और युवक सोचते थे—अब संसार सुखी होने में कोई देर नहीं है। कल वायुयान एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक हमें चौबीस घंटे में पहुँचा देगा। परसों बड़े बड़े लोगों के शब्द

ध्वनिमुद्रित कर हम उसकी प्रतिध्वनि दुनिया के कोने कोने में गुँजा सकेंगे। तरसों रजतपट के चलच्चित्रों का उपयोग कर, धन और आरोग्य के द्वार खोलनेवाले नये नये आविष्कार हम गाँवखेड़ों के दीन दुखियों तक पहुँचा सकेंगे। ऐसे असंख्य सुखस्वप्न वह पीढ़ी प्रतिदिन देखा करती थी।

पर बाद में अनुभव यह हुआ कि वे सुखस्वप्न शेखचिल्ली के दिवास्वप्न थे। आज प्रौढ़ बनी हुई वह पीढ़ी जब आँख खोल चारों तरफ देखने लगती है तो हक्काबक्का रह जाती है। आज सारा संसार दुःख की अग्नि में भुन रहा है। हर देश के प्रमुख शहर इसी चिन्ता में चूर हैं कि न जाने कब बम का हमला हो जावे। आज ध्वनिलेखन से अधिक महत्त्व का आविष्कार है नभोवाणी। किंतु उसके द्वारा जो खबरें लोग सुनते हैं वे यही बताती हैं कि किसीका भी जीवन सुरक्षित नहीं है। जिस प्रकार निद्रानाश की बीमारी हो जानेवाला मनुष्य नींद की दवाई लेता है उसी प्रकार सारे संसार की जनता रजतपट पर नाच देख, गाने सुन, इस कृत्रिम मनोरंजन की मस्ती में अपने दुःख भूलने का प्रयत्न कर रही है।

इसका क्या कारण है? सारे संसार पर सुख तथा शांति की वर्षा करने के लिये निकली हुई बीसवीं शताब्दि क्या चहुँ ओर धधकते हुए अंगार ही फेंक रही है? आज मनुष्य पक्षियों की भांति आकाश में उड़ने लगा है, मछली की तरह समुद्र में संचार करने लगा है। तपेदिक समान असाध्य रोग दूषित फेंफड़े को आराम देकर अच्छा करने में मनुष्य को अभूतपूर्व यश प्राप्त होने लगा है। मानव ने प्रकृति पर प्राप्त की हुई विजयों की सूची बनाई जाय तो न जाने कितनी बड़ी होगी। इस हर विजय पर मनुष्य बधाई का पात्र है। पर यद्यपि अपनी बुद्धि से मानव ने इतना सुयश प्राप्त किया है फिर भी मानवजाति आज भी दुःख में ही सड़ रही है। एक साधारण मनुष्य आज भी सुख चैन से मीलों दूर है। यही नहीं बल्कि आज कल यह भी आशंका उत्पन्न हो गई है कि आज की दौड़धूप और संघर्ष के यांत्रिक जीवनक्रम से, कहीं पहले का शांत और सीधासादा जीवन अधिक सुखी तो न था।

मेरे समान एक सर्वसाधारण मनुष्य हमेशा सोचता है—सुधार सुधार कहकर जिन चीजों को हमने गले लगाया उनका सुखचैन से क्या नाता है? सोना समझ हम मुलम्मा चढ़ा हुआ पीतल तो मोल नहीं ले रहे हैं? गट्टेपरचे का मुनुवा

किसी सच्चे बालक से अधिक सुडौल और सुंदर होता है। वह कितना भी दिखाऊ क्यों न हो, क्या कोई माँ उसे गोद ले अपनी वत्सलता की प्यास बुझा सकती है? सुधार, उन्नति, कह हम जिसके गीत गा रहे हैं, क्या वह भी एक ऐसी ही, केवल शोभा बढ़ाने वाली वस्तु है? क्या इन सुधारों में वह शक्ति है कि वे मानवी हृदयसे, स्त्रीपुरुषों की भावनाओं से तथा जीवन के अंतरंग से समरस हो जीवन को सुंदरतम बना सकें? यदि ऐसा होता तो आज दुनिया में निरपराध खून की नदियाँ न बहती होतीं, बालबच्चों से चहकते हुए शहरों पर राक्षसी बम की वर्षा न होती और संसार को आज जो रौरव नरक का रूप मिला है वह न मिलता।

बालक के अर्थ में सुधार का मतलब केवल यही होता है कि पुरानी बातें फेंक दी जावें और नई बातों का प्रारंभ हो। इसीलिये कोई साथी यदि नारद से भी अधिक अट्टाहास कर चोटी रखाता तो देखते ही देखते उसकी चोटी काट डालने में मुझे बड़ा मज़ा आता। शायद इसलिये कि मैंने स्वर्गीय श्री. देवलजी का 'शारदा' नाटक पढ़ा था, अथवा इसलिये कि मैं सोचा करता था कि विवाह एक खेल है जो अन्य खेलों के सदृश एक सी उम्र के लोग ही खेलें तो ठीक है, यदि कोई बूढ़ा चौदह, पंद्रह साल की किशोरी से विवाह करता तो मैं उसे सामाजिक संकट समझता था। बालिश उत्साह को हमेशा पुरानी चीज़ों से दो दो हाथ करने में आनंद मिलता है। इसीलिये असाढ़ या कातिक की ग्यारस के महाव्रत के दिन खास हंटले-पामर के बिसकुट खानेवाले एक लड़के के धैर्य के बारे में मुझे बड़ा आदर हो गया था। हमारे गाँव से एक लड़का उच्च शिक्षा के लिये पुणें गया हुआ था। जब उसने बताया कि वहाँ के एक विद्वान् प्रोफेसर ईश्वर को मिस्टर ईश्वर कहा करते हैं तो मैं आनंद से उछल पड़ा। कई बार मैंने भी गणेशजी के देवालय के सामने से जाते समय मन ही मन 'गुड मार्निंग मिस्टर गणपति' कहा होगा। किन्तु जोर से 'गुड मार्निंग' कहने का साहस मुझमें कभी न आया। सोचा करता—न जाने कहीं सचमुच ईश्वर हो तो लेने के देने पड़ जायेंगे। गणेशजी ठहरे सरस्वति के पति और सरस्वति तो विद्या की देवी। यदि कहीं पति की तरफदारी कर उसने किसी परीक्षा में फेल कर दिया तो क्या करता? बेहतर यही था कि गणेशजी को सुनाई न पड़े इसी आवाज में 'गुड मार्निंग' कहता।

बचपन के ये या ऐसे ही दूसरे स्मरण हो आज मुझे हँसी आती है। पर जब

हँसी कम होती है तो सोचता हूँ--इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि किशोरावस्था में हमारी सुधारोंकी कल्पना इतनी बालिश थी। लेकिन उसके बाद उन कल्पनाओं में ऐसा कौनसा फ़रक आ सका है?

बचपन में वनदेवियों की कहानियाँ दत्तचित्त हो सुननेवाला बालक युवावस्था में पदार्पण करते ही बड़ी बड़ी सुनहरी आँखे और सुनहरे केशकलाप वाली कालिज कुमारी का वर्णन पढ़ने में मग्न हो जाता है। किन्तु यह मन के विकास का चिन्ह मात्र नहीं है। इस पर से अवस्था का अंतर ही स्पष्ट है। सुधारों के बारे में मनुष्य के विचारों में केवल ऐसा ही फ़र्क होता जाता है। उसकी आत्मा वही रहती है, केवल बाह्यस्वरूप बदलता है। यद्यपि मनुष्य बुद्धि से यह मानता है कि अस्पृश्यता अनिष्ट है फिर भी भूलेभटके किसी सहभोजन में शामिल होने के अलावा वह और कुछ नहीं करता। गाँवखेड़ों का अज्ञान और दरिद्रता देख उसे अवश्य दुःख होता है। किन्तु उसके कारण वह बेचैन नहीं होता, उसकी नींद नहीं उड़ जाती, वह यह नहीं निश्चय करता कि हर मनुष्य को मनुष्य नाते जीवित रहने का हक़ प्राप्त कराने का वह प्रयत्न करेगा। मीठे गले से करुणगीत सुनें और दूसरे ही क्षण उस क्षणिक भाव को भूल जावें यही हाल जगत्के अन्यायों को देख आजकल बुद्धिवादी कहानेवाले मनुष्योंका होता है। हम यह जानते है कि अन्याय क्या है। हमारी यह भी सदिच्छा रहती है कि वह नष्ट हो। कभी कभी हमारे मन का क्रोध या करुणा हम व्याख्यानों या लेखों में व्यक्त भी कर देते हैं। किन्तु साधारणतः हम इससे आगे नहीं जाते। यह सच नहीं है कि हमारी निष्क्रियता का सच्चा कारण पेटपूजा की चिंता ही होती है। किन्तु हमारी चिढ़ या हमारी सहानुभूति केवळ शाब्दिक ही होती है।

आजतक के मानवी सुधार का इतिहास मानवी बुद्धि के विभिन्न विषयों का इतिहास ही है। प्राचीन समय में बन में विचरने वाले, गुफाओं में बसने वाले मनुष्य के वंशजने ही ताजमहल बनवाया। चकमक के घर्षण से अग्नि उत्पन्न करनेवाले मनुष्य के आधुनिक वंशज ने ही बटन दबाते ही सूरज को लजानेवाला प्रकाश हमें प्रदान करने की खोज लगाई। आज का हर उन्नत शास्त्र मानवी बुद्धि का गगनचुम्बी विजयस्तंभ ही है। हर यंत्र मनुष्य ने प्रकृति पर प्राप्त की हुई विजय की पताका है।

किन्तु क्या हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि विज्ञान की इस उन्नति के कारण,

विपुल और विविध यंत्रों के कारण आज की मानवजाति अधिक सुखी है ? नहीं ! एक अंधा भी यह नहीं कह सकता । यद्यपि वह वायुयान देख नहीं सकता फिरभी उसकी घरघराहट सुन सकता है । बम के फटने से उसके भी कानों के परदे फट जाते हैं। अश्रुवायु से उसका भी दम घुटता है । उसे भी दो चार पैसे के मिट्टी के तेल के लिये बारी में घंटों खड़ा रहना पड़ता है । और यद्यपि मानवी सुधार उच्चतम शिखा तक पहुँच गये हों फिर भी उनमें कुछ कमी है यह अंधे को भी प्रतीत होता है ।

वह दोष, वह कमी, यही है कि बुद्धि, बुद्धि, जपनेवाला मनुष्य भावना को भूलता जा रहा है । हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि केवल धूपसे वृक्ष पनपता नहीं, सूख जाता है । किन्तु सुधार, सुधार, रटनेवाले मनुष्य को अब भी यह गर्व है कि केवल बुद्धि से ही मनुष्य जी सकता है । बीसवीं शताब्दि का मनुष्य एक ही महामंत्र जानता है—बुद्धि-बुद्धि–बुद्धि । किन्तु वह भूलता है कि भावना की सहायता के बिना बुद्धि जीवन को सुखमय बनाने में असमर्थ है ।

माँ के बेसुर बेराग बेताल गीत से भी बच्चा नींद का अनुभव करने लगता है। किन्तु वह शक्ति रेड़ियो के सुरीले और उत्कृष्ट संगीत में भी नहीं होती। भावना की सुप्तशक्ति भी ऐसी ही होती है । वह जितनी सूक्ष्म उतनी ही सर्वस्पर्शी होती है । बुद्धि, प्रातःकाल गाते गाते आकाश में ऊँचे उड़नेवाले चंडोल सदृश होती है । भावना का हाल आम के पेड़ों में छुप ' कुहू–कुहू ' करने वाली कोयल का सा होता है । जीवन के विकास के लिये दोनों शक्तियाँ वांछनीय हैं। भावना के बिना बुद्धि बे–मूठ की तलवार के बराबर है । यदि कोई वैसी ही उठाये तो हाथ कटे बगैर न रहेगा । बुद्धि के सिवाय भावना, तलवार के बिना मूठ के समान है । जिस प्रकार मोर्चा खाई हुई तलवार योद्धा के काम नहीं आती उसी तरह टूटी हुई मूठ भी उसके काम नहीं आ सकती ।

किन्तु बुद्धि की सहायता से प्रकृति पर प्राप्त की हुई विजय से अन्धा बन मानव भावना को तुच्छता से देखने लगा । इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस मदान्धता में वह सोचने लगा हो—स्त्री, वाणी और भावना तीनों ही अबला हैं। उनके हाथों पराक्रम का कोई कार्य नहीं हो सकता । स्त्री का अवतार केवल इसीलिये है कि अपनी शृंगारचेष्टाओं से एकान्त में मन रिझाये । वाणी का कार्य यही है कि मधुर शब्दों और सुन्दर कल्पनाओं से अकर्मण्य लोगों का मनोरंजन

करे। भावना का महत्त्व यही है कि उसकी, वाणी तथा स्त्री इन दोनों से मित्रता है। स्त्री केवल शृंगार की गुड़िया न होकर पराक्रम की स्फूर्ति देनेवाली और पवित्रता की मूर्ति है यह आज भी हम केवल किताबों में ही पढ़ते हैं। प्रतिभाशाली साहित्यिकों का साहित्य, संसार का केवल एक क्षण मनोरंजन करने के लिये नहीं होता। अपने अमिट रंगों से वह मानवता के भविष्य का चित्र भी खींच सकता है। ये सिद्धान्त आज भी लड़ाई–झगड़ों बगैर मान्य नहीं होते। ऐसी परिस्थिति में इत्र के सुगन्ध के समान जिसका हम केवल अनुभव कर सकते हैं उस भावना की महत्ता कौन मान्य करेगा?

बुद्धि की उन्नति के इस युग में, भावना का मतलब केवल अंधश्रद्धा, निरर्थक भक्ति, पौराणिक कथाओं में विश्वास तथा उनकी रट, तथा सनातनी पुरानी चीज़ों को न छोड़ने की दुर्बल वृत्ति, यही समझा जाता है। बुद्धि छानबीन करती है। भावना कार्य करती है। यह ठीक ही है कि कार्य–अकार्य का निर्णय करने का अधिकार भावना की अपेक्षा बुद्धि का ही हो। जब ऐसा नहीं होता तब समाज में धार्मिक ढकोसलों की पूजा होती है, सत्ताधारी लोगों के अनुकूल एक शक्तिशाली समाजयंत्र तैयार होता है, और गुलामी की शृंखला सोने का तोड़ा प्रतीत होने लगती है ऐसी शिक्षा गुलामों को दी जाती है। किसी भी काल के धर्मगुरुओं के राज्य से साम्राज्यवाद तक किसी भी शोषण-प्रकार को हम देखें, यही दिखाई देगा कि सत्ताधारी वर्ग प्रायः जनसाधारण की भावनाशीलता का दुरुपयोग ही करता है।

उन लोगों के स्वास्थ्य का क्या हाल होगा जो पानी अशुद्ध होने के कारण प्यास को मारते हों? केवल इसीलिये कि भावना अंधी होती है, यह मानना कि उसका जीवन में स्थान नहीं है, अनिष्ट है। अशुद्ध पानी उबाल कर पीने योग्य बनाया जा सकता है। बुद्धि की सहायता से क्या हम भावना को परिष्कृत कर मानवी प्रगति के कार्य में उसे सहायक नहीं बना सकते? विद्युत् समान, भाप के समान, भावना में भी प्रचंड शक्ति है। किन्तु इस शक्ति को कार्यरत करने का काम बुद्धि को करना चाहिये।

ये बहनें आज के समाज में सौतें बन बैठी हैं। यद्यपि भावनाशीलता गाली नहीं बनी है फिर भी यह कल्पना अधिकाधिक रूढ़ हो रही है कि भावनाशील मनुष्य का, व्यवहार, विचार और प्रगतिशीलता से निकट का नाता नहीं होता। जीवन का मूल्य कूतते समय हम राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि तमाम शास्त्रों

की छान बीन करते हैं किन्तु मनुष्य के हृदय का विचार करना हम अगण्य समझते हैं। न्याय की अपेक्षा कायदा हमें अधिक प्रिय है। हमारे जीवन पर नीति की अपेक्षा भय का ही प्रभाव अधिक है। जीवन का हिसाब रुपया–आना–पाई को छोड़ और किसी कोष्टक से हो सकता है—नहीं, होना ही चाहिये—यह कल्पना ई. स. १९४२ में हमें अप्रगतिशील मालूम होती है। जिस प्रकार जमीन के अंदर की आर्द्रता कम होते ही ऊपर की हरियाली सूख जाती है उसी प्रकार की स्थिति भावना के दुर्भिक्ष के कारण हमारे सार्वजनिक जीवन की हुई है। हम वाग्शूर हैं कृतिशूर नहीं। किसी भी कार्य की अखंड साधना के लिये श्रद्धा एवं त्याग का आधार आवश्यक होता है। वही, भावना के अभाव से आज दुष्प्राप्य है। " इसका क्या उपयोग है ? " " इससे क्या प्राप्त होगा ? " " इस प्रश्न पर मार्क्स ने क्या मत दिया होता ? " "फ्रायड़ क्या कहता ? " इन विद्वत्तापूर्ण प्रश्नों की कभी समाप्त न होनेवाली शुष्क चर्चा में ही हमारा शक्तिसर्वस्व खर्च होता रहता है। उठते बैठते वेदान्त और दर्शनोंका नाम लेनेवाले बूढ़ोंका मजाक उड़ानेवाले युवक भी अनजाने उन्हीं के रास्ते कालक्रमण करने का मोह नहीं रोक सकते। हाँ, यह अवश्य है कि युवकों के माथापच्ची के विषय दूसरे हैं। किन्तु बकवास और कार्य इनमें दो ध्रुवों की दूरी है यह अभी तक हमारे बुद्धिमानों को पता ही नहीं है।

भावना की सहायता बिना हमारी बुद्धि केवल वाग्शूर ही रह जाती है। सिगरेट पीनेवाला प्रतिक्षण उसके होठों से बाहर पड़ने वाले धूम्रवलयों कीं क्षणजीवी सुंदर सुंदर आकृतियां देखने में ही मस्त रहता है। उसी प्रकार बुद्धिवादी कहाने वाला मनुष्य भी अपने ही विचारविलास में—प्रायः वह शब्द-विलास ही होता है, आचारविलास हो भी तो बहुधा वह मँगनी का होता है—मस्त हो यह भूलसा जाता है कि कृति जीवन की आत्मा है। जब तक कौंसिलों में दो चार सीटें अधिक माँगने तक ही राजकीय आंदोलन सीमित रहता है, किसी विधवाविवाह के समय उपस्थित रहने पर अखबार में नाम छपने के बाद अपना समाजसुधार का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है, यह जब तक उस क्षेत्र में काम करने वालों की हालत है, साक्षरता का प्रचार इत्यादि कार्यक्रमों से समूचे राष्ट्र के समूचे प्रश्न हल हो सकते हैं, यह जब तक हमारे नेताओं का प्रामाणिक विश्वास है, और ' तुम्हारे पैरों की बेड़ियाँ काटना ही हमारा कार्य है ' यह पूँजीपतियों की घोषणा जब तक

मज़दूरों को सत्य प्रतीत होती है, तभी तक आराम कुरसी पर पड़े पड़े बुद्धिपूर्वक किया हुआ यह विचारविलास शोभा देता है, लोगों को पसंद भी होता है। किन्तु यह अज्ञान का स्वप्न अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। तलवार की केवल खड़खड़ाहट से ही यह स्वप्न टूट जाता है। किन्तु स्वभावतः, मनुष्य आराम कुरसी से डर समरभूमि में खुशी खुशी नहीं कूदना चाहता। जो बुद्धिमान् मनुष्य केवल बँगले के चहुँओर की दो चार सौ वर्गफुट जमीन में घूमने का ही आदी होता है वह उनसे डरता है जिन्होंने जंगल जंगल छान डाला है। फिर वह चिल्लाने लगता है, "अजी, इनकी बात न सुनिये। इन नेताओं के पीछे जाने में कोई फायदा नहीं। यह अग्रगामी नहीं है, प्रतिगामी है। यह जंगली युग की ओर हमें ले चलेगा। यह जादूगर है। आँखों में धूल फेंक तुम्हें धोखा दे रहा है। यह एक नई ठगप्रथा है। भावना के पीछे भागना बेकार है!" इत्यादि।

विराट के अंतःपुर में शूरता की लंबी चौड़ी गप्पें हाँकनेवाला उत्तर जिस तरह प्रत्यक्ष युद्ध का समय आते ही भीरुता से आगा-पीछा सोचने लगता है वही स्थिति बुद्धिवादी कहानेवाले मनुष्यकी होकर वह आँय बाँय बकने लगता है। दुर्दैव से इस बकत्रास का प्रथम बलि वह मध्यमवर्ग ही हुआ करता है जो, शारीरिक कष्टों से दूर भागने में ही बडप्पन मान और दूसरे काम करने वालों से अलग रहा है, पीढ़ी हर पीढ़ी पुस्तकी पांडित्य से पली हुई बुद्धि से ही विचार करने का आदी होने के कारण ज़िसे जीवन की वास्तव अनुभूति नहीं हुई है, और जो धनिक वर्गों के भोगविलास अतृप्त दृष्टि से देखने में तथा कभी हमें भी यह विलास प्राप्त होगा यह झूठा स्वप्न देखने में मस्त रहता है।

और फिर? जिसमें नया संसार बसाने की सुप्त शक्ति है वह बुद्धिशाली वर्ग अपने जीवन के लिये सुविधाजनक ध्येय निर्माण करता है और उसके समर्थन में अपनी सारी शक्ति खर्च करता है। दूसरों की आँखों में धूल झोंकने के लिये यह वर्ग अपने इस तत्त्वज्ञान की किताब पर बुद्धिवाद की चिट्ठी बड़े गर्व से चिपका देता है। किन्तु उसका बुद्धिवाद सुखवाद का ही दूसरा नाम है। कभी कभी तो यह सुखवाद केवल भोगवाद ही होता है।

मद्यपान का ही छोटा सा उदाहरण हम ले सकते हैं। केवल पुरानी नीति-कल्पनाओं से ही नहीं तो आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, स्वास्थ्यशास्त्र इत्यादि शास्त्रों की दृष्टि से भी हमारे देश में शराब पीना एक त्याज्य बात ही

माननी पड़ेगी। किन्तु महाराष्ट्र के मध्यमवर्ग में इस विषवृक्षकी जड़ें अधिकाधिक फैल रही हैं। क्या इसका कारण इस वर्ग का अश्रद्ध और भावनाहीन जीवनक्रम ही नहीं है? अठारह बीस साल के कालिजकुमार बीर पीने में किंचित् भी न झिझकें। दो बुद्धिमान् कलाकारों की पहचान नहीं है यह समझ कोई उनका परिचय करना चाहे उस समय उनमें से एक मज़ाक में कहे, "हमारे परिचय की क्या आवश्यकता है? हमने एक ही बैठक में मदिरापान किया है।" एक सुशिक्षित स्त्री इस तरह का उपदेश करने का साहस करे, "मैं कभी कभी मदिरापान करती हूँ। किन्तु मदिरा का कोई भला बुरा प्रभाव मुझपर नहीं पड़ा है। मेरी पहचान के करीब सौ दो सौ कुटुम्बों में भी थोड़े प्रमाण में मद्यपान होता है। किन्तु मदिरा क्या चीज़ है यह न जाननेवाले लेखक शराब के जिन अनर्थों का चित्र खींचते हैं उनमें से एक भी उन कुटुम्बों में नहीं दिखाई देता। इसलिये यही अच्छा है कि लेखक शराबखोरी के कपोलकल्पित दुष्परिणामों की रट न लगाते बैठें।" एक प्रसिद्ध बुद्धिवादी व्यक्ति मितपान हानिकारक नहीं है यह कह उसका अस्पष्ट क्यों न हो, समर्थन करे। यह कहना कठिन है कि इससे अधिक दुःखदायी और क्या बात हो सकती है?

ऐसे समय यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि बुद्धिवाद को भावना की सहायता की क्या आवश्यकता है। हो सकता है कि मितपान हानिकारक न हो। किन्तु ये बुद्धिवादी लोग ठीक यही भूल जाते हैं कि शराब पीते समय प्रमाण की सीमा रखना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है यह अनुभवने सिद्ध कर दिया है। गाँवखेड़ों में शाम को ताड़ी की दूकानपर इकट्ठे होनेवाले श्रमजीवी लीजिये अथवा फेशनेबल क्लबोंमें संध्यासमय एकत्रित होनेवाले बुद्धिवादी लीजिये। सभीने सर्व प्रथम शराब का एक ही प्याला पीया होता है। किन्तु दो चार साल ही में वे परले सिरे के पियक्कड़ बन जाते हैं। बेचारों के स्त्रीबच्चों को छोड़ और कोई उनके व्यसनों का परिणाम नहीं जान सकता यह बात दूसरी है। किन्तु शराब के पीछे जिनके ध्येय नष्टभ्रष्ट हो गये, जिनके कुटुम्बोंने कलाल की दूकानका रूप धारण कर लिया, जिनकी बुद्धि में नीति–अनीति का भेद नष्ट सा हो गया है, ऐसे उदाहरण हर घड़ी आँख के सामने रहते हुए भी, मितपान हानिकारक नहीं है यह बुद्धिवचन समाजके मुँहपर फेंकना निरर्थक ही है। किताबी अर्धसत्यों से समाज की उन्नति कभी नहीं हो सकती। अपनेको पूर्णतया भूल समाजसे समरस

होनेवाले और उसी के हित के लिये दिनरात तड़पनेवाले अंतःकरण से जो उद्‌गार निकलते हैं वही समाज को सुख का मार्ग दिखा सकते हैं।

आज संसार में नात्सीवादसदृश पाशवी शक्तियों का तांड़वनृत्य हो रहा है। अनेक देशों के बड़े बड़े प्रदेशोंने स्मशानभूमि का रूप धारण कर लिया है। जिस धन से देश अपने असंख्य बालकों को आवश्यक दूध पिला सकता वही धन आज सहस्रों बम तैयार करने में खर्च हो रहा है। क्या यह स्थिति बुद्धिवाद के अभावने ही निर्माण की है? हाथी के पैर के नीचे दबमरनेवाली चीटियों से भी अधिक बेपर्वाही से लाखों मनुष्यों का संहार करनेवाले इस महायुद्ध को रोकने की योजना के प्रयत्न में हमारे बुद्धिवादी कहानेवाले लोग अयशस्वी क्यों हुए? इसका एक ही कारण है। गत दो शताब्दियों में मानवी बुद्धि ने प्रकृतिपर जो विजय प्राप्त की है उसका उपयोग समूची मानवजाति के लिये नहीं किया गया। केवल एक खास वर्ग की प्रभुता, और केवल विशिष्ट देशों का बड़प्पन और वैभव बढ़ाने के लिये ही उस बुद्धि का उपयोग किया गया। वह प्रभुता और वैभव चिरकालीन है यह समझ कर ही जीवनक्रम की योजना की गई। इस कल्पना की पट्टी आँख पर होने के कारण संसार में यह भ्रम फैल गया कि व्यक्तिवाद और राष्ट्रवाद ही मानवी ध्येयवाद के गगनचुंबी स्तंभ हैं। व्यक्तिवाद की अतिशयोक्ति अपने आप ही भोगवाद तक जा पहुँचती है। और बुद्धिवाद के नशे में यह देखने को कोई तैयार ही नहीं होता कि राष्ट्रवाद का रूपांतर देखते ही देखते साम्राज्यवाद में होता है जिसके फलस्वरूप महायुद्ध होते हैं। वैभवशिखर पर चढ़े हुए ये राष्ट्र तो यह भी कह बैठते कि सब वादों से श्रेष्ठ मानवतावाद केवल मूर्खों का ही तत्त्वज्ञान है। किन्तु हमारे सुदैव से सन १९१७ में रशिया में साम्यवादी शासन का उदय हुआ और हिन्दुस्थान में गांधीवाद का प्रारंभ। यद्यपि गांधीवाद और साम्यवाद में बहुत भेद है फिर भी व्यक्तिवाद तथा राष्ट्रवाद इन दोनों से वे मूलतः भिन्न हैं। दोनों का दृष्टिकोण विशाल और स्वार्थरहित है। संसार का साधारण से साधारण मनुष्य किस प्रकार सुखी होगा इसकी चिंता केवल गांधीवाद तथा साम्यवाद को ही है। दोनों ही मनुष्य का मनुष्य की हैसियत से जीवित रहने का अधिकार मान्य करते हैं। इन दो विचारप्रणालियों में ही यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य होने के नाते हर व्यक्ति के कुछ कर्तव्य होते हैं। बुद्धि तथा भावना

दोनों का योग्य स्थान मान्य कर ये दोनों विचारप्रवाह गत पच्चीस साल से एक नई समाज व्यवस्था रचाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

पच्चीस साल का उनका यश कितना है ?

यह ध्यान रखना चाहिये कि जर्मनीसदृश बलाढ्य राष्ट्र से भी रशिया जो टक्कर पिछले कुछ दिनों से ले रहा है वह केवल मनुष्यबल पर या यंत्रसामग्रीपर ही नहीं। किन्तु रशिया ने त्याग, एकता और देशभक्ति के द्वारा अपना अपरिमित आत्मिकबल भी प्रगट किया है। उसका स्मरण संपूर्ण स्वतंत्रताप्रेमी अनेकों राष्ट्रों को स्फूर्ति का संदेश दिये बगैर न रहेगा। शत्रु को मदत न पहुँचे इसलिये कष्ट से बोये हुए खेत की फसल में आग लगानेवाला रशियन किसान, दुश्मन की गतिविधि का पता अपने लोगों को ठीक समय पहुँचाने के लिये प्राणों की पर्वाह न करनेवाली रशियन धोबिन, छः लड़के युद्धपर जा चुकने पर भी सातवें पुत्र को सहर्ष युद्धपर भेजनेवाली रशियन माँ—ये हैं भविष्य के महाकाव्यों के नायक और नायिकाएं ? आज रशिया को जर्मनी के सामने पीछे हटना पड़ रहा है ! शायद इतिहास इन घटनाओं को पराभव के नाम से पुकारे। किन्तु भविष्य की मानवता, आजके रशिया का कृतज्ञतापूर्वक स्मरणकर यही कहेगी कि कई पराभव विजय से भी अधिक पराक्रमी होते हैं।

रशिया ने यह विलक्षण सामर्थ्य कहाँ प्राप्त की ? केवल बुद्धि की शक्ति पर ही रशिया की क्रांति यशस्वी नहीं हुई है। बुद्धि के साथ साम्यवाद में उत्कट निष्ठा तथा अनन्य श्रद्धा ने भी इस यश में हाथ बटाया है। बुद्धि विचार करती है, भावना प्रेरणा देती है। यदि इन दोनों शक्तियों का रशिया में मेल न होता तो पिछले पच्चीस वर्षों की उन्नति शायद सौ बरसों में भी न होती।

हमारे देश में बुद्धिवादी कहानेवाला वर्ग—विशेषतः महाराष्ट्र का सफ़ेदपोश मध्यमवर्ग—इन्हीं पच्चीस वर्षों में भावनाशील गांधीवाद से यथासंभव अलिप्त[1] रहता आया है। यह सच है कि गांधीवाद की स्थापना बुद्धि की अपेक्षा भावना पर अधिक है। किन्तु केवल इसीलिये, मानवधर्म की एक महत्त्वपूर्ण आधुनिक तत्त्वप्रणाली की दृष्टी से उसकी कीमत तिलभर भी कम नहीं होती। गांधीवाद की भावनाशीलता कोई ऐसी बात नहीं है जो भूतप्रेत में विश्वास अथवा हस्तसामुद्रिक में श्रद्धा के समान अगम्य हो। कौन कह सकता है कि दरिद्रनारायण का जो दुःख लेनिन समझ सका वह गांधीजी नहीं समझ सकते ? किन्तु लेनिन की

क्रांति समाजरचना की क्रांति थी; गांधीजी मानवी मन की ही क्रांति करना चाहते हैं। यदि हम समाज हमेशा के लिये बदलना चाहते हैं तो हमें मनुष्य पहले बदलना चाहिये। यदि हम अधिक सुखी संसार निर्माण करना चाहते हैं तो एक अधिक त्यागी नये मनुष्य की आवश्यकता है। यह है गांधीजी की विचारधारा। गांधीजी की आजतक यही श्रद्धा है कि जीवन के विकास के लिये आर्थिक मूल्यों के समान ही नैतिकमूल्यों की भी आवश्यकता है।

कौन कह सकता है कि गांधीजी की श्रद्धा निराधार है? देशबन्धु चित्तरंजन दास ने दीवालिया करार दिये गये अपने पिता का हजारों रुपयों का कर्जा चुकाया। क्या वह कानून से डरकर चुकाया? कानून ने उन्हें ऋणमुक्त कर दिया था। किन्तु न्यायदेवी से उनके मन की देवी अधिक जीती जागती थी। वह यह न मान सकी कि केवल दीवालिया होने से ही कर्जा अदा हो गया।

पुणें शहर में लकड़ी-पुल पारकर कर्वे-रोड़ से सबेरे सात बजे के समय जाइये। सामने ने से पैदल आते हुए एक धीर गंभीर वृद्ध पुरुष आप देखेंगे। केवल डाढ़ी के सफेद बालों से ही आप उसे वृद्ध कह सकते हैं। अन्यथा युवकों से भी अधिक उत्साह से एक थैलिया हाथ में लटकाये यह महान पुरुष प्रतिदिन शहर में जाता है। अत्यंत निस्वार्थ बुद्धि से पुणें के इर्दगिर्द के गाँवों में साक्षरता फैलाने के लिये सहायता की याचना करता फिरता है। इस व्यक्ति का नाम है गुरुवर महर्षि अण्णासाहब कर्वे। जिस उत्साह और कर्तव्यबुद्धि से हिंगणें के जंगल में पचास वर्ष पूर्व ईनमीन तीन कन्याओं को पढ़ाने के लिये अण्णासाहब पुणें से हर दिन पैदल जाते थे उसी निष्ठा और तत्परता से वे आज यह कार्य कर रहे हैं। पचास साल तक बराबर समाजसेवा करने के बाद भी, उन्होंने लगाये हुए वृक्ष में मीठे फल लगने पर भी, अण्णासाहब यह मानने को तैयार नहीं हैं कि वे समाज के ऋण से मुक्त हो गये हैं। आज उनकी अवस्था पचासी वर्ष की है। यदि वे सार्वजनिक कार्य से निवृत्त हो विश्रांति लेने का निश्चय करते तो कोई भी उन्हें दोष न दे सकता। किन्तु उनका मन उन्हें बेकार बैठने ही नहीं देता। साहूकारों की पाई पाई चुकानेवाला देशबन्धु का वह मन और समाजसेवा में जीवन का क्षण क्षण और शरीर का हर कण खर्च करनेवाले अण्णासाहब का यह मन—ऐसे असंख्य मन निर्माण होते रहेंगे तभी व्यक्तिजीवन तथा समाजजीवन की दरिद्रता दूर हो सकती है और संसार सुखी हो सकता है यह गांधीजी का प्रामाणिक विश्वास है।

और तात्त्विक दृष्टि से इस विचारप्रणाली में भूल है ही क्या ? अमरिकाने साठ साठ सत्तर सत्तर मंजिलों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ बनवाईं। किन्तु इन्हीं सम्पन्न राष्ट्रों ने मनुष्य की सामाजिक भावना की उँचाई बढ़ाने का कितना प्रयत्न किया ? पाश्चात्य राष्ट्रों में दुधार गायों से कसदार एवँ पर्याप्त दूध मिलने के लिये उन्हें कौनसी घास खिलाई जावे इसकी जितनी चिंता की जाती है क्या उतना प्रयत्न मनुष्य की सात्त्विकप्रवृत्ति बढ़ाने के लिये किया जाता है ? युद्धपूर्व काल में हर साल मोटरों का नया नया माड़ेल निकाले बगैर युरप अमरीका के कारखानदारों को चैन ही न आता था। किन्तु उनका मनुष्य का माड़ेल वही पुरान ही कायम है। इस पुराण-पुरुष के शब्दकोश में 'काला' और 'गोरा' ये शब्द शीघ्र मिल जाते हैं। किन्तु 'न्याय' और 'सत्य' ये शब्द ढूंढ़े भी नहीं मिलते। वेशभूषा से आधुनिक किन्तु विचारों से मध्ययुगीन ऐसे मनुष्य की किताबों में बड़े बड़े यंत्रों के बड़े बड़े चित्र हैं। किन्तु सुंदर फूल, हँसते खेलते बालक, सूर्यास्त, चंद्रोदय, प्रकृति में दौड़ने वाली गिलहरी, कुत्ते, ऐसे छोटे मोटे चित्र उसमें न दिखाई देंगे। यद्यपि मनुष्य का आकाश के ईश्वर में विश्वास नहीं है फिर भी पृथ्वी पर के एकमेव देवता धन को प्रसन्न करने के हेतु वह ठीक जंगली मनुष्य की तरह नरमेध करने में भी नहीं हिचकता। हाँ यह, अवश्य है कि 'सुधरे' हुए जगत् में नरमेध की पद्धति भिन्न है !

इसी हृदयहीन जीवनपद्धति का महात्मा गांधी विरोध करते हैं। न वे बुद्धि की शक्ति अमान्य करते हैं न विज्ञान का अनादर। उनका आग्रह केवल यही है कि बुद्धि की गुलामी के कारण भावनाओं के दिवालियापन का जो करुण दृश्य आज दिखाई दे रहा उसे जो कुछ भी हो बदलना ही चाहिये। उनका आश्रम उनका चरखा, उनकी प्रार्थना, अथवा उनकी ब्रह्मचर्य की कल्पना इन सब की निर्बुद्धता से खिल्ली उड़ाना अत्यंत सुकर है। हमारे आधुनिक सुधार अंधे की तरह धन के पीछे पड़े हैं, मानों और कोई राह न मिल यंत्रों के गुलाम बन बैठे हैं, और शरीरसुख को जीवनसर्वस्व मान उसी के लिये लोहू का पानी बना रहे हैं। उनमें मानवजाति को शांति पहुँचाने की शक्ति नहीं है। यह अच्छीतरह जानकर ही गांधीजी ने जीवनविषयक एक नया सिद्धांत ढूंढ़ निकाला इसमें कोई संदेह नहीं।

उनकी आश्रमवास की कल्पना का उदय ? बम्बई समान बकाल शहरोंपर चौबीसों घंटे जो यंत्रों की छाया पड़ी होती है उसे देखकर ही गांधीजी का दम

घुटता होगा। मनुष्योंसे भरी हुई बंबई देखकर फूलों से लदे हुए पारिजातक वृक्ष की याद नहीं आती। बरसात में पतंगों से घिरे हुए एक बड़े से दिये का चित्र सामने खिंच जाता है। ऐसे बड़े शहरों में जहाँ देखो वहाँ गड़बड़, दौड़धूप, शोर-गुल! बारहों महिने, चौबीसों घंटे! मानों मनुष्य भी यंत्र ही हों! ऐसे शहरों में अत्यंत भाग्यशाली और सुखी मनुष्य का जीवन भी जल में स्वच्छंद विचरनेवाली मछलियों के समान नहीं होता। वह होता है शहद में गिरी हुई मक्खी के समान।

गांधीजी के चरखे का उगम भी केवल तात्कालिक आर्थिक एवं राजकीय परिस्थिति में नहीं हुआ। आधुनिक सुधारों का दास बना हुआ सुखवादी मनुष्य पीढ़ी हर पीढ़ी प्रकृति–निर्मित आनंद से दूर दूर जा रहा है। उसके सब काम यंत्रों, अथवा यंत्रोंसमान ही जिन्हें वह कीमत देता है ऐसे मनुष्यों द्वारा होते हैं। इसीलिये हट्टाकट्टा होने पर भी उसका जीवनक्रम एक लकवा मारे हुए मनुष्य के सदृश होता है। कुएँ में से पानी खींचने का आनन्द, नदी अथवा समुद्र में तैरने का आनंद, तुलसी अथवा और दूसरे फलफूलों के वृक्षों में पानी देनेका तथा उन्हें फलते फूलते देखने का आनंद, पत्थर, कांटे तथा कंकड़ों से भरा हुवा पहाड़ छानते हुए मिले उस पगडंडी से दूर दूर भटकने का आनंद, गाय अथवा भैंस का हाल निकाला हुआ दूध पीने का आनंद, चूल्हा फूंक, चावल उबाल, भूख के समय उस मधुर गंध का अनुभव लेनेका आनंद, धीरे धीरे इन सारे सुखमय प्राकृतिक आनंदों को मनुष्य भूला जा रहा है। गांधीजी का विश्वास है इन छोटे मोटे आनंदों का जीवन में महत्त्वका स्थान है। आधुनिक शिक्षाशास्त्र के अनुसार बालक के विकास के लिये यह आवश्यक है कि उसकी निर्माण करने की शक्ति को अवसर मिले। वही सिद्धांत प्रौढ़ मनुष्यों के जीवन को भी लागू किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक यंत्रयुग हमें निर्माण के प्राकृतिक साधनों से दूर ले जा रहा है। परिणाम क्या हो रहा है? केवल समय नहीं कटता इस बहाने निज को भूलने के लिये, सिगरेट से लेकर, रेस और 'बोतल' तक कोई न कोई कृत्रिम आनंद जन्मभर लूटने के लिये मनुष्य अपनी जीवनशक्ति का नाश कर रहा है।

गांधीजी की प्रार्थना की ओर भी इसी दृष्टिकोण से देखना चाहिये। यह हो सकता है कि उनके समान हमारा ईश्वरमें विश्वास न हो। किन्तु आधुनिक मनुष्य को इतनी फुरसत कहाँ कि वह संसार के अनेक आसुरी अन्यायों से लड़ने के लिये तथा उस लड़ाई में यदि वीरगति प्राप्त हो तो मृत्यु से हँसते हँसते

मिलने के लिये, मन का पर्याप्त बल प्राप्त करे ? शांतता से एकान्त में घड़ी आध घड़ी बैठ आत्मपरीक्षा करनेवाले मनुष्य क्या आज लाख में पांच दस भी मिल सकते हैं ? दूकान बंद करने में कितनी ही देर क्यों न हो, ऐसा एक भी बनिया न होगा जो दिनभर का जमाखर्च देखे वगैर घर का रास्ता पकड़े। किन्तु इसी युग में, अपने जीवन के जमाखर्च का हिसाब देखने के लिये मनुष्य को बरसों बरसों में फुरसत ही नहीं मिलती। यह आवश्यक, सख्ती का एकान्त, प्रार्थना के समय ही मिल सकता है। जो मनुष्य यह सोचता है कि उसकी आशा, आकांक्षा, उसके ध्येय और स्वप्न, उसकी भावना, वासना तथा उसके विचार केवल प्रवाह-पतित पत्ते के समान न हों उसे जीवन में कभी न कभी अंतर्मुख हो आत्मपरीक्षा की आवश्यकता प्रतीत होती ही है। मनुष्य के द्रष्टा होने का बीज, उसके एक क्षण निजसे तथा संसार से दूर रहने में ही हुआ करता है।

गांधीजी के ब्रह्मचर्यविषयक अट्टाहास के बारे में दो भिन्न मत हो सकते हैं यह सच है। इसमें संदेह नहीं कि कामवासना के प्रतिबंध के कारण मनुष्य में अनेकों विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु यह कहनेवाले लोग, कि कामवासना की तृप्ति केवल एक स्त्री और एक पुरुष की इच्छा की बात है, और भी नयी और बड़ी विकृतियाँ उत्पन्न कर रहे हैं। यह सवाल हमेशा पूछा जाता है कि यदि पचास साल से अधिक अवस्था के किसी मनचले पर कोई बीसी के अंदर की युवती मोहित हो जाय और अपनी प्रौढ़ पत्नी के मन की पर्वाह न कर, अपने छोटे बड़े लड़के लड़कियों पर क्या प्रभाव पड़ेगा इसका योग्य विचार न कर, यदि वह रंगीला अपने मन के अनुसार सुख प्राप्त करे तो उसमें दुनिया का क्या बिगड़ता है। बेचारी सनातनी विचारधारा ! उसका मत है कि जिस पत्नी के साथ जीवन के दसबीस साल इस मनुष्य ने बिताये, उस के लिये, उसकी भावनाओं के लिये वह थोड़ासा संयम सीखे। इस बेचारी सीधीसादी विचारधारा को यह भी डर रहता है कि बाप के ऐसे उदाहरण से बच्चों को अहितकर स्फूर्ति का संदेश मिलने की संभावना है ! यौवन के उन्माद से बेहोश बनी हुई युवती का भविष्य का जीवन कल्पना से चित्रित करने पर सनातनी जगत् को उसके प्रति सहानुभूति भी होती है। पर सनातनियों की पर्वाह है किसे ? गांधीजी के संयम के सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाने वाले लोग इस भोले समाज की इन सनातनी आशंकाओंसे थोड़े ही डर सकते हैं। डॉक्टर अनविन का कथन है कि समाज के जिस वर्ग में

कामविषयक संयम अधिक होता है वही वर्ग अधिक कर्तृत्वशाली होता है और वही समाज का अगुआ बनता है। (*The Group within the society, which suffers the greatest continence displays the greatest energy and dominates the Society.*) हमारे बुद्धिवादी लोक यदि चाहें तो इस कथन के सदृश अनेकों कथन पाश्चिमात्य शास्त्रज्ञों की किताबों में पढ़ सकते हैं।

गांधीजी के दुर्दैव से गांधीवाद को हमेशा दो रूप धारण करने पड़े हैं। गत बीस बाईस वर्षों से वे चालीस करोड़ भारत के सपूतों के हृदयसम्राट हैं। एक गुलाम राष्ट्र का नेता होने के नाते उन्हें अपने सिद्धांतों को समय बेसमय राजनीति के चौखटे में बिठाना पड़ा है। यद्यपि आज संसार उन्हें राजनैतिक नेता के रूप में देखता हो फिर भी भविष्य उन्हें बीसवीं सदी के मानवी जीवन की गुत्थी का भाष्यकार इस नाते ही सन्मान से देखेगा। इतिहास उनका नाम हिटलर, चर्चिल, स्टालिन, रुज़वेल्ट, टोजो अथवा मुसोलिनी की पंक्ति में कभी न लिखेगा हज़रत ईसा अथवा महात्मा बुद्ध, मार्क्स अथवा फ्रायड़ इनके साथ ही गांधीजी का नाम लिखना पड़ेगा।

अर्थ और काम इन दो सिद्धान्तों पर ही मानवी जीवन की स्थापना होनी चाहिये यह मानने वाले पंडित मार्क्स और फ्रायड़ के साथ गांधीजी का नाम सुनकर कोई 'अब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्' कह कर चिल्ला उठे। शायद किसी विद्वान् को 'श्वानं युवानं मघवानम्' यह सूत्र भी याद आ जाय। उनकी दृष्टि में मार्क्स और फ्रायड़ अग्रगामी हैं और गांधीजी नंबर एक के प्रतिगामी!

गतवर्ष बम्बई के संमेलन में आचार्य जावड़ेकर ने भाषण दिया था। उस भाषण पर टीका करते समय प्रो. फड़के का कहना है,

एक कथन है, 'अर्थस्य पुरुषो दासः।' उसी प्रकार 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' यह भी एक सुभाषित है। इन दोनों को एकत्र करें तो यही कहना पड़ेगा कि समाज के कुछ व्यक्तियों का असंतुष्ट रहना और उनमें पापप्रवृत्तियाँ उत्पन्न होना, इनका कारण उनकी बुभुक्षितता ही है। मैंने यह ऊपर कहा ही है कि अर्थ के पीछे अन्नक्षुधा और काम के पीछे विषयक्षुधा होती है। दोनों भूख के ही प्रकार हैं। इसलिये इन भूखों से कोई भी पीड़ित न हो यह व्यवस्था करना ही क्या समाजनाश की जड़ काटना नहीं है?

—पुरोगामी साहित्य, पृ. ७०.

पाप की जड़ काटने का प्रोफेसर फड़के का यह उद्देश अत्यंत सराहनीय है। किन्तु, उनकी समझ में जिन उपायों का अवलम्ब किया जाना चाहिये, वे उपाय उनके ध्येय की दृष्टिसे कुछ अधूरे जान पड़ते हैं। केवल बंदूकों से यह महायुद्ध जीतने की प्रतिज्ञा करने के समान ही ये उपाय मालूम पड़ते हैं।

प्रो. फड़के ने जिन संस्कृत वचनों को एकत्र किया है उनमें साम्य की अपेक्षा विरोध ही अधिक है। "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।" यह वचन खुल्लमखुल्ला अन्नक्षुधा का ही पक्षपाती है। वह वचन डंके की चोट से यह कहना चाहता है कि मनुष्य के पेट में भूख की आग धधकते ही नीति–अनीति की सब कल्पनायें उसमें जलकर खाक हो जाती हैं। इस वचन का यह कटु सत्य कौन अमान्य कर सकता है? एक भयंकर दुर्भिक्ष में विश्वामित्र समान महर्षि ने भी एक चमार के घर में चोराचोरी प्रवेश किया और वहाँ पड़ी हुई एक कुत्ते की टाँग का स्वाद चखा–यह कथा लिखने में हमारे पुराणकारों का भी और क्या हेतु हो सकता है?

'अर्थस्य पुरुषो दासः।' यह महाभारत में भीष्म के मुँह का वचन है। जिस समय दुःशासन साध्वी द्रौपदी को खींचकर लाता है उस समय वह भीष्म द्रोण से पूछती है, "मेरी यह दुर्दशा आप कैसे देख सकते हैं?" तब भीष्माचार्य गर्दन नीचे कर उत्तर देते हैं, "द्रौपदी, मैं तुम्हारी रक्षा करने में असमर्थ हूँ। मैं कौरवों का गुलाम हूँ। मैंने उनका नमक खाया है इसलिये मैं तुम्हारी तरफ़ से नहीं बोल सकता।"

इस समय भीष्म को दो ही रास्ते खुले थे। द्रौपदी का पक्ष लेकर दुर्योधन का धिक्कार करना अथवा मौन धारण कर अपनी बूढ़ी आँखों अपने सामने एक पतिव्रता की दुर्दशा देखना। पहला मार्ग साहस का था, सत्य का था, नीति का था! दूसरा गुलामी का था, परावलम्बन का था, अनीति का था! भीष्माचार्य समान महापुरुष भी ऐसे समय कठोर कर्तव्य के मार्ग से विचलित हो जाते हैं यह दिखाने में महाभारतकार ने अपनी मार्मिकता चारुतया व्यक्त की है। धनिकों की दुनियामें ग़रीब केवल अन्न के ही मुँहताज नहीं रहते। अनन्तकाल ये वे न्याय से भी वंचित रहते आये हैं। संसार की बुद्धि जबतक सत्ता, संपत्ति तथा अन्याय की गुलामी स्वीकार करने में ही आनंद प्राप्त करती है तब तक यह परिस्थिति बदल नहीं सकती। सत्ताधारियोंने सात पातालों में छिपाकर रखा हुआ सत्य कुछ

अपने आप सूरज के प्रकाश में नहीं आता। नीतिक्षुधा से व्याकुल लाखों मानवों का आर्तस्वर उस सत्य के कानों तक पहुँचना चाहिये।

कामक्षुधा की तृप्ति का प्रश्न तो अन्नक्षुधा से भी विकट है। "इन भूखों से कोई भी पीड़ित न हो यह व्यवस्था करना" याने क्या करना चाहिये। दरिद्रता के कारण आज युवक-युवतियाँ अधिकाधिक देरी से विवाह करने लगे हैं। यह मान लें कि कल वे योग्य उम्र में ही विवाह कर सकेंगे। यह भी कल्पना की जाय कि विधवाविवाह, तलाक की प्रथा इत्यादि सब विवाह विषयक सुधार हो चुके हैं। पर क्या इतने से ही हमारे कामविषयक प्रश्न हल हो सकते हैं? व्यसनी पति, और चंचल पत्नियाँ इन से निर्माण होने वाले प्रेम के त्रिकोण—हमेशा कुहरे से ढके हुए अपने उद्यान में क्या क्या होता है, इसका पता न जाने कामदेव को भी होता है या नहीं!

सच बात यह है कि इन दोनों क्षुधाओं के बारे में गरीब भूखों मरते हैं और धनिकों को अजीर्ण हो रहा है। इस विषमता का दोष केवल पुरानी धर्म-मोक्ष की कल्पना के मत्थे मढ़ अलग रहने से काम न चलेगा। यूरप अमरीका से धर्म का बाजार कभी का हट चुका है। हमारे देश में भी करीब दो पीढ़ियाँ हो चुकी हैं जबसे हमारा सुशिक्षित वर्ग इन कल्पनाओं को फेंक दे रहा है। किन्तु जो मुरग़ा छिपाने के कारण सूर्योदय नहीं हो रहा है यह हम चिल्ला रहे थे, वह अव पंख फड़फड़ाकर चिल्ला रहा है फिर भी हमारे अभीष्ट सूर्य महाराज का पता ही नहीं है। इसलिये अव यह समय आ गया है जव समाज यह अच्छी तरह समझ ले कि सूर्यग्रहण और मुरग़ा इनका कोई अन्योन्य संवंध नहीं है।

अन्नक्षुधा और कामक्षुधा से ग़रीबों की भूखमार रोकने का एक ही उपाय है। वह है धनिकों की प्रभुता और असीम अधिकारों का नियंत्रण। समाजवाद यह प्रतिबंध नई समाजरचना के द्वारा करना चाहता है। जंगली युग से धीरे धीरे थोड़ा बहुत सुसभ्य बना हुआ मानवी मन अधिकाधिक बदलकर, यह सुधार किया जा सकता है, यह गांधीवाद का विश्वास है। समाजवाद का रास्ता पास का है। वह टिकाऊ है या नहीं इसका निश्चय समय ही कर सकता है। गांधीवाद का मार्ग दूर का है। उसका ध्येय पूर्ण न हो तो भी वह अंत में समाजवाद के कार्य में पूर्णतया पोषक ही होगा। दोनों को मनुष्य की समानता अभीष्ट है। दोनों यह मान्य करते हैं कि समाज का छोटा सा घटक इस दृष्टि से मनुष्य पर नियंत्रण होना

आवश्यक है। इस भावना को धर्म कहें या न कहें, नीति–संस्कृति–प्रगति इनमें से एक नाम दें अथवा किसी नये नामसे पुकारें। किन्तु मनुष्य के अंतःकरण में प्राचीन काल से सुप्त रहने वाली यह क्षुधा अब प्रज्वलित हो जगभर में संचार करने लगी है। यह क्षुधा जितनी बौद्धिक है उतनी ही भावनात्मक है। वह हम सब के कानों में बराबर गुनगुना रही है, "कल का नया संसार सुखी होने के लिये यह आवश्यक है कि जीवन में भोग और त्याग, काव्य और कृति, बुद्धि और भावना इनका सुंदर मेल हो। प्राचीन समय में महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा क्रीडामग्न क्रौंचयुगल को देख मोहित हो गई थी। उस युगल में के नर का भील ने वध किया देख महर्षि ने संतप्त हो शाप दिया था न? भोग और त्याग, काव्य और कृति, बुद्धि और भावना इन में से किसी पर भी वैसा संकट आनेपर तुम भी वही करना। और एक बात न भूलना। कल के शाप शब्दों के थे, आज के शाप कृति के होने चाहिये!"

कोल्हापुर
११–९–१९४२

वि. स. खांडेकर

क्रौंचवध

विकासशील मानवी जीवनकी आत्मा सामाजिक भावना ही है। यह भावना तीन रूपों में प्रगट होती है—शब्दोंमें, अश्रुओंमें और कृतिमें। इस भावनाका पहला सुंदर स्वरूप है कविता। किन्तु काव्य के शब्द कितने ही सुंदर क्यों न हों वे हवामें ही उड़ जाते हैं। इस भावनाका दूसरा कमनीय रूप है अश्रु! किन्तु मनुष्य के क्षुब्ध हृदयसागर से उमड़नेवाले ये मोती अंत में मिट्टीमोल ही रहते हैं। आँखों के पानी से मनुष्य अपने निजके हृदय की आग भी शान्त नहीं कर सकता। फिर समूचे जग का वड़वानल वह कैसे बुझा सकता है? चहुँ ओर का दुःख देख व्याकुल होनेवाले हृदयको हलका करने के सिवाय और कोई शक्ति शब्दों और अश्रुओं में नहीं होती।

इस भावनाका तीसरा स्वरूप ही मानवी प्रगति के लिये उपकारक्षम हो सकता है। इस रूपकी भावना शब्दों अथवा आँखों से नहीं बोलती। वह सर्वदा हाथों से बोलती है। अपने रुधिर-सिंचन से वह औरों के जीवन-सुमनका विकास करती है।

शब्द, अश्रु और रक्त! तीनों के उगम का स्थान एक ही है! किन्तु उनका अपना अपना जगत् कितना भिन्न है!

दिङ—

सितार के तारपर एक पल अंगुलि रख भागनेवाली कौन है यह ?

सुलोचना ?

नहीं ! सुलोच क्या अब तीन चार साल की दूधपीती बच्ची है जो सितार का तार छूकर उस में से भौंरे की नाईं मधुर स्वर कैसे निकलता है यह देखे ?

अगले सावन में पूरे चौबीस साल की होकर पच्चीसवें साल में पदार्पण करेगी वह। अब वह बचपन की कुमारी सुलोचना दातार नहीं रही। अब उसका नाम है सौभाग्यवती सुलोचना शहाणे !

सौ. सुलोचनाबाई !

केवल श्रीमती या सौभाग्यवती कहने से काम न चलेगा। सारी रामगढ़ रियासत उसे डाक्टराइन के नाम से पहचानती है। हाँ, मेडिकल कालिज की सूरत भी न देखते हुए भी वह डाक्टराइन हो गई है। और वह भी कुछ ऐसीवैसी मामूली डाक्टराइन नहीं। चौक के किसी अँधेरे कोनटे पर तख्ती लगाए मरीजों की राह देखनेवाले डाक्टर की पत्नी नहीं है वह। डाक्टर भगवन्तराव शहाणे उम्रसे कम हुए तो क्या हुआ ? रामगढ़ के सिविल सर्जन, दरबार सर्जन, राजपरिवार सर्जन हैं वे।

उनसे राजासाहब भी बहुत खुश हैं। कौन कह सकता है कि आज के डाक्टर कल रियासत के दीवान भगवन्तराव न हों ?

सुना है कि आजकल राजासाहब बीमार रहा करते हैं। लड़ाई के बाद हवाखोरी के लिये उनका इरादा स्विट्झरलैंड़ जाने का है। और उनके साथ डाक्टरका जाना तो ज़रूरी ही है। फिर क्या है? सुलोचना की पाँचों घी में हैं और क्या! क्यों कि वह भी भगवन्तराव के साथ जाएगी। उसके भाग्य की सराहना किये बगैर नहीं रहा जाता। कौन कह सकता था कि एकसौ चालीस रुपया माहवार पानेवाले एक अदना प्रोफेसरकी लड़की एकदिन केवल मौज उड़ाने यूरप और अमरीका की सैर करेगी? लेकिन—

जहाज़से उतरते समय कैसी वेशभूषा होगी उसकी? कुछ दिन हुए इंदिरा-प्रियदर्शिनी का एक चित्र छपा था! शायद ठीक वैसी सुलोचना भी दिखाई पड़े।

क्या इतने ठाट बाट वाली सुलोचना मेरे कमरे में आकर सितार पर अंगुलियोंसे अठखेलियाँ कर भीगी बिल्ली की तरह भाग सकती है?

नहीं! नहीं!! असंभव!!!

इसी उधेड़बुन में एकाएक प्रोफेसर दादासाहब दातार ने आँखें खोलीं। अब उन्हें पता पड़ा कि अब तक उनका दिमाग़ निद्रा और जागरण के बीच चक्कर काट रहा था। 'संध्या की शीतल छाया में दृश्यों की बलिहारी कुछ न्यारी होती है' ऐसा मन ही मन विचार कर उन्होंने सिरहाने का बिजली का बटन दबाया। सारा कमरा विद्युत् प्रकाश से जगमगा उठा। दीवार की घड़ीपर उन्होंने दृष्टिक्षेप किया तो पता पड़ा कि पाँच बजकर पैंतीस मिनट हो चुके हैं। सोचने लगे, "अच्छा! अभी जिसे सितार का नाद समझ बैठा था वह सचमुच घड़ी की टन् टन् की आवाज़ थी। हाँ, निद्रा और प्रेम का जादूही ऐसा मोह उत्पन्न कर देता है कि साक्षात् कठोरता भी मृदुता—लेकिन, किस कवि ने कहा है यह?"

प्रोफेसर दादासाहब स्मरणशक्ति दौड़ाने लगे। "भवभूतिने?"

"नहीं, नहीं!"

"तो और किसी संस्कृत कवि ने?"

"नहीं।"

"हां, ठीक याद आया। परसों सुलोचना ख़लील गिब्रान की किताब लाई थी। मैंने यों ही उसके पन्ने उलटे थे। शायद उसमें के पगले का वाक्य हो यह।

"मालूम होता है कि सुलोचना गिब्रान को बहुत चाहती है। ठीक ही है। दो

पीढ़ी का फ़र्क भी तो है। मेरी भवभूति की चाह उसे अच्छी नहीं लगती और उसके गिब्रान सदृश दोस्तोंसे मैं दूर भागता हूँ!"

"पर वह कविवचन—निद्रा और प्रेम का जादू ही—"

"क्या सचमुच गिब्रान का ही है?"

प्रो. दादासाहबने बहुत दौड़धूप की लेकिन कविसमान चंचल कविवचन ने उनसे ही लुकाछिपौव्वल प्रारंभ कर दिया। आखिरकार उनकी विचारधारा फिर बह चली।

"बुढ़ापेने तो अभी नहीं आ घेरा है। पर बीस पच्चीस साल वही पढ़ा पढ़ा कर जी कुछ उकतासा गया है। काश्! मेरी संगिनी पत्नी जीवित होती! मेरा वह उत्साह—"

दीवार पर घड़ी के पास ही मृतपत्नी की एक बड़ी तसवीर टँगी हुई थी। दादासाहब की दृष्टि उसपर पड़ी।

पच्चीस साल पूर्व के एक शीतल प्रभात का चित्र उनके सामने खिंच गया। विचारधारा स्वप्न में परिणत हो गई।

"घड़ी के साढ़े-पाँच के घंटे ने मुझे जगा दिया था। कालिज में प्रोफेसरी का पहला ही साल था। ठीक साढ़ेपाँच बजे सबेरे उठकर उस दिन के व्याख्यानों की तैयारी करना मेरा कार्यक्रम रहा करता था। पर उस दिन—

जागना न जागना एकसा ही जान पड़ा। शैशव की मुग्धता नन्हे से बालक को माँ की गोदसे लिपटकर सुला देती है। प्रणय का विश्वास भी ऐसे ही सहारा दिया करता है। सुलोचना की माँ मेरे गले का सहारा ले गाढ़ निद्रा में इसी विश्वास का अनुभव कर रही थी। सुलोचना के जन्म के छः सात महीने पूर्व की बात थी। मेरी पत्नी का बुरा हाल था। न नींद की सुध थी न भूख का ख्याल। भवभूति के उत्तररामचरित नाटक में रामचन्द्रजी दोहदपूर्ति की दृष्टिसे सीताजीसे पूछते हैं, "तुम्हारी क्या इच्छा है?" सीताजी उत्तर देती हैं, "क्या ही अच्छा हो यदि मैं फिर गंगामाई के पावन जल में स्नान कर सकूं!" इस प्रसंग का स्मरण होकर मैंने पत्नीसे पूछा, "सुना। एक बात बताओगी?"

"हाँ" उसने उत्तर दिया।

"हाँ, हाँ, नहीं। बिलकुल अंतर्हृदय की बात कहनी होगी। हाँ, हूँ, से काम न चलेगा।"

उसने हँसकर अपनी गर्दन हिला दी।

मैंने फिर कहा, "तुम्हारी कौनसी इच्छा पूर्ण करूं?" उसने कुछ उत्तर न दिया। मैंने सोचा शायद शर्मसे कुछ कहा न जाता हो। सहसा मैं कह उठा, "तुम्हें मेरी कसम है।" उसकी आंखों में पानी झलका और स्वर में कंप। वह बोली, "पहले कसम उठाइये।" न जाने क्यों वह भयभीत मालूम हुई। मैं भला मज़ाक के इस अवसर को खाली कैसे छोड़ता। मैंने कसम तो वापिस न ली और कहा, "मुझे पता न था कि विधवाविवाह करनेवाली स्त्री इतने पुराने ख्यालों की होगी!"

धीरे धीरे आंखोंका पानी दोचार मोतियों के रूप में नीचे टपका। लेकिन अपने राम पीछे न हटे। लोग समझते हैं कि बालहठ, स्त्रीहठ, और राजहठ तीनही प्रसिद्ध हठ हैं। लेकिन पति का हठ तो तीनों से भी बढ़कर होता है। आखिर वही हुआ जो हो सकता था। पत्नी को पीछे हटना पड़ा और उसने अपनी सच्ची इच्छा प्रगट की। वह बहुतेरा चाहती थी कि मिट्टी का स्वाद चखे।

छोटे छोटे बच्चों को गुदगुदी करते ही बच्चे कैसे खिलखिला उठते हैं! जी चाहता है हमेशा बच्चों को हँसाता ही रहे। ठीक यही आनंद कभी कभी पत्नी को चिढ़ाने और रुलाने में आता है। शायद प्रेम, कोमलता और क्रूरता के ही दो नाम हैं। मेरा तो व्यवसाय ही बोलने का है। फिर मेरी जिव्हा मुँहबंद कैसे रहती? ऐसा चरखा शुरू हुआ कि कुछ न पूछिये। मिट्टी खाने की इच्छापर मैंने खूब खरी खोटी सुनाई।

"तुम्हें लड़का हुआ तो आई. सी. एस. होगा, खेत का हरवाहा नहीं" इस वाक्य से उसे बहुत ही बुरा लगा। शायद स्त्रियां स्वभावतः ही मज़ाक पसंद नहीं करतीं।

रात के उस विनोद का अंत गंगा-जमना में हुआ। पत्नी मेरे पास से उठकर दूर जा बैठी। मुझे पता नहीं मैं कब निद्रावश हुआ। लेकिन साढ़ेपाँच का घंटा बजा और मेरी आँख खुली। देखा तो पत्नी मेरे गले में हाथ डाले नन्हेसे बालक की भांति सो रही थी। नित्यपरिपाटी के अनुसार उठ बैठना तो आवश्यक था। और वह भी उसे न जगाये। मैंने सोचा ग—ले की फाँसी हटाना अधिक सुगम है— लेकिन यह सुखद करपाश—

घड़ी अपनी राह पर दौड़ रही थी। मैं अभी प्रतिष्ठाप्राप्त ख्यातनाम प्रोफेसर न था। यह जरूरी थी कि मेरा हर व्याख्यान पहले की अपेक्षा सुन्दर हो। मेरा प्रयत्न

भी यही था। अत्यंत कोमलता से मैंने वह नन्हासा हाथ उठाया। लेकिन मैं उठा भी न था कि उसने आँख खोली। मैंने कहा, "नहीं, नहीं, तुम्हें उठने की ज़रूरत नहीं। मैं पढ़ते बैठता हूं।" उसने कुछ उत्तर न देकर केवल दृष्टिक्षेप किया। शब्दों से अधिक अर्थ उसमें भरा था। यह स्पष्ट था कि मेरा अकेले पढ़ते बैठना उसे पसंद न था। एक क्षण मैं भी रुक गया। वह बहुत क्षीण आवाज में बोली, "आज तबियत कुछ ठीक नहीं है।" मैं मुस्कराया और बाहर आया।

हाथमुँह धोकर दूसरे कमरे में आ बैठा। ऊपर की ही किताब उठायी--उत्तर-रामचरितही था वह। निशान का पन्ना खोलकर मैं ढूंढ़ने लगा कि कक्षा में किस श्लोक से प्रारंभ करना है। यह श्लोक था वह--

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

कविता का उगम कितनी कोमल भावनाओं में होता है यह सिद्ध करनेवाला यह श्लोक मुझे बहुत अच्छा लगता था। मैं सोचने लगा कि किन किन सुन्दर रीतियोंसे मैं कक्षा में उसका अर्थ विशद कर सकता हूं।

धीरे धीरे क्रौंचयुगल मेरी आँखोंसे ओझल हो गया। उसके रिक्त स्थानपर मुझे मेरी और पत्नीकी प्रतिमा दिखाई देने लगी। कोई मेरी पत्नी पर बाण चला रहा था। कौन है यह? मैंने मुड़कर पीछे देखा। मुझे मेरी ही मुद्रा दिखाई पड़ी।

खिन्नमनस्क हो मैंने किताब फेंक दी। बत्ती बुझायी। मैं सोनेके कमरेमें जा पत्नी का मस्तक गोदी में ले धीरे धीरे थपथपाने लगा। मुरझाया हुआ फूल खिल उठा। उसने कहा, "किताब पढ़ने का क्या हुआ? जाइये, नहीं तो कालिज के लड़कों की गालियां मुझे सुनना पड़ेंगी।"

"एक श्लोक का मतलब समझमें नहीं आता। उसे समझने को ही तो यहाँ आ बैठा हूं।" मैंने वह श्लोक उसे कह दिखाया।

वह बोली, "ख़ाक समझमें नहीं आया मेरी।"

मैंने कहा, "यह तो बहानेबाज़ी है। तुम्हीं ने तो इसका अर्थ मुझे अभी अभी बतलाया है।"

"मैंने?" वह आश्चर्यचकित हुई।

"हाँ, हाँ। तू-तुम-तुम्हारी सुंदर भोलीसी आँखोंने।"

❧ ❧ ❧ ❧

दादासाहब का चित्त पत्नी की तसवीर की ओर एकाग्र हो गया। सोचने लगे—फोटो है सुंदर, ठीक हूबहू पत्नी जैसी। लेकिन इन आँखों में उन आँखों की जागृति और जीवन कहां ?

तुरन्त ही उनकी दृष्टि तसवीर से हटकर घड़ीपर पड़ी। पौने छः बज चुका था।

वे बिस्तरपर से उठ बैठे। कहीं देरी के कारण सुलोचना उनका मज़ाक़ न उड़ाये। "पिताजी, अब आप बूढ़े हो चले हैं।" यही वाक्य वह आजकल रटती रहती है। न जाने क्यों करीब एक मास पूर्व वह एकाएक मायके क्यों आ गयी है ? उसमें अजीब परिवर्तन हो गया है। अभी उस दिन किसीने उससे पूछा था, "दादासाहब को नाती का दर्शन कब होगा ?" उसने जवाब दिया था, "भारतवर्ष के सामने मुख्य प्रश्न लोकसंख्या कैसे बढ़े यह नहीं है। हमारी आवश्यक समस्या यह है कि जो संख्या है उसका पोषणकर उसे जीवित कैसे रखा जाय।"

अपने कमरे से निकलकर उन्होंने स्नानगृह की ओर पैर बढ़ाये। जाते जाते योंही उनकी दृष्टि सुलोचना के कमरेपर पड़ी। प्रकाश का कोई चिन्ह वहाँ दृग्गोचर न हुआ। शायद सुलोचना सो रही थी। उन्हें याद आया कि परसों ही सुलोचना कह रही थी, "मैं एक उपन्यास लिख रही हूं।" शायद लिखते लिखते रात में बहुत देर तक जग रही हो। नहीं तो यह असंभव था कि वह बहुत तड़के न उठे।

स्नानगृह में मंजन करते करते उनके सामने बचपन की सुलोचना आ खड़ी हुई। उसकी माँ जब उसके मुँहहाथ धुलाती तब वह रोती भाग जाती थी। फिर दादासाहब स्वयं उसे मज़ेदार कहानी सुनाते और स्नानगृह में उसे ले जाते। बीच ही में वे कह उठते, "क्याही अच्छा बाजा बज रहा है।" फिर सुलोचना अपने आप अपना मुँह धोने लगती।

इस बीच बीस साल बीत चुके थे। वह सुलोचना और आज की सुलोचना ! कितना फ़र्क है दोनों में ! समय का जादू अपरंपार है !

नहाने के कमरे से बाहर आकर देखा तो अभी तक सुलोचना जागी न थी। उन्हें यह मालूम था कि बिना चाय पिये कोई काम करना संभव न था। क्षणभर इसी दुबिधा में पड़े रहे कि नौकर को जगाया जाय या सुलोचना को। या अपने हाथ से ही चाय बनाई जाय ? आखिर मन ही मन हँसकर सोचने लगे, "सुलोचना तो कुछ दिन पहले आई है। और दो-चार दिन रहकर चली जाएगी। इस लिये जितनी हो सके उसकी बनायी चाय पी लेनी चाहिये।"

अगर सुलोचना पूछती, "मुझे क्यों जगाया, पिताजी ?" तो उसका जवाब भी उन्होंने सोच लिया था। उनका उत्तर था, "मरुभूमि पर प्रवास करने के पहिले ऊँट भरपेट पानी पी लेता है ना ? ठीक उसी तरह मैं भी तेरे हाथ की चाय पी लेना चाहता हूं। साल छः महिने बाद तू दो चार दिनों के लिये मायके आती है। इन्हीं दिनों में तो मैं तेरे हाथ की चाय पी सकता हूं।"

अपने सोचे हुए उत्तरसे खुश हो दादासाहब सुलोचना के कमरे के सामने आ पहुँचे। उन्होंने सस्नेह पुकारा, "सुलोच—"

कमरे में से कोई उत्तर न आया।

दादासाहब मुस्कराये। सुलोचना कोई ज़रासी आवाज़ से जाग जानेवाली बुढ़िया तो थी नहीं।

इसलिये अबकी बार उनका स्वर ऊँचा था, "सुलोच—"

पासही की बगियासे उन्हें पक्षियों का मधुर कलरव सुनाई पड़ा। पर सुलोचना के कमरे में—वहां से तो करवट बदलने की भी आवाज़ न सुनाई दी।

दादासाहब कुछ झल्लाये। दरवाज़ा खटखटाये सिवाय और कोई मार्ग न था। उन्होंने दरवाजा खटखटाया। प्रातःकाल के प्रशांत और गंभीर समय में खट-खटाहट कानों को इतनी कठोर प्रतीत हुई कि दूसरी बार खटखटाने का उन्हें साहस न हुआ।

उन्होंने दरवाज़ा ढकेलकर देखा। दरवाज़ा एकदम खुलगया। उन्हें डर था कि कहीं दरवाज़े की आवाज़ से सुलोचना चौंककर न उठे। अंधेरे में उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता था लेकिन कान अपना काम कर रहे थे। उन्हें कुछ भी सुनायी न दिया। "भाई वाह, बड़ी गहरी नींद है।" यह सोचते हुए उन्होंने बटन दबाया।

बिजली का प्रकाश अँधेरे से भी ज्यादा डरावना प्रतीत हुआ। खाटपर सुलोचना न थी। बिस्तरे को देखकर यह नहीं मालूम होता था कि कोई वहाँ रात को सोया हो। पैर के पास ओढ़नेकी चादर ज्यों की तों पड़ी हुई थी।

दादासाहब का आश्चर्य असीम था। वे मनही मन सोच रहे थे। "आखिर यह लड़की बिनासोये कर क्या रही थी ? अभी उस दिन किसी वक्ताने कहा था कि आजकल के नवजवान भूत जैसे हैं। शायद वक्ता ने यह वाक्य तालियाँ सुनने के लिये कहा हो। लेकिन क्या सुलोचना का यह रातभर जागना भूत जैसा नहीं है ?

" परसों ही तो सुलोचना ने कहा था कि मैं उपन्यास लिख रही हूं। यह पागलपन सवार होनेपर नींद आ ही कैसे सकती है ? "

उन्होंने झुककर मेज़ के नीचे देखा। रद्दी काग़ज़ों की टोकरी टुकड़ों के ढेर से भर गई थी।

उन्हें हर्ष हुआ कि उनका तर्क सच निकला। शायद बच्ची को किसी घटना का चित्रण ठीक तरह न करते बना हो—शायद उसने फिर फिर प्रयत्नकर अनेक काग़ज़ों पर स्याही बखेर दी हो—संभवतः उन्हीं टुकड़ों से यह टोकरी भर गयी थी। प्रेम और कला दोनों की ही धुन एकसी होती है। इस बात की आवश्यकता है कि सुलोचना को सूचना दी जावे कि कोई पर्वाह नहीं अगर तुम्हारा नाम उपन्यास लेखक के नाते समूचे महाराष्ट्र में प्रसिद्ध न हुआ तो। अपनी तबियत की ओर भी तो देखना चाहिये। ऐसी जगनार करना तो बीमारी को अपने हाथों न्यौता देना ही है। और बीमार पड़नेपर डाक्टर भगवन्तराव का यह कहना कि शादी के बाद लड़की का ख्याल नहीं रहता सच ही होगा।

उन्होंने चाहा कि देखें आखिर सुलोचना कौनसा उपन्यास लिख रही है। उन्होंने कुछ टुकड़े टोकरीमें से निकालकर देखना प्रारंभ किया। उनमें एक भी टुकड़ा ऐसा न था जिस में पाँच छः ऐसे शब्द हों जिनका कुछ अर्थबोध हो सके। एक टुकड़ा योंही उन्होंने हाथ में अलग से लेकर पढा।

उसपर केवल दो ही शब्द थे—' प्रिय दिलीप '। वह सुलोचना का ही अक्षर था।

दादासाहब सोचने लगे—संभवतः दिलीप सुलोचना के उपन्यास का नायक है। शायद नायक को उसकी प्रेयसी ने कोई पत्र लिखा है। वह पत्र सुलोचना को बार बार पसंद न होने के कारण ही सुलोचना को रातभर जागना पड़ा है।

और अनेकों टुकड़ों का उन्होंने निरीक्षण किया। कुछ टुकड़ों पर सुलोचना का अक्षर दिखाई देता था। पर बीच बीच में कुछ टुकड़े दूसरे अक्षर के भी मिलते थे। मालूम होता था कि वह लिखावट उनके पहचान की है। लेकिन उन्हें यह ठीक स्मरण न हुआ कि वह लिखावट है किसकी।

हरसाल बीसियों विद्यार्थी उनके पास पढ़कर पास होते। उनके चेहरे भी उन्हें याद न रहते। बम्बई की किसी सड़क पर कोई नवयुवक उन्हें अभिवादन कर कहता, " पंड़ितजी, क्या आपने मुझे पहचाना ? " ऐसे समय बड़े संकट का

सामना करना पड़ता। "चेहरा तो पहचान का मालूम पड़ता है। लेकिन नाम—" ऐसा कुछ कहनेपर वह नवयुवक कहता, "मैं आपका विद्यार्थी था। आज कल यहीं कारपोरेशन में नौकर हूं। स्कूल कालिज का पढ़ा पढ़ाया सारा का सारा भूल गया हूं। लेकिन आपका पढ़ाया 'उत्तररामचरित' अभीतक याद है।" जब प्रोफेसरसाहब यह सुनते तो फूले न समाते। परन्तु फिर उसका चेहरा और नाम उन्हें याद न रहता।

यह सोचते हुए दूसरी लिखावट का निरीक्षण चालूही था। लेकिन उनका प्रयत्न समुद्रतीर की वालुका में खोये हुए पैसे की खोज सदृश असफल था।

आखिर उन्होंने उकताकर सब टुकड़े फिर टोकरी में फेंक दिये।

रातभर लिखते लिखते थककर सुलोचना जल्दी ही घूमने चली गयी है, उन्होंने सोचा। "बचपन से ही घूमने का वड़ा शौक है बच्ची को," उन्होंने मनही मन विचार किया।

उन्हें याद आया—

सुलोचना सात आठ साल की निर्बोध बालिका थी। जब उसने यह देखा कि पिताजी उसे घूमने साथ नहीं ले जाते तो वह पाँच बजे से ही उठ बैठती थी। पौ फटने के पूर्व ही दादासाहब को उसे साथ ले मकान से बाहर निकलना पड़ता था। मकान से बाहर निकलते ही वह स्वच्छंद पवन के झकोरों से हिलमिल जाती थी। गरमियों के दिनों में आकाश में केवल शुक्र ही चमकता दिखाई देता। सुलोचना एकटक उसकी ओर देखती और अपना हाथ बढ़ा देती। मानों वह एक तारा न होकर ऊँचेपर लगा हुआ किसी पुष्पलता का फूल ही था। पूरब में जब उषा अपनी रंगरलियाँ प्रारंभ करती तो सुलोचना नाचने लगती। उसके मन में ऐसी चाह उत्पन्न होती कि अपने हाथ उषा के रंगों में रँगले। कमसे कम नाखून तो रँग ही ले। पहाड़िया चढ़ते चढ़ते जब वह थक जाती तो कहती, "काश् पहाड़ी खूब ऊँची होती! फिर मैं उच्चतम शिखरियों पर जाती और मुझे इन्द्रधनुष खेलने मिलता!"

कदली के एक वृक्ष के पास ही दूसरे वृक्ष का अंकुर निकलता है। स्मृतियाँ भी इसी तरह संलग्न रहती हैं।

दादासाहब को एक दूसरी बात याद आयी। बचपनसे सुलोचनाकी कल्पनाशक्ति अत्यंत तीव्र थी। उसे कविता से बहुत रुचि थी। शायद इसी लिये मैंने उसे आठवें

वर्षसे ही संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। जब उसने ग्यारवें साल ही में पदार्पण किया था तब उसकी रघुवंशकी पढ़ाई चल रही थी। दिनकर नामका एक निर्धन विद्यार्थी मेरे ही यहाँ रहता था।

—आगे चलकर जीवन के एक अलग मार्गका अनुसरण उसने किया था। अन्यथा आज वह संस्कृत का प्रोफेसर हुए बगैर न रहता।

—उसपर आजकल कोई मुक़दमा चल रहा है।

—वही दिनकर आया उसी साल मेरी पत्नी स्वर्ग सिधारी।

—हाँ, शायद उसी या अगले साल।

जिस तरह एक पगडंडी में दूसरी पगडंडी आकर मिलती है उसी तरह पुराने दिनों की स्मृतिने पत्नीकी मृत्युकी स्मृति को दादासाहबके मन में अधिक प्रभावशाली बना दिया।

सुलोचना के जन्मके पश्चात् उसकी माँने दो पुत्रों को जन्म दिया। किन्तु दैववशात् दोनों ही कालगत हुए। पत्नी को पुत्र न होना बहुत खटकता था। जब दिनकर हमारे यहाँ रहने आया तब मैंने यों ही मज़ाक में कहा, "तुम्हें लड़का चाहिये है न? यह लो लड़का।"

उसने हँसते हँसते जवाब दिया, "यह दामाद है मेरा। लड़का नहीं।"

उसके ये शब्द सुनकर सुलोचना शर्म के मारे गड़सी गयी। बहुत दिनों तक इसीपर से मैं सुलोचना का मज़ाक उड़ाया करता था।

गतकाल की स्मृतियाँ देखनेवाला मन और उतारपर चलनेवाली गाड़ी—दोनों एकसी होती हैं। अपने आप ठहरने का कहीं नाम नहीं। सुलोचना की स्मृतियों में से और दूसरी स्मृतियाँ निकलना प्रारंभ हो गया था।

ठीक इसी समय बाबूलाल चायके दो प्याले ले आया। दादासाहब को अकेला देखकर वह बोला,

"और बिटिया कहाँ हैं।"

"शायद घूमने गई है।"

"पर वे तो चाय लिये बगैर घूमने जातीं ही नहीं।" यह कहकर वह एक प्याला वापिस ले गया।

चाय पीते समय दादासाहबने स्वयं घूमने जानेका इरादा किया। अगर सुलोचना पहाड़ीपर घूमने गई होती तो उन्हें देखकर अवश्यही आश्चर्यचकित होती। वे सोचने

लगे—मैं उससे कहूँगा—बिटिया भागकर आखिर जाओगी कहाँ ? ससुराल से मायके और मायके से ससुराल !

बाहर जानेका इरादा कर उन्होंने खिड़कीसे बाहर देखा। आकाश में घटायें मँड़रा रही थीं। किसी भी क्षण वर्षा हो सकती थी। और ऐसे समय बाहर निकलना !

एकाएक उनकी दृष्टि कोनेकी ओर गई। सुलोचनाकी छत्री अपनी जगह स्थित थी। उन्होंने सोचा, "यौवन और अविचार—एकही चीज के दो नाम हैं। अन्यथा बरसात के दिनों में भी छत्री न लेकर बाहर जानेवाली सुलोचना और—मैं !"

काले काले बादलों में जगह जगह भिन्न भिन्न आकृतियाँ दिखाई देती थीं। कहीं कहीं तो ऐसा मालूम होता था कि कोई राक्षस त्यौरियाँ चढ़ाकर डराना चाहता है। ऐसे राक्षस का सामना करने की अपेक्षा घर में ही डटे रहना अधिक अच्छा था।

उनके पैर अपने कमरे की ओर चल पड़े। अंदर पैर धरते ही उन्होंने प्रथम पत्नी की तसवीर तदनंतर कोने में रखे हुए सितार की ओर दृष्टिक्षेप किया। अवश्यंभावी मृत्युने उन्हें एक जीवनसंगिनी से बिछुड़ा दिया था। लेकिन यह दूसरी जीवनसंगिनी ? क्या उससे भी कभी बिछुड़ना पड़ेगा ?

अस्थिर चित्त हो उन्होंने सितार उठाया। पिता के ममताभरे हाथों समान उनकी अंगुलियाँ सितारपर चलने लगीं। समुद्रतटपर ज्वार के समय लहर पर लहर आकर वालुकामयभूमिपर स्वच्छंद विचरती है। सितार की मधुर स्वरलहरें भी कमरे के एकाकी वातावरण में क्रीड़ा करने लगीं। निर्जनवन में नंदनवन की आभा छिलकने लगी। स्वरों का भी रूप बदलने लगा।

—प्रथम मधुर—फिर मधुरतर—फिर—फिर ?

बचपनमें उन्होंने कहीं "इस तन धनकी कौन बड़ाई" भजन सुना था। उनके अनजाने ही वही स्वर सितारमें से निकलने लगे। पता नहीं उन्होंने सुने या नहीं। क्या यह संभव था कि अपना कालिज, पत्नी की मृत्यु, सुलोचना का हठी स्वभाव —ये सब इस नादब्रह्म में उन्हें याद रहता ?

साढ़ेसात बजे बाबूलाल दूसरी बार चाय ले आया: तब उन्होंने पूछा, "क्या बिटिया चाय पी चुकी ?" अभी अभी वे यह सोच रहे थे कि यदि वह चाय पी चुकी हो तो जिस तरह बचपन में वह मेरे सामने बैठती थी वैसे ही आज सामने

बिठाकर उसे ' नहीं ' कहने तक सितार सुनाया जाय। लेकिन—बाबूलाल ने उत्तर दिया, " बिटिया तो अभी तक आयी ही नहीं ! "

" अभीतक ! " उन्होंने दुहराया। किंतु उनके स्वर में संपूर्णजगत् का आश्चर्य भरा हुआ था। वह शब्द दुहराते ही उन्होंने सितार सहसा दूर रख दिया। विव्हल पक्षी की चीख़ के सदृश एक करुणस्वर सितार में से निकला—

चौंककर उन्होंने सितार की ओर झाँका। अपनी अस्थिरता पर वे मन ही मन हँसने लगे। सोचने लगे—घर आते समय कोई सखी सहेली रास्ते में मिली हो। उसने सुलोचना को चाय पीने का आग्रह किया हो। चाय तो आज कल युवकों की देवी बन गई है। चाय—गपशप—और आधुनिक युवक-युवतियाँ ! पाकिस्तान से लेकर प्रेमशास्त्रतक कोई भी विषय इनके टीका-कटाक्षों से नहीं बच सकता।

रास्ते से एक अखबारवाला चिल्लाता जा रहा था—" फाँसी की सजा " " फाँसी की सजा "

तारसप्तक के वे स्वर दादासाहबको सुनाई पड़े। उन्होंने बहुत चाहा कि दौड़कर एक अखबार खरीद लें। लेकिन यह एकही क्षण ! सच पूछो तो उनकी और अखबारोंकी चूहे-बिल्लीकी मित्रता थी। तनमन की सुध भूल वही वही वार्ता अलग अलग अखबारों में पढ़नेवाले वाचकोंपर उन्हें तरस आता था। वे सोचते—विश्वसाहित्य की कृतियाँ छोड़ पता नहीं इन लोगोंको घासलेटी साहित्य में क्या आनंद आता है ? आज क्या—किसीने अपनी प्रियपत्नी की नाकपर चाकू के करतब दिखाये—कल विषने किसी के शरीरमें जानेके बाद अपनी कर्तव्यपरायणता दिखायी। बस अखबारों में ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। प्रत्यक्ष गांधीजीका व्याख्यान हो तो भी उसमें वही पुराणप्रिय बातें—चरखा चलाइये—खादी पहनिये—ग्रामसुधार कीजिये। चालीस करोड़ लोगों का अगुआ भी जब बुद्धिवाद की बातें नहीं कर सकता वहाँ ऐरे गैरे उदरंभर अखबारवालों की बात ही क्या ?

इस विचारतंद्रा से कालिज में क्या पढ़ाना है यह देखनेके लिये दादासाहब उठे। किंतु अखबारवाले लड़के के शब्द अभीतक उनके कान में गूँज रहे थे। " फाँसी की सजा " " फाँसी की सजा "—

एक पल उनके मनमें डरने आसन जमाया। कानून की वक्रदृष्टि का पात्र कौन है यह ? कोई देशभक्त ?

अखबारों का मजाक उड़ानेवाला मन बोला, " किसी चोर डाकू की फांसी भी

अखबारों में मोटे टाइप में ही छपती है। और सुलोचना अवश्यही अखबारों का बोझ अपने साथ लाएगी। तब देखा जाएगा क्या मामला है।"

इस तरह मन को शांत कर दादासाहब कुर्सी पर जा बैठे। मेज पर दाहिने हाथ को कालिज की कितावें ठीक जमाकर रखी हुई थीं। उन्होंने सब से ऊपर की किताब उठायी। वह उत्तररामचरित था। उन्होंने निशान लगा हुआ पन्ना पलटा। दूसरे अंक का प्रारंभ ही था वह। आत्रेयी और वनदेवता का संवाद चल रहा था। प्रोफेसरसाहब की दृष्टि कालिज में पढ़ानेवाले श्लोक पर पड़ी।

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥'

उन्होंने झट किताब बंद कर दी। यह श्लोक उन्हें बहुत प्यारा था। लेकिन गत पच्चीस वर्षों में यह श्लोक इतनी बार पढ़ा चुके थे कि—

चूस चूस कर खाये हुए आम की गुठली की भांति मालूम हुआ वह। विचार-धारा बह चली—

पिछले पच्चीस वर्ष वही वही किताबें पढ़ा रहा हूं मैं। वही श्लोक—वही विस्तार—वही मेरी टीका टिप्पणी—। एकही मुकटा पहिने दसों जगह पूजापाठ करनेवाले पुरोहितजी और काला गाउन डटाकर मिट्ठूसमान रट लगानेवाला प्रोफेसर इन में फ़र्क ही क्या है? केवल इतना कि एक दस पाँच रुपये को भी लाचार है और दूसरे का वेतन है डेढ़ सौ रुपया माहवार।

किंतु उनका अहंकार केवल इस फ़र्क को माननेवाला न था। उनके पास पढ़े हुए बीसियों कुशाग्रबुद्धि विद्यार्थी उन्हें याद आये। उन्होंने कालिज का नाम उज्वल किया था और स्वयं अच्छे अच्छे पद प्राप्त किये थे। एक समय तो एक कलेक्टरने एक आम सभा में 'पूज्य गुरुवर दादासाहब दातार' इस तरह उनका उल्लेख किया था। प्रोफेसर को वही लकीर के फकीरसा काम करना पडता है यह सच है। किन्तु क्या वह समाज-निर्माण का कार्य नहीं है? क्या वह राष्ट्रसंस्कृति की सेवा नहीं है?

महत्प्रयास से उन्होंने फिर किताब खोली। उन्होंने 'मा निषाद' वाला श्लोक प्रयत्न की पराकाष्ठा से पढ़ाने का निश्चय किया। ठीक इस तरह जैसे खुर्राट गवैया महफिल में समा बांध देता है। उन्होंने पास ही की अलमारी खोली। अत्यंत ढंगसे रखी हुई नोट्स की किताबें और डायरियाँ देख कर अभिमान की एक लहरसी उनके

रुधिर में बह निकली। उत्तररामचरित के नोट्स ढूंढ़ने में उन्हें प्रयास न पड़ा। दूसरा अंक—क्रौंचवध—

उस श्लोकके नोट्स पढ़ते पढ़ते वे अपने आप को भूल गये। यौवन में पदार्पण करनेवाली सुंदररमणी की शीशे के सन्मुख खड़े रहने पर जो भावभङ्गी होती है उसकी कल्पना यदि चाहते तो दादासाहब इस समय सुचारुतया कर सकते। उन्हें भी अपनी बुद्धिमत्तापर अवश्य कुछ गर्व हुआ। एक मामूली श्लोक में से साहित्य और जीवन का सुंदर दार्शनिक सिद्धांत शायद ही कोई दूसरा प्रोफेसर पढ़ा सकता हो। नोट्स में अंत में लिखा था—वाल्मीकि का शोक श्लोकरूप से बह निकला—सच्ची काव्यधारा ऐसी ही अनिर्बद्धता से बहती है। अंतःकरण विदीर्ण हुए सिवा अभिजात काव्य निर्माण नहीं होता। अमृतप्राप्ति के लिये समुद्रमंथन आवश्यक था। उत्तमोत्तम साहित्य निर्माण के लिये भी प्रतिभाशाली लेखकों की भावनाओं का मंथन आवश्यक है।

वाल्मीकि के दुःख का कारण क्या था? क्या किसी चक्रवर्ति राजा की मृत्यु? अथवा प्रकृतिसहज उत्पात? नहीं। एक क्रौंचयुगल सुखासक्त हो एक पेड़ पर प्रणयक्रीडा का अनुभव ले रहा था। निषाद का बाण उनमेंसे एक को आ लगा। वह नर था। आहत हो पृथ्वीपर गिरनेके बाद उसकी प्रिया का क्रंदन अवश्य ही हृदयविदारक रहा होगा। वाल्मीकि का संतहृदय विदीर्ण हो गया। निषाद की क्रूरताने उन्हें संतप्त कर दिया। मूक पक्षी के शोकने महर्षिके हृदयको टूक टूक कर दिया। सच्ची कला इसी तरह सहृदय होती है। संसारका कोई भी दुःख वह देख नहीं सकती। कोई भी अन्याय वह सहन नहीं कर सकती। जीवनसौंदर्य का नाश करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का वह धिक्कार ही करती है।

रजतपट पर अपना अभिनय देखकर अपने आपको भूल जानेवाले अभिनेता की सी हालत थी प्रोफेसरसाहब की।

वे एकदम कुरसीसे उठ बैठे। एक नई कल्पना उन्हें सूझी थी। वे मन ही मन कह रहे थे—आज यह श्लोक पढ़ाते समय इस काव्य कल्पना का विस्तार इस तरह करूंगा कि पूरा वर्ग का वर्ग प्रफुल्लित हो उठेगा। लड़के आपस में कहेंगे—प्रो. दातार अगले वर्ष पेंशन लेनेवाले है। किंतु हम उन्हें पेंशन न लेने देंगे। वेही हमारे प्रोफेसर रहने चाहिये।

इस मधुर स्वप्न ने उन्हें पुलकित कर दिया। अपनी नवीन कल्पना का सुचारु विस्तार उन्होंने मन ही मन प्रारंभ कर दिया।—

आज भी संपूर्ण जगतमें हर जगह क्रौंचवध हो रहा है। हर दिन–हर घड़ी–हर क्षण–! क्रौंच दम्पति को शोकातुर करनेवाला निषाद और समूचे संसार को महा-युद्ध की ज्वाला में ढकेलनेवाला हिटलर क्या एकही से क्रूर नहीं है? भविष्य का महाकवि आज के भीषण युद्ध के बारे में लिखते समय वाल्मीकिसे भी अधिक प्रखर वाग्बाणों का उपयोग करेगा।

कल्पना की मधुरिमा मधु की मिठास से अधिक होती है। अन्यथा प्रोफेसर साहब नहाना धोना भूलकर इस तरह कल्पना–मग्न न रहते।

खाना खाते समय उन्हें सुलोचना का स्मरण हुआ। उनके रसोइये से कुछ पूछने के पूर्व ही वह बोला, "बिटिया कब आनेवाली हैं? उनका भोजन कितने बजे तैयार रखूँ?"

"आती ही होगी। कहीं किसी लड़की के यहां गपशप लड़ाते बैठी होगी। आजकल की लड़कियों का अजीब हिसाब है। कलाई की घड़ी शायद दिखाने के लिये पहनती हैं। कभी उसमें समय देखें तो राम का नाम लो।"

अपने इस विनोदपर दादासाहब खुश हो हँस पड़े। रसोइयेने भी अपनी दंतपंक्ति खोलकर उनका साथ दिया।

दादासाहिब कालिज के लिये चल पड़े। फिर भी सुलोचना का कहीं पता न था। अचंभे की जगह धीरे धीरे क्रोध विराजमान होने लगा।

—यह ठीक है कि सुलोचना अब बड़ी हो गई है। स्वतंत्र है। एक बड़े डाक्टर की पत्नी है। लेकिन यह स्वच्छंदता उसे शोभा नहीं देती। सबेरे साढ़ेपांच बजे से ग्यारह बजे तक उसका कुछ पता नहीं इसका मतलब क्या है? आखिर हम लोग कितनी राह देखें।—लेकिन कहीं मोटर का एक्सिडेंट तो—एक बूढ़े बाप का अंतःकरण वह तब तक नहीं समझ सकती जब तक वह स्वयं माता न बन जाय—

यही बड़बड़ाते उन्होंने मकान से बाहर पैर रखा।

कालिज पहुँचे तो बाहर के मैदानपर उन्हें विद्यार्थियों के झुंड के झुंड जगह जगह खड़े मिले। कारण वे ठीकसे समझ न सके। १९३० और १९३२ ई. में

असहयोग के आंदोलन के समय विद्यार्थी ऐसे ही किसी नेता की जेलयात्रा के अवसरपर हड़ताल मनाते थे और पढ़ाई की क्लासों में पँखेरू भी न झाँकता था। उन्हीं दिनों एक समय उन्होंने शोरगुल मचानेवाले विद्यार्थियों के एक समूहसे कहा था—"कालिज यह सरस्वती का मंदिर है। चौक का बाजार नहीं।" इस वाक्य के उत्तरस्वरूप दिनकर नामके विद्यार्थीने जो शब्द कहे थे वे भी उन्हें याद आये। उसका उत्तर था, "चौक का बाजार है इसीलिये जनता के अन्नवस्त्र की व्यवस्था होती है। मंदिर का नैवेद्य तो केवल पुजारी ही हड़प कर जाता है। भक्तगण तो भूखे ही रहते हैं।" बहुतसे उच्छृंखल लड़कोंने तालियां बजाकर दिनकर के शब्दों का स्वागत किया। लेकिन दादासाहब को उनमें कृतघ्नता के सिवा और कुछ न दिखाई दिया। उनकी बहुत इच्छा थी कि दिनकर को तुरन्त अपने यहाँ से निकाल दें। परंतु लोकापवाद का भय था। बात सारे गांव में फैलते देर ही न लगती। उन्होंने अपने मनका समाधान इसतरह करलिया—आखिर वह है तो एक पुलिस-इंस्पेक्टरका ही लड़का—वह क्या जाने तमीज है किस चीज का नाम—भला इसी में है कि उसके बालिश शब्दोंपर ध्यान ही न दें।

दस साल पूर्व का वह चित्र देखते हुए उन्होंने प्रोफेसरों के कमरे में पदार्पण किया। एक कोने में पड़ी हुई आरामकुर्सी की ओर उन्होंने दृष्टिक्षेप किया—प्रिन्सिपलसाहब वहाँ बैठे हुए थे।

उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। प्रायः इस कमरे में प्रिंसिपलसाहब न आते थे। अवश्य ही आज कोई विशेष कारण है। अन्यथा—

दादासाहब को देखते ही प्रिंसिपल कुर्सी ही में कुछ उठे से और बोले, "आईये, आपही की राह देख रहा था मैं।"

दादासाहब एक कुर्सी खींचकर मुख्याध्यापक के निकट आ बैठे।

मुख्याध्यापक बोले, "बड़ी कठिन समस्या हल करनी है।" दादासाहबने पूछा, "क्या बात है।"

"याने! आपको क्या कुछ भी पता नहीं?"

"दादासाहब हैं संस्कृत के प्रोफेसर। कालिदास का जीवनकाल पूछिये उनसे। घंटों लंबा चौड़ा प्रगाढ़ विद्वत्ता का भाषण देंगे। किन्तु वर्तमान की हलचलों का पता? ऊँ हुँ।" साइन्स-प्रोफेसर के ये शब्द प्रिंसिपल महोदय तक पहुंच ही

गये। उनकी त्यौरियाँ चढ़ गईं। कमरे में शांतता छा गई। वे फिर दादासाहब की तरफ मुड़कर बोले, "आज विद्यार्थियों का बहुत ही आग्रह है।"

"किस बात का?"

"कालिज बंद रखने का।"

"क्यों?"

"उसे फाँसी की सज़ा हुई है। आजही के अखबार में छपा है।"

"किसे फाँसी की सज़ा हुई है!" दादासाहब ने अस्थिर हो पूछा।

"वही दिनकर सरदेसाई—हमारे कालिज का विद्यार्थी। आप ही के यहाँ तो रहता था वह।"

अखबारवाले की फाँसी की सज़ा का मतलब अब दादासाहब की समझ में आया। करीब चार हफ्ते पूर्व उन्होंने पढ़ा था कि रामगढ़ में दिनकर पकड़ा गया था। किन्तु उस वार्ता को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया था क्यों कि उनका अपना विचार था कि आन्दोलन के नेता और जेलखाना इनकी घनिष्ठ मित्रता रहती है।

उन्होंने पूछा, "आख़िर दिनकरने ऐसा किया क्या है?"

"रामगढ़ में उसने करबंदी का बड़ा भारी आंदोलन किया था। सैंकड़ों सभाओं में भाषण दिये। सारी रियासत जगा दी। ऐसी ही एक बड़ी सभा को बंद करने के लिये पुलिस गई थी। कहते हैं कि दिनकर के उकसाने से लोगों ने पुलिस के तीन चार सिपाहियों को बेतहाशा मारपीट की थी। थानेदार तो वहीं के वहीं ढ़ेर हो गया।"

थोड़ी देर सब लोग चुपचाप रहे। सब का चुपचाप रहना मारपीट के कोलाहल से भयंकर प्रतीत हुआ। अंत में साइंस के प्रोफेसरसाहब ने वह भीषण शान्तता भंग की। वे बोले, "यह सरदेसाई तो कालिज में बिलकुल भीगी बिल्ली था। निष्णात ज्योतिषी भी यह न बता सकता कि दिनकर एक दिन खून करेगा।"

इतिहास के प्राध्यापक ने बात काटकर कहा, "दिनकर पर खून को प्रोत्साहन देने का इल्ज़ाम है, खून का नहीं।"

"लेकिन इसीलिये तो उसे फाँसी की सज़ा हुई है।" साइन्स का अभिमान जागृत हुआ। इतिहास भी आपे से बाहर हुआ। प्रोफेसर साहब बोले, "शासन संस्था को अधिकार है कि किसी को सज़ा दे। किंतु यह नहीं भूलना चाहिये कि सत्य का स्थान शासनसंस्था से भी ऊँचा होता है।"

वादविवाद बढ़ने देना योग्य न समझ प्रिंसिपल बोले, " दिनकर हमारे कालिज का विद्यार्थी था। रामगढ़ रियासत का एक लोकप्रिय नेता है। इस कारण विद्यार्थियों की इच्छा है कि इस सजा का निषेध करने के लिये एक दिन कालिज बंद रहे। किंतु—दिनकर के प्रति मुझे पूर्ण सहानुभृति है—मुझे खेद है कि एक इतने कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थी का जीवन इस तरह मिट्टी में मिले—वह चाहता तो आज हमारी संस्था का कार्यकर्ता तथा हमारा सहकारी होता......लेकिन— "

प्रिंसिपल महोदयने अपने भावनोद्रेक को रोका। शून्य दृष्टिसे सामने टँगी हुई लक्ष्मी की तसवीर देखते हुए बोले, " रामगढ़ के राजासाहब हमारी संस्था के उपसभापति हैं यह हम नहीं भूल सकते। " उन्होंने एक दृष्टि कमरे में चारों ओर डाली। हर व्यक्ति के चेहरे पर " आप का कहना सच है " यही भाव व्यक्त हो रहा था।

प्रिंसिपलसाहब उठे। " हर हमेश जैसा कालिज का काम चलेगा—क्लासों में एक भी लड़का न हो तो भी। " यह कहकर वे कमरे से बाहर हो गये।

किंकर्त्तव्य मूढ़ हो प्रो. दातार अपनी कुर्सीपर स्थित थे। क्या दिनू फाँसीपर चढ़ेगा? कितनी आशा और उमङ्ग से वे उसे कालिज में ले आये थे!

बाहर के शोरगुलने उनकी किंकर्त्तव्यमूढ़ता तोड़ दी। विद्यार्थी नारे लगा रहे थे। " महात्मा गांधी की जय " " जवाहरलाल नेहरू की जय " " दिनकर सरदेसाई की जय " " सरदेसाई जिन्दाबाद " " वंदेमातरम् "

सूलीपर चढ़नेवाले व्यक्ति का जयजयकार! वह चिरायु? कैसे?

दादासाहब का प्रोफेसर मन बोल उठा—इससे सुंदर ' वदतो व्याघात ' का उदाहरण कहाँ मिल सकता है?

अपना प्रोफेसरी का गाउन पहनते हुए वे सोचने लगे—काले कपड़े शोक का चिह्न माना जाता है। कालिज नहीं चाहता कि दिनकर के लिये शोक मनाया जाय। यदि कालिज की आज्ञा पूर्ण करना है तो आज यह काला गाउन नहीं पहनना चाहिये।

पर मनुष्य तो आदतसे लाचार होता है। गाउन पहिनेबग़ैर क्लास में जाने को उनका मन तैयार न हुआ।

उनकी चाल ही गंभीरतापूर्ण थी। उसी गंभीरता से उन्होंने वर्ग में प्रवेश किया। वहाँ उन्हें कोने कोने में उदासीनता दृग्गोचर हुई। प्रतिदिन क्लास में आते समय

विद्यार्थियों की बातचीत पक्षियों के मधुर कलरव के समान भाती थी। पर आज केवल चार पाँच ही विद्यार्थी क्लास में थे। और वे भी दूर दूर बैठे हुए थे। जैसे रास्ते के फर्लांग के पत्थर! न जाने क्यों उन्हें दिनकर याद आने लगा। उन्होंने उसे अपने यहाँ प्रियपुत्र से बढ़कर प्यार से रखा था। उसकी होशियारी—उसका प्रेमपूर्ण हृदय—उसकी और सुलोचना की दोस्ती—

शीघ्रातिशीघ्र उन्होंने भावनाओं को बिदा किया और निर्विकार मुद्रासे उन्होंने उत्तररामचरित खोला और श्लोक पढ़ा।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥"

श्लोक पढ़ा और वे एक क्षण ठहर गये। वाणी का स्रोत लुप्त हुआ सा उन्हें मालूम पड़ा। शायद मरुभूमि में एकाएक लुप्त होनेवाले नदीके प्रवाह के सदृश उनकी स्थिति थी। खाली क्लास के सामने व्याख्यान भी क्या दिया जाय?

किंतु दूसरे ही क्षण कर्त्तव्यबुद्धिने उन्हें जगा दिया। वाल्मीकि के संतप्त हृदय का उन्होंने बहुत सरसता से वर्णन किया। क्रौंचयुगल संसार के निष्पाप जीवों का निदर्शक है। उसके आनंद का नाश करनेवाले निषाद को दिया हुआ वाल्मीकि का शाप—

निषाद और हिटलर!

विद्वत्ता की वाणी बोल उठी, "महाकवि केवल अपनी ही पीढ़ी के लिये नहीं लिखता। उसका कार्य युगों के लिये होता है। वाल्मीकि का कार्य अभीतक पूर्ण नहीं हुआ। प्रतिक्षण, हरघड़ी लाखों निपराध जीवों की हत्या आज संसार में हो रही है। आजही का अखबार खोलने—"

उन्हें प्रचण्ड करध्वनि सुनाई दी। उन्होंने सामने देखा। मूर्ति समान निश्चल चार पाँच मानवी जीव उन्हें दिखाई दिये। करतलध्वनि बाहर हो रही थी। विद्यार्थी नारे लगा रहे थे। "सरदेसाई की जय" "दिनकर सरदेसाई जिंदाबाद"

प्रोफेसरसाहब ने आँखें बंद करलीं। उनके अंतश्चक्षु के सामने वही श्लोक दिखाई पड़ा। मेघ जिस तरह देखते देखते तरह तरह के स्वरूप धारण कर लेता है उसीतरह श्लोक भी आकृतियों में परिणत हो गया।—क्या यह पेड़पर का

क्रौंचदम्पति है ?—नहीं, पक्षी कहाँ हैं यहाँ ? अरे यह तो दिनकर है—और वह—वह सुलोचना—दोनों की कितनी घनिष्ठता थी बचपन में—

कुछ क्षण दादासाहब भूलगये कि वे कहाँ हैं। दिनकर सुलोचना को पढ़ाया करता था। उस समय दोनों ऐसे ही एक दूसरे के निकट बैठा करते थे

—पर किसी दुष्ट ने बाण चला दिया—वह दिनकर के आ लगा—उसके शरीर से बहनेवाली रुधिर की धारा—

यह आभास क्षणिक ही था। लेकिन वह क्षण भूडोल के क्षणके समान ही भयंकर था। आँखे खोलकर वे बोले, " मेरी तबियत कुछ ठीक नहीं है। आज का व्याख्यान यहीं समाप्त करें। "

मकान लौटते समय वे रहरहकर यही सोच रहे थे कि वे इस तरह भावनावश कैसे हुए। बारह वर्ष पूर्व ऐसा ही एक क्षण था। पत्नी का अंतकाल समीप था। मन की शांति दृढ़ करने के हेतु उन्होंने गीता का दूसरा अध्याय खोला था और पढ़ना प्रारंभ किया था। और आज—उनके यहाँ चार सालतक रहे हुए, आंदोलनोंमें भाग लेनेवाले एक युवक की फाँसी कि सजा सुनकर—आज क्यों उनका चित्त चंचल हो उठा था ? सुलोचना आजकल कहा करती थी, " आप को अब बुढ़ापेने आ घेरा है। " यदि उसे आजकी घटना मालूम हुई तो—

फाटक खोलते हुए वे यही सोच रहे थे कि सुबह की आवारागर्दिश की क्षमा माँगने के लिये सुलोचना द्वारपर ही खड़ी होगी। परन्तु दरवाजा बंद ही था। अंदर आनेपर मालूम हुआ कि सुलोचना अभीतक वापस नहीं आयी। डर और क्रोध से वे सहम उठे।

चाय का घूँट गले के नीचे उतरे न उतरता था। किसी तरह चाय पी वे शीघ्र ही सुलोचना के कमरे में गये। कमरे की सारी चीजें जहाँ की तहाँ थीं। ट्रंक, चमड़ेका सूटकेस, होल्ड-आल—सब कुछ अपनी अपनी जगह था। बच्ची शहर में ही कहीं गई हो। किसी ने उसे खाना खाने का आग्रह किया हो। अब शाम को चाय पी आती ही होगी—वे अपने मन को दिलासा दे रहे थे।

खाली हाथ बैठना असह्य हो उन्होंने दाहिने हाथ का दराज खोला। बालों के कांटे, रंगबिरंगे फीते, दो तीन सुन्दर सुन्दर कंघे, और एक तेल की बोतल—इसके सिवा वहाँ क्या था ? इन चीजों को देखकर उनका डर कुछ कम हुआ।

तो क्या सुलोचना के पागलसमान कहीं चल देने की आशंका सच नहीं थी ? शायद नहीं । स्त्री संसारजाल का मोह उस उतनी सुगमता से नहीं त्याग सकती जितनी सुगमता से पुरुष विरक्त हो जाता है ।

उन्होंने बायें हाथ का दराज खोलने का प्रयत्न किया । लेकिन वह बंद था । शायद उसमें सुलोचना का लिखा उपन्यास रखा था । मनुष्य स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि जिस कार्य के बारे में मनुष्य भविष्य में स्तुति की अपेक्षा करता है उसे वर्तमान में कुछ कालतक गुप्त ही रखता है । फिर वह चीज़ उपन्यास हो या होनेवाला शिशु हो । यदि वह दराज खुला होता तो प्रोफेसरसाहब सारा उपन्यास भूखे शेर की तरह पढ़ जाते और सुलोचना वापिस आने पर उसकी पीठ पर हाथ रख कहते, "बेटी, उपन्यास तो अपने ढंग का निराला है । किसे अर्पण करेगी तू ! मुझे या तेरी माँ को ?"

दराज़ पर रखा हुआ हाथ उठाकर दादासाहब कमरे से बाहर जाने लगे । जाते जाते उनकी दृष्टि मेज़के नीचे कागज़ की टोकरी पर पड़ी । वह रद्दी कागज़ के टुकड़ों से भरी हुई थी । शायद नौकर सबेरे टोकरी के कागज़ चूल्हे में डालना भूल गया था ।

दादासाहब ने पुकारा भी, "बाबू, ओ बाबूलाल ।" टोकरी के ऊपर का ही कागज़ उठाकर वे देखने लगे । वह एक फीके पीले रंग का कागज़ का टुकड़ा था । ध्यानपूर्वक देखनेसे पता चला कि तार के लिफाफे का टुकड़ा था वह । उसपर स्पष्ट लिखा हुआ था 'सुलोचना' । सुलोचना को यह तार कहाँ से आया था ? और कब ? सुबह से तो उसका पता ही न था । याने तार पहिले दिन का—

डाक्टरसाहब का तो तार न था ?

नहीं—

फिर ?

अनेक शंकाकुशंकाओं ने उन्हें व्याकुल बना दिया । करीब एक महीने पूर्व सुलोचना जब एकाएक मैके आई थी तो उन्होंने कहा था, "पहिले चिट्ठी भेज देतीं तो क्या हर्ज था ?" सुलोचना ने उत्तर दिया था, "अकस्मात् आकर आश्चर्यचकित करने का आनंद कुछ और ही होता है । वर्षाऋतु के मेघ के बजाय वसंत की वर्षा अधिक सुखकर प्रतीत होती है ।"

दादासाहब का तो मुँह बंद हो गया था । वे यह भी न पूछ सके थे कि सुलोचना रामगढ़ से आई क्यों थी । यह विचार भी उनके मन में आ चुका था कि

कहीं डाक्टरसाहब से झगड़ा तो नहीं हो गया। जी कड़ा कर उन्होंने यह बात सुलोचना से पूछी भी थी। उसने हँसकर उत्तर दिया था, "आजकल के लेखकों का मत है कि विरह से प्रेम का संवर्धन होता है। इसलिये हम दोनों ने एक दूसरे से महीने दो महीने अलग रह अपना प्रेम बढ़ाने का निश्चय किया है।"

"साहब"। नौकर की पुकार से प्रो. दातार का बाहरी दुनिया से संपर्क फिर प्रस्थापित हुआ। उन्होंने ऊपर देखा। नौकर ने पूछा, "जी साहब!"

"मैं एक तार लिखे देता हूँ। पोस्ट आफिस में दे आ"।

कांपते हुए हाथोंसे उन्होंने तार लिखा—वह भी सुलोचना की मेज़पर बैठकर—

भगवन्तराव शहाणे,
दरबार सर्जन,
रामगढ़।

सुलोचना के पहुँच की खबर दीजिये।

दादासाहब।

नौकर तार लेकर चला गया। दादासाहब सोच रहे थे—तार न भेजना चाहिये था। सुलोचना यहीं कहीं शहर में रह गई होगी। शामको वापस आ जायेगी। जल्दबाज़ी के तार से कहीं डा. भगवन्तराव घबरा न उठें।

नहीं—

चलो दौड़ कर बाबूलाल को पुकारें और कहें—"तार भेजने न जा"।

परन्तु उनका शरीर अपनी जगह से न हिला।

नौकर वापस आने तक वे मन ही मन सोच रहे थे।

—सबेरे से बिटिया का पता नहीं है। कहीं कालिजमें साथ पढ़नेवाली किसी लड़की के यहाँ ठहर जाती तो संदेसा अवश्य भिजवा देती। कालिज में फोन भी तो कर सकती थी।

क्या पुलिस में खबर कराई जाय कि बच्ची लापता है।

नहीं। फिर तो शहरभर में खबर फैलने में देर ही न लगेगी। भगवन्तराव की मानहानि भी होगी। एक रियासत के दरबार सर्जन की पत्नी गायब है—यह वार्ता अखबारवाले बड़ी तत्परतासे नमकमिर्च लगाकर छाप देंगे। हिंदुत्वका डंका बजानेवाले उसे किसी मुसलमान का कार्य बतलायेंगे। पुराने ख्याल वाले कहेंगे, "यह है आधुनिक सुधारों का परिणाम।" यदि भगवन्तरावने किसी लाड़ली

कन्याके बापका विवाह प्रस्ताव अस्वीकार किया हो तो वह बाप अवश्य कह उठेगा, "यह भगवन्तराव—हम तो पहिले ही जानते थे—इसका रंगढंग ठीक नहीं हैं।"

और बिटिया के मन की गढ़न भी तो अजीब है। जब वह कालिज में थी तो एक समय मौसी के यहाँ सांगली शहर देखने निकली। यहाँ से मैंने उसके जाने का तार दिया। दूसरे दिन मौसी का सुलोचना न पहुँचने का तार आया। समझ में नहीं आता था कि क्या करें। सारा दिन यों ही उधेड़बुन में बीत गया। शाम को मौसी का फिर तार आया कि सुलोचना राज़ीखुशी से है। और कहाँ? सातारे में रेलगाड़ी में उसे एक रामदासपंथी साधु मिला। उसने सज्जनगढ़—जहां कि रामदासस्वामी की समाधि है—का बड़ा ही रोचक वर्णन किया। बस, सुलोचनादेवी सज्जनगढ़ देखने सातारा रोड स्टेशनपर उतर पड़ीं।

ऐसी ही कोई लहर आज भी आई हो! उपन्यास में कोई निसर्गरम्य दृश्य वर्णन करना हो। शायद स्वयं प्रत्यक्ष देखकर ही वर्णन करना योग्य समझ यह विदुषी सबेरे से ही निकल पड़ी है।—चलते चलते विदुषी कहीं थक न गई हो—

लेकिन रात्रिपूर्व अवश्य ही सुलोचना वापस आ जाएगी।—

इस तरह मनको समझाते हुए प्रोफेसर साहब घूमने निकल पड़े। इरादा था कि कहीं टेकड़ीपर एक तरफ जा बैठें। रास्ते में अख़बारवाले की दूकान लगी। बाहर लगे हुए तख्तेपर विशेष वार्ताएँ बड़े बड़े शब्दों में लिखी हुई थीं। उन्हें केवल 'फाँसी की सजा' यही शब्द दिखाई दिये। हठात् उनका हाथ जेब में गया और पैर दूकान की ओर। उन्होंने एक अख़बार खरीदा जिसमें दिनकर के मुक़दमे का पूरा विवरण दिया हुआ था।

पहाड़ी पर जाकर वे अख़बार पढ़ते एक पत्थर पर बैठ गये।

दिनकरपर अनेक अपराध लगाए गये थे। रामगढ़ के राजासाहब के विरुद्ध अनेक सभाओं में भाषण करने के कारण राजद्रोह का अपराध था। कई बार अप्रत्यक्षतया उसने अत्याचारका पुरस्कार किया था। अंत में किसानों के एक बड़े मोर्चे का उसने नेतृत्व स्वीकार किया था। उस बड़ी सभा में उसने थानेदार और पुलिस के सिपाहियों पर हमला करने के लिये किसानों को उत्साहित किया था। जिस समय हमला हुआ उस समय वह वेश बदल सभा की जगह उपस्थित था ऐसा पुलिस का कथन है; क्यों की उसकि माँ मृत्युशय्यापर पड़ी रहनेपर भी

वह उस समय उसके निकट न था। दरबार के डाक्टर भगवन्तराव उस समय दिनकर की माँ को देखने गये थे। उनकी गवाही इस मुक़दमे में हुई थी। दिनकर यह सिद्ध न कर सका था कि वह सभास्थान पर न हो कर कहीं दूसरी जगह था।

दादासाहब ने अख़बार पर से आँख उठाई। पश्चिम में सूर्य रक्तलाल हो डूब रहा था।

✣ ✣ ✣ ✣

वापस आने पर रसोइये ने उनसे पूछा, "बिटिया खाना खाने आवेंगी न?"

दादासाहब ने धीमे से कहा, "वह आज अपनी एक सहेली के यहाँ रहने वाली है।" यह वाक्य मुँह से निकलनेपर उन्हें मन ही मन आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा भी, "मनुष्य अपने आपको कितना धोखा देता है!"

थाली सामने रखी थी। किंतु उनका ध्यान खानेपर न था। वैसे तो आज कई दिन उन्हें अकेले खाना खाने की आदत सी हो गई थी। किन्तु आज कुछ—

खाना समाप्त भी न कर पाये थे और दरवाज़े की घंटी बजी। बाबूलाल तार लेकर अंदर आया। हाथ धोकर दादासाहब ने हस्ताक्षर कर दिये और कांपते हुए हाथों से लिफ़ाफ़ा खोला। सोचा कि अपने ही तार का जवाब आया है। इसलिये उन्होंने तार के नीचे नाम देखा—भगवन्तराव।

इस विश्वास से कि सुलोचना रामगढ़ ही गई है, दादासाहब ने तार पढ़ा। उनका अपनी आँखोंपर का विश्वास जाता सा रहा। तार में लिखा था, "मैं बीमार हूँ। सुलोचना को भेज दीजिये।"

दादासाहब ने तार रामगढ़ से निकलने का समय पढ़ा। दादासाहब का तार मिलने के पूर्व ही भगवन्तराव का तार चल पड़ा था। यह स्पष्ट था।

उनके क्रोध का ठिकाना न रहा। वहाँ पति अत्यंत बीमार है और यहाँ पत्नी—

रात की गाड़ी से रामगढ़ जाना संभव था। लेकिन अकेले जाकर सुलोचना के बारे में भगवन्तरावसे क्या कहें?

नहीं! सुलोचना घर आये बग़ैर रामगढ़ जाना भी इष्ट न था।

उनकी हैरानी प्रतिक्षण बढ़ रही थी। मनको शांत करने के लिये उन्होंने अपना प्यारा सितार उठा लिया। जीवन के अनेक दुःखद प्रसंगोपर सितार ने उनका साथ दिया था। यह सच है कि पत्नी की मृत्यु के बाद श्रीमद्‌भगवद्गीता के

द्वितीय अध्याय ने उन्हें ढाढ़स बँधाया था। किंतु चित्त की अस्वस्थता कभी कभी पत्नी के स्मरण से बढ़ ही जाती थी। गीता और उपनिषदों के साधुवचन भी ऐसे समय काम न आते थे। उस समय संसार और अपने आप को भूल जाने के लिये सितार ही एक मात्र साधन था। स्वरलहरी की तरंगों से वे वियोग, विषाद और विपत्ति को भूल कहीं दूर दूर जा बसते थे।

आज भी उसी भावनासे उन्होंने सितार उठाया। सुलोचना के बारे में न जाने क्या क्या भलेबुरे विचार उनके मन में आ रहे थे। कहीं मोटर, लारी, अथवा तांगे के नीचे तो—

अथवा किसी दूसरे के प्रेम में पड़कर मुझे और भगवन्तराव दोनों को हमेशा के लिये छोड़कर तो—

अपने प्रिय मनुष्य की मृत्यु शांत चित्त देखी जा सकती है। किन्तु उसके बारे में यदि बुरी भली कल्पनाओं का तूफान मनमें उठने लगे तो जीवन असह्य हो जाता है।

दादासाहब ने सितार के सुर छेड़ दिये। परन्तु उनमें कर्णमधुरता उत्पन्न होना असंभव था। बुखार से जिह्वा का स्वाद जाता रहता है। उन्होंने सोचा कि सुलोचना की चिंता ने नादब्रह्म के आनंद में विलीन होने की उनकी शक्ति को नष्ट कर दिया है।

बहुत देर तक वे भिन्न भिन्न स्वरसंगति निकालने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु नित्य का आल्हादक वातावरण निर्माण न हुआ। कुछ क्रोधाविष्ट हो उन्होंने सितार दूर रख दिया। उसमें से उन्हें एक अस्पष्ट करुण स्वर सुनाई पड़ा। मानों वह कह रहा था। "मेरा क्या अपराध है? इस समय आपको मेरे स्वर से सुलोचना का शब्द अधिक प्रिय है। वह तुमसे कुछ न कह चली गई इसे मैं क्या करूँ? इतने साल हुए क्या मैं एक बार भी कमरे से बाहर गया हूँ?"

दादासाहब को जान पड़ा कि सितारपर क्रोध करना उचित न था।

उनके सामने उस इतिहास प्रसिद्ध घटना का चित्र खिंच गया जब तानाजी कोंडाणा (सिंहगढ़) जीतने जा रहा था। उस रात तानाजी भी अपनी यशवन्ती नामक गोह पर इसी तरह रुष्ट हुआ था। उसने नित्यप्रति के अनुसार आज भी यशवन्ती को क़िले की दीवारपर फेंका था। किन्तु उसके नाखून कहीं गड़ते ही न थे। वह नीचे वापस आयी। तानाजी चिढ़ गया और चिल्ला उठा,

"यशवन्ती, अबकी बार यदि चुपचाप ऊपर बैठी तो ठीक है। अन्यथा तेरी बोटी बोटी काटकर रोटी के साथ मेरे इन वीरों को खिला दूँगा।"

आश्चर्य हो यही था कि दादासाहब समान मनुष्य ने सितारपर क्रोध निकाला था। इस बातपर वे स्वयं हँस पड़े। उन्होंने अत्यंत कोमल हाथों से सितार उठाया और कोने में रख दिया।

वे बहुत देर तक बिस्तरे पर पड़े रहे किन्तु नींद उनसे दूर ही भागती रही। उनके हृदय में कांटे से चुभे थे।

उठकर उन्होंने सिरहाने की खिड़की खोली। इतना अँधेरा उन्होंने कभी न देखा था। आकाश भी धूसर हो रहा था। यदि कोई कहता कि आकाश में करोडों तारे चमकते हैं तो वह भी इस समय झूठ साबित होता।

उन्हें आभास हुआ कि उनका मन भी आकाशसमान ही धूसरित हो चला था। उनके मन के तारे—

उन्होंने सोचा कि सुलोचना के बारे में व्यर्थ विचार करने के बजाय अच्छा यही होगा कि वह किताब लिखते बैठें जो वे लिख रहे थे।

मेज की पासकी कुरसी पर वे जा बैठे। पास ही की अलमारी खोली। दस बीस डायरियाँ बाहर निकाली। डायरियाँ देखते देखते वे सोच रहे थे कि वे डायरियाँ न थीं। उनके जीवन में जिन जिन फूलों की बहार आई थी उन फूलों के इत्र की कुप्पियां थीं वे। यदि उन्हें डायरी लिखने की आदत न होती तो फूलों की सूखी पँखुडियाँ ही उनके हाथ रहतीं। उनके मधुर गंध की कल्पना भी—

सगर्व उन्होंने एक डायरी उठाकर खोली। उनके चेहरे पर हास्य-रेखा दौड़ गई। एक पन्नेपर विवाह के बाद के एक दिन का वर्णन लिखा हुआ था। घूमने जाने के समय उनकी पत्नी प्रायः टालमटोल कर देती थी। कारण यह था कि वापस आनेपर खाना तैयार होने में बहुत देर लगती थी। किंतु उस दिन अपने साथ वे उसे ले ही गये थे। प्रणय और एकांतमें बड़ी गहरी दोस्ती होती है इसीलिये प्रोफेसरसाहब उस दिन नवपरिणीता को लेकर गाँव के बाहर बहुत दूर निकल गये। शायद उत्तररामचरित का सीताराम का वनविहार भी उनके ध्यान में रहा हो। नदी किनारे पानी में पैर डुबोये दोनों बहुत देर तक बैठे रहे। आकाश में चाँदनी छिटक रही थी। उसने अपनी सुहावनी मोहिनी समय पर भी डाल दी थी।

बीच ही में 'बहुत देर हो गई' कहकर पत्नी उठने का प्रयत्न करती तो वे उसका हाथ पकड़ लेते और कहते, "अभी आठ ही तो बजे हैं।"

वापस आनेपर दस बजे चुके थे। पत्नी ने कहा, "अब तो खाली दाल चावल बनाऊँ फिर भी एक घंटे से कम न लगेगा। और फिर सबेरे आपको जल्दी उठना ही होगा।"

दादासाहब इतने अरसिक न थे कि इस अमानुष समय उसे रसोईघर में जाने देते। उसका हाथ पकड़ कर उन्होंने कहा, "भूख है किसे आज?"

"सुहावनी चाँदनी से कहीं पेट भरता है?"

"परन्तु अमृत से?"

उन्होंने उसे उत्तर देने का अवसर ही न दिया। उसे अपने पास खींचकर उन्होंने इतनी उत्कटता से चुंबन लिया कि—

इस समय दादासाहब के सामने डायरी का पन्ना न था कि बल्कि पच्चीस साल पूर्व का एक कमरा था—

उस दिन हम दोनों खाली पेट ही सो गये थे। प्रातःकाल पाँच के पूर्व ही उठकर पत्नी चाय के साथ बेसन की पूरियाँ बना लाई। मुझे बहुत पसंद थीं बेसन की पूरियाँ। मेरा आनंद अपूर्व था। विवाह के समय पति-पत्नी के एक दूसरे को कौर देने की प्रथा को बहुत लोग निरा बचपन समझते हैं। किंतु एकांत में पत्नी को कौर देनेमें कितना काव्य है इसका अनुभव प्रथम ही मैंने किया—

किसी पुराने तैलचित्र के फीके रंगों को कोई जादूगर फिर चमकीले बना दे। काल के प्रवाह में लुप्त हुई स्मृति इसी तरह फिर वापस आई थी।

दादासाहब ने वह नोटबुक खोली जिसमें वे अपना ग्रंथ लिख रहे थे। यह नयी अनुभूति लिखने के लिये उन्होंने हाथ उठाया—

लेकिन उन्होंने सोचा कि इतने क्षणिक सुखदुःख का वर्णन अपनी डायरी में करना निरर्थक है।

उन्होंने नोटबुक का पहला पन्ना खोला। बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था—

"एक बुद्धिवादी मनुष्य की आत्मकथा।"

उनके जीवन में बुद्धिवाद ने किस तरह पदार्पण किया? बुद्धिवादी जीवन यापन करते समय कैसी कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? किस तरह बुद्धिवाद के प्रचार के सिवा देश की परिस्थिति सुधरना असंभव है? उनकी

आत्मकथा में इन बातों का समावेश भी आवश्यक था। 'इस दृष्टिसे भावुकतापूर्ण स्मृतियों का कोई स्थान आत्मकथा में न होना चाहिये। उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनायें—

पिताजी बहुत बीमार थे। मैंने व्रत रखना प्रारंभ किया। पानी भी न पीता था। हरिकीर्तन और कथा–पुराण सुनकर मेरा विश्वास था कि ईश्वर अवश्य ही भक्तों की पुकार सुनकर दौड़ आता है। किंतु व्रत के तीसरे ही दिन पिताजी स्वर्ग सिधारे। कितना हृदयस्पर्शी दृश्य था! कष्ट से पिताजी इतने कराह रहे थे कि सारी गली में कराहना सुनाई देता था। उन्होंने छोटे छोटे कृमि–कीटकों को भी कभी दुःख न दिया था। किंतु उनके प्राणपखेरू सुख से न उड़ सके। उसी क्षण मैं नास्तिक बन गया।

दैवी कटुता का अनुभव मुझे इसतरह मिला। मानवी कटुता के अनुभव भी कम न थे। हमारे समाज की भूतदया केवल भरपेट भोजन करने के उपरान्त भिखारियों को दो चार रोटी के टुकड़े फेंकने तक ही परिमित है। मैं एक होशियार विद्यार्थी था। लेकिन मेरी मदद करने कौन सखी का लाल धनवान् आगे आया? बुद्धि की तुलना में मेरे पसंघे में भी न ठहरनेवाले बीसियों विद्यार्थी हर मास सौ रुपये के मनिआर्डर पर हस्ताक्षर करते थे! और मैं? समय पर रुपये आठ आने के लिये मुहताज रहना ही मेरे नसीब में बदा था। इंटर के दर्जे में मैं दो मास तक एक ही समय भोजन करता था। केवल इसलिये कि कुछ आवश्यक पुस्तकें मोल ले सकूँ। वह याद आज भी उतनी ही करुण है।

मैंने एम्. ए. पास किया। उसके बाद मेरा विवाह हुआ। मेरे विवाह ने एक भयंकर तूफ़ान खड़ा कर दिया था। मेरे विवाह के विरुद्ध कुटुम्ब के लोग इसलिये थे कि लड़की हमारे जात की न थी। किन्तु समाज ने यह कह कर हमारे मार्ग में रोड़े अटकाने का प्रयत्न किया था कि लड़की की चाल ढाल अच्छी नहीं है। लेकिन मैं प्राइमरी स्कूल की एक अध्यापिका पर होनेवाले अन्याय को न देख सका था। स्कूल का डिपटी उसे प्रेमपत्र भेजा करता था। वह भी उसकी इच्छा के विरुद्ध! लेकिन इसमें उस बेचारी का क्या अपराध था? मैंने कभी भूलकर भी उसका पूर्वचरित्र जानने का प्रयत्न न किया और उससे विवाह किया। और रिश्तेदारों ने हमेशा के लिये मेरा संबंध तोड़ दिया।

रिश्तेदारों के बहिष्कार की मैंने कभी पर्वाह न की। किन्तु मेरे ही घर में जब

मेरी पत्नी पूजा पाठ करने लगी तो मुझे बहुत खटकने लगा। उसकी श्रद्धा पराकोटितक पहुँच गयी थी। पत्थर के देवताओं ने अंत तक उसकी पुत्रेच्छा को पूर्ण न किया।

मेरे बुद्धिवादी विचारों से देवताओं का स्थान तनिक भी न हिला। किन्तु सुलोचना की बाललीलाओं ने उन्हें अस्थिर कर दिया। सुलोचना के विचार बिलकुल बाप जैसे थे। मेरी बातचीत सुनकर वह भी ईश्वर का मज़ाक उड़ाने लगी। एक समय तो कैरियाँ गिराने के लिये उसने इन देवताओं की ही मदद ली थी "पागल कहीं की। क्या किया यह?" उसकी माँ ने क्रोध से पूछा। "इनसे अधिक अच्छे पत्थर मुझे कहीं नहीं मिले तो मैं क्या करूं?" कन्यारत्न ने शांतता से उत्तर दिया।

सार्वजनिक जीवन में बुद्धिवादी मनुष्य को प्रायः विरोध का सामना करना पड़ता है। उसका भी अनुभव मुझे था। गांधीजी ने स्कूलों और कालिजों का वहिष्कार करनेका आदेश दिया था। उस समय मेरा अपना मत यह था कि शिक्षा ही संस्कृति–रक्षा का एकमेव साधन है। लेकिन मेरे इस मत का स्वागत नहीं किया गया। गांधी–विरोधी व्यक्तियों ने भी उसे ग्राह्य नहीं समझा। चरखे के दीवाने गांधीजी पर मैंने आड़े हाथों टीका की थी और कहा था कि पहले रेलगाड़ी छोड़ बैलगाड़ी में बैठना शुरू करना चाहिये। मेरा एक विधान था, "यद्यपि गांधीजी बाह्यतः सुधार–वादी मालूम होते हैं फिर भी वे कट्टर से कट्टर पुराण–पंथी हैं।" इस विधान का विवेचन मैंने अतीव सुन्दरता से किया था। किसी ने भी उस विधान का खंडन नहीं किया। हाँ, कुछ गांधीभक्तों ने गालियाँ अवश्य प्रदान की थीं। फिर सविनय–अवज्ञा का आंदोलन शुरू हुआ। नमक का कानून भंग करने के लिये दांडी यात्रा हुई। मैंने गांधीजी का उल्लेख 'दूसरे स्वामी लवणानंद' कह कर किया था। इस उपहास को लोगों ने केवल विरोधी की ही दृष्टि से देखा। लेकिन क्या यह सच नहीं है कि गांधीप्रणीत आंदोलन का स्रोत और नेतृत्व भावुकता और अंधश्रद्धापूर्ण होने के कारण गत दसबीस सालों से हमारी स्वतंत्रता का प्रश्न अचार में पड़ गया है? गांधीजी बुद्धिवादी होते तो 'वीर' सावरकर और 'जनाब' जिना कभी के मैदान छोड़ 'रणछोड़' पद को प्राप्त होते! पर...

शीशे में चेहरा देखते समय मनुष्य अपनी सुन्दरता की सराहना ही किया करता है। अपने पूर्वचरित्र का सिंहावलोकन करते समय क्या आश्चर्य है कि

दादासाहब की यही स्थिति थी! वे मन ही मन कह रहे थे—यदि इसी समय यमराज मुझे स्वर्ग ले चले तो मैं छाती निकालकर चित्रगुप्त के सामने खड़ा रहूँगा, और कहूँगा "मेरे जीवन का हिसाब सही सही लिखा गया है। एक पाई का भी फ़र्क न मिलेगा।"

आत्मसमाधान भी एक तरह के नशे का नाम है। इसी नशे में दादासाहब कुरसीपरसे उठे और बिस्तरेपर लेट गये। उन्हें पता ही न था कि उनकी आँख कब लग गई।

किंतु एक पक्षी के हृदयभेदी क्रंदन ने उन्हें जगा दिया।

उन्होंने नेत्र खोल दिये—बाहर पक्षियों का कलरव सुनाई दे रहा था—परन्तु वह क्रंदन? उन्हें याद आया। उन्होंने एक स्वप्न देखा था—स्वप्न में वे बने थे वाल्मीकि और जोर जोर से चिल्लाकर कह रहे थे—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥'

मुँह हाथ धोकर वे चाय पीने बैठे। उनका मन अधिकाधिक अस्वस्थ हो रहा था। सुलोचना का कुछ पता न था।

भगवन्तराव को क्या ख़बर की जाय? तार का उत्तर तो भेजना ही पड़ेगा।

यदि वह रामगढ़ गई हो तो अबतक पहुँच भी गई होगी। वह पहुँचने पर तार अवश्य भेजेगी। टहलकर वापस आनेतक संभव है सुलोचना का तार आ भी जाय।

'डूबते को तिनके का सहारा!' सुलोचना के तार की कल्पनाने दादासाहब के निराश मन को यही सहारा दिया।

बड़ी खुशी से वे घूमने जाने निकले।

साइकिल परसे अख़बारवाला चिल्लाता जा रहा था। "फाँसी की सज़ा माफ़! फांसी की सज़ा रद्द!" दादासाहब ने आवाज़ दे उसे ठहराया और एक अख़बार मोल लिया। बड़ी उत्सुकतासे पहला पन्ना पढ़ना प्रारंभ किया। किन्तु—आनंद की बहिया आई और बह गई!

अख़बार में दिनकर की फाँसी माफ़ होने के बारे में कोई वार्ता न थी। राम-

गढ़ के राजा ने केवल एक सुविधा दिनकर को दी थी। वे स्वयं दिनकर का बयान सुननेवाले थे। दिनकर से अपनी कैफ़ियत फिर पेश करने को कहा गया था। वह कैफ़ियत पढ़—आवश्यक हुआ तो मुक़दमे की सुनवाई फिर कर—राजासाहब अपना अंतिम फैसला कल देने वाले हैं—यह थी अख़बार की वार्ता।

न्यायदान यद्यपि नाटक है फिर भी एक गंभीर नाटक है। किन्तु हमारी रियासतों में उसका प्रहसन में रूपांतर होते देर नहीं लगती यह दादासाहब ने भी सुना था। इसलिये अख़बार की जो वार्ता अख़बारवाले को दिनकर के माफी का दिलासा दे रही थी उसमें उन्हें आशा की कोई किरण दिखाई न दी। अखबार ज्यों का त्यों हाथ में लिये उन्होंने पहाड़ी चढ़ना प्रारंभ किया।

शीघ्र सूर्यमहाराज के दर्शन हुए। परन्तु उदयोन्मुख सूरज की रक्तिमा देखकर उनके मन में एक कल्पना दौड़ गई। किसी ने सूरज का शिरच्छेद किया है और उसका रुधिरासक्त मस्तक आकाशमार्ग से सुरलोक की यात्रा कर रहा है। इन्द्रजित् का हाथ उसकी पत्नी के सन्मुख आ गिरा था न? वह मस्तक ठीक उसी प्रकार—

दादासाहब हँसी न रोक सके। जन्मभर संस्कृत पढ़ाने के कारण संस्कृत-साहित्य की कल्पनाओंकी पकड़ उनके मन पर कितनी गहरी है यह उन्हें आज मालूम हो रहा था। मनुष्य के विचार और बाह्य परिस्थिति इनका प्रायः कार्यकारण संबंध रहता है। यदि दादासाहब फुटबाल के खिलाड़ी होते तो यही सोचते कि सूरज किसी प्रवीण खिलाड़ी का फेंका हुआ फुटबाल ही है।

उन्होंने अपनी चारों ओर पहाड़ी पर नजर डाली। कितनी ही स्मृतियाँ उनके मन में जाग उठीं। यहीं, एक समय उन्हें और नन्ही सी सुलोचना को वर्षा ने आ घेरा था। यहीं, अमावास्या की एक अँधियारी रात में वे आये थे—यौवन में पदार्पण करनेवाली सुलोचना का हठ पूरा करने। उस समय सुलोचना बिजली की बेटरी न खोले आगे जा रही थी। उन्होंने उससे कहा था, "ठीक नीचे देखकर चल, बेटी।" उसने हँसते हुए उत्तर दिया था, "ऊपर लाखों तारे खिले हैं। उन्हें देखूँ या पैर की तरफ देखूँ?" उसके इस काव्यपूर्ण उत्तर के कारण मैं यह कह ही न सका कि रात बेरात सांप बिच्छू का डर रहता है।

वह उभरी हुई चट्टान—वह जगह सुलोचना को बहुत पसंद थी! एक बार वहाँ—

बरसात में बत्ती के चहुँ ओर कीड़े इकट्ठा होते देर ही नहीं लगती। पहाड़िया के भिन्न भिन्न स्थान देखकर उनके मन में भी मधुरस्मृतियाँ इकट्ठा होने लगीं। किन्तु स्मृतियों का चित्रपट संपूर्ण देखना बिलकुल असंभव था।

वे नीचे उतरने लगे। उतरते उतरते उन्होंने सोचा कि पोस्ट-आफ़िस पर से होते चलें। यदि सुलोचना के पहुँचने का तार भगवन्तराव ने दिया होगा तो मिलेगा और मन का भार कुछ हलका हो जायगा।

बड़ी जल्दी जल्दी वे पोस्ट-आफ़िस तक गये। डाकघर हालही में खुला था।

उन्होंने बाबू से पूछा, "क्या मेरे नाम कोई तार आया है?" बाबू ने नाक पर की ऐनक कुछ हिलायी सी और कहा, "नहीं तो।"

अंदर की तरफ़ एक पोस्टमेन चिट्ठियों पर मोहर लगा रहा था। वह आगे बढ़ा और बोला, "आपके नाम चिट्ठी है यह।"

अधीरता से हाथ खिड़की से अंदर डाल दादासाहब ने चिट्ठी हाथ में ले ली। चिट्ठी के इस आदान-प्रदान में आधा मिनट भी न लगा होगा। किन्तु यह देरी भी उन्हें असह्य हो उठी। उनका हाथ काँप रहा था। चिट्ठी हाथ में पड़ने पर भी काँपना बंद न हुआ।

शीघ्र ही उन्होंने हाथ बाहर निकाला और एक नजर चिट्ठी के अक्षर को देखा। उनका प्रफुल्ल मन कह रहा था—सुलोचना का ही खत है। मालूम होता है जल्दी के कारण पेंसिल सेही लिखा है—कहीं कलम न पायी हो—और मुझे चिंता न हो इसलिये पेंसिल हाथ पड़ी तो उसी से लिख दिया। पत्र के ऊपर की मुहर ही बता रही है। रेल में ही पत्र लिख रेलके डाकवाले डिब्बे में डाल दिया है।

लेकिन लिखा है कहाँ से?

मुहर कुछ अस्पष्ट है!

और चिट्ठी में यह कठिन सा पदार्थ क्या है?

कहीं बालों का काँटा तो नहीं गिर पड़ा चिट्ठी में?

बहुत ही जल्दबाज है बच्ची!

दादासाहब ने लिफ़ाफ़ा खोला। अंदर का पत्र—उसे पत्र कहना पत्र का अर्थ बिगाड़ना होगा। एक क़ागज़ का टुकड़ा था वह। उन्होंने उसे खोला। नीचे कोई चीज खन् से गिर पड़ी।

उन्होंने झुककर नीचे देखा। एक चाबी कागज़ में से नीचे गिर पड़ी थी।

चाबी! इस चाबी का क्या प्रयोजन है? वे हाथ में का कागज पढ़ने लगे। उसमें केवल इतना ही लिखा था—

"मेरी खोज करने का प्रयत्न न कीजिए। मेरी चिंता करना व्यर्थ है। मैं अब आपकी नहीं हूँ—न भगवन्तराव की। मेरी मेज़ के बायें हाथ के दराज़ की चाबी भेज रही हूँ"

मकान आने तक नाना तर्कवितर्कों ने कुहराम मचाकर उन्हें व्याकुल कर दिया। जंगल में जल्दी में चलते समय कभी कभी कपड़े का छोर काँटों में हिलग जाता है और सुरझे नहीं सुरझता। यही हाल प्रोफेसर साहब का था। मेज़ का वह बंद दराज़—यह चिट्ठी–और वह चाबी–उस दराज़ में कुछ भयंकर रहस्य छिपा है—यह कल्पना उनके मनको ही नहीं बल्कि शरीर को भी कँपा रही थी। मेज़ के उस रहस्य का परिणाम आत्महत्या ही हो सकता है यही उनका अनुमान था। किन्तु सुलोचना ने आत्महत्या के मार्ग का अवलंब क्यों किया यह एक पहेली थी। सुलोचना को किस चीज़ की कमी थी? एक रियासत के राज–प्रिय अफ़सर की पत्नी थी वह। रहने को आलीशान बँगला, टहलने को रोल्स राइस मोटर, पढ़ने को नयी नयी अंगरेजी किताबें—सबकुछ था।

संतान? यह सच है कि अभी कोई बच्चा न था। एक लड़का हुआ था पर जन्म के दसवें दिन ही चल बसा था। दुर्दैव का यह आघात सुलोचना और भगवन्तराव दोनों को असह्य था।

लेकिन अभी तो सुलोचना पूरे पच्चीस साल की भी नहीं हुई है।

आज या कल पुत्रप्राप्ति अवश्य होगी।

और फिर सुलोचना एक अपढ़ लड़की तो है नहीं जो इस कारण आत्महत्या करे कि जीवन में कुछ अभाव है। बी. ए. पास, बुद्धिवादी बाप के सुसंस्कारोंमें पली—

फिर फिर दादासाहब अपने मन को विश्वास दिला रहे थे कि मेज़ में आत्म-हत्या के पत्र की जगह और ही कुछ है। पर क्या बीमार मनुष्य कभी मृत्यु की कल्पनासे मुक्त रह सकता है? दादासाहब भी सुलोचना की आत्महत्या की कल्पना को मन से न निकाल सके।

मेज़ के दराज़ को चाबी लगाते समय उनका हाथ बहुत ही काँपने लगा। इस बिल में नाग है। यह जानकर भी हाथ डालना पड़े ऐसा ही कुछ—

जी थामकर उन्होंने दराज खोला।

ऊपर ही एक बड़ी सी पुड़िया उन्हें दिखाई पड़ी।

सोचने लगे—कहीं ज़हर तो नहीं है? ज़हर की कल्पना ही से वे पसीने से तर हो गये।

बड़ी कठिनाई से उन्होंने पुड़िया खोली। शायद वह नमक था। उन्होंने दो अंगुलियों से कुछ थोड़ा सा उठाकर मुँह में डाला। हाँ, वह नमक ही था।

ज़हर और नमक के अंतर में जी हलका करने की काफ़ी शक्ति होती है।

पुड़िया के नीचे एक मोटीसी नोटबुक थी।

उन्होंने नोटबुक खोली। पहले ही पृष्ठ पर लिखा था—

(किसी लेखक का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन में एक उपन्यास लिख सकता है। अभी कलपरसों तक मेरा इस कथन में विश्वास न था। किन्तु अब एक बात मैं अच्छीतरह समझ गई हूँ। जीवन ही एक उपन्यास है। हाँ, मेरी जैसी लड़की का जीवन भी!

लेकिन केवल कथावस्तु के तैयार रहने से ही उपन्यास थोड़े ही लिखा जाता है? कला का वरदहस्त भी—

मुझे कला की क्या आवश्यकता है?

रंगमंचपर आनेवाले अभिनेता को रंग और कपड़ों की जरूरत होती है। पर, अपने ही मकानमें शीशे के सामने जो एकांत में खड़ा रहना चाहता हो उसे इस कृत्रिम वेषभूषा की क्या जरूरत?

मेरा उपन्यास भी इसी प्रकार है। वह स्वान्तःसुखाय है। संभव है दादा को पढ़ने देना पड़े। क्या मैं वह कर सकूँगी?)

पता नहीं मेरा वह उपन्यास दादा पसंद करें या न करें। यह कहानी पढ़कर उन्हें अपनी लाड़ली बच्ची पर क्रोध आएगा या—

सत्य किसी के क्रोध या प्रसन्नता की पर्वाह नहीं करता।"

एक पृष्ठ यहीं समाप्त हुआ था। अगला पृष्ठ—

दादासाहब सहम गये। क्या लिखा है आगे? उनकी उत्सुकताने डर पर विजय प्राप्त की। उसी क्षण उन्होंने पन्ना पलटा।

২

चार पाँच दिन हुए मुझे रामगढ़से आकर! भगवन्तराव से न पूछे! उनसे कहने लायक था ही क्या? तार ठीक मिलाये बग़ैर सितार में से संगीत के स्वर बाहर नहीं निकलते। मन मिले बग़ैर पति-पत्नी के जीवन में सुख कैसे निर्माण हो सकता है?

जो हुआ है, जो हो रहा है उसमें अपराध किसका है?

कभी कभी जी कह उठता है—यदि भगवन्तराव का स्वभाव थोड़ा भिन्न होता तो क्या ही अच्छा होता! खाली मीठा खाकर जीभ का स्वाद जाता रहता है। यह सच है कि खट्टी चीज़ मनुष्य को अधिक पसंद नहीं आती। किन्तु नमकीन का अभाव भोजन में अवश्य खटकता है।

बचपनमें मैं अंगूर की अपेक्षा नमक लगी आम की कैरी अधिक पसंद करती थी। वह देख माँ कह उठती, "सुलोचना दुनिया से न्यारी है!"

क्या सचमुच मैं दुनिया से न्यारी हूँ? रामगढ़ में हर स्त्री यही कहती; "भगवन्तराव समान सहृदय और सम्पन्न पति मिलने के लिये पूर्वजन्म की तपस्या ही चाहिये।" ये शब्द सुनकर मैं ऊब गई थी। किंतु मैं उनके साथ रह कर सुख प्राप्त न कर सकी। काश्! भगवन्तराव थोड़े भी दिलीप सदृश होते! थोड़े तो भी पराक्रमी—थोड़े तो भी—

मेरा दिलीप—समाज का दिनकर—

क्या होगा उसका ? रामगढ़ के लोगों में वदंता है कि उसे फाँसी की सज़ा होगी। यहाँ आते समय रेलगाड़ी में भी यही वार्तालाप हो रहा था।

दिलीप को फाँसी !

जिस मुखकमल को देख मैं बचपन में अपने आपको भूल जाती थी—उसी मुँह पर काला कपड़ा डाल—जीवन में संकटों के समय जिस गले में गिर मैंने अनेकों बार रोना चाहा—उसी गले में रामगढ़ के जेलखाने में फाँसी—

अरे बाप रे !

मैं कितनी डर गई !

यही सब भूलने के लिये तो मैं रामगढ़ से यहाँ आई हूँ। जीवन बचाने की एक मात्र इच्छासे भागने वाले खरगोश की तरह भागती हुई आई मैं यहाँ। मैंने सोचा था—खरगोश के बिल में उसका कोई शिकार न करेगा। मैके में मैं भी ठीक उसी तरह सुरक्षित रहूँगी।

किन्तु—

किसी तरह मेरी यह हिम्मत न हुई कि पिताजी से मेरे आने का कारण निवेदन करती। कमरे का दरवाजा अंदर से बन्द कर, आराम-कुरसी में बैठे शून्य दृष्टिसे बाहर देखते रहना अथवा तकिये में मुँह छिपाकर मनभर कर रोना—इन्हें छोड़ और कुछ मुझे सूझता ही नहीं था।

जिस दिन मैं आई उस दिन मारे थकान के बुरा हाल था मेरा। भोजन पश्चात् तुरन्त ही मैं बिस्तरे पर जा लेटी। थकान के कारण तुरन्त ही मुझे नींद आ गई।

मध्यरात्रि के समय सहसा मेरी आँख खुल गई। मेरा सारा शरीर काँप रहा था। सारा बदन पसीने से भीग गया था। आँखें खोलकर मैंने चारों तरफ़ देखा। मुझे विश्वास न होता था कि मैं अपने ही कमरे में हूँ। आँखों में वही भयंकर स्वप्न भरा था।

दिलीप के गले में फाँसी की डोरी—उसकी अंदर धँसी हुई आँखें—वह बाहर निकली खिंची हुई जीभ—

बचपन में जब मैं डरती थी तो दादा के पास दौड़ जाती थी। उनकी गोदी में जा बैठती थी। पर आज—

आज मैं बच्ची नहीं, एक स्त्री हूँ। दादा की गोद में जाकर रोने की मुझे शर्म

आती है। ऐसे समय बड़ा होना एक शाप प्रतीत होता है। मेरा दुःख दादा से भी कहने की चोरी हो गई है अब तो। उस भयंकर स्वप्न के डर से अब मुझे नींद भी नहीं आती। बचपन में यदि कोई चीज़ न मिलती तो मैं रो रो कर सो जाती थी। फिर नींद में एक परी आकर वह चीज़ मुझे दे जाती थी। किन्तु आज न कोई परी न कोई देवी स्वप्न में आकर मेरे प्रिय दिलीप को छुटकारा देती है।

दिलीप—दिलीप—दिलीप—

उसके नाम की जपमाल लिये आँसू बहाना यही मेरा अब एक मात्र सहारा है। लेकिन उसका उपयोग क्या है ?

एक प्रदर्शनी में मैंने क्रौंचवध का चित्र मोल लिया था। उसे देखकर दिलीप ने कहा था, " किसी भी देश में क्रांति आँसुओं से नहीं होती। क्रान्ति को एक ही नैवेद्य की भूख होती है। वह नैवेद्य है भक्त का रक्त ! "

दिलीप के वे शब्द उस समय मुझे बड़े विचित्र मालूम हुए। आज ! क्या मेरा रक्त बहाकर दिलीप का छुटकारा करना संभव है।

नहीं !

लेकिन किसी भी प्रकार नींद नहीं आती। उजियाला मानों खाने दौड़ता है। बैठे बैठे शरीर जकड़सा जाता है। फिर मैं बत्ती बुझाकर बिस्तरे में जा गिरती हूँ—

लेकिन अँधेरे में मुझे मेरे जीवन का चित्रपट दिखने लगता है। उस चित्रपट का अत्यंत महत्त्व का दृश्य अब प्रारंभ हो रहा है।

उसका अंत—

क्या मालूम उसका अंत कैसे होगा ? आपरेशन के समय रोगी को क्लोरोफ़ार्म देकर उसे बेसुध कर देते हैं। मैं भी मेरे मन को बेसुध करने की खोज में हूँ। निम्बू का अचार जब खूब पुराना होता है तो बहुत स्वादिष्ट लगता है। जीवन की पुरानी-स्मृतियाँ भी इसी तरह—

मेरा जन्म सावन में हुआ। जन्माष्टमी के दिन ही प्रसूति की वेदनाएँ होने लगी थीं मेरी माँको। तभीसे एक ही रट लगी थी माँ की, " आज अष्टमी है। मुझे लड़का ही होगा। उसका नाम रखेंगे मुकुन्द ! "

मानव अपनी छोटी छोटी आशाओं के किले बाँधा करता है। और दैव ?

दैव एक छोटे से बच्चे समान है। आशाओं के किले गिराना ही उसकी सुखदायी क्रीडा हुआ करती है।

मेरी माँ ने दाई से पूछा, " क्या हुआ ! "

" लड़की ! " उसने उत्तर दिया।

माँकी आशा का किला कुछ टूट सा गया। दादा कमरे के बाहर चक्कर काट रहे थे। कन्याजन्म की वार्ता सुनकर वे फूले न समाये।

दादा हमेशा माँ से कहा करते थे, " मुझे लड़की ही चाहिये थी। आजकल की लड़कियाँ लड़कों के कान काटती हैं।

मेरे जन्म दिवस के दिन माँ मेरी आरती उतारती। उसकी आँखों में आनंद का नीरांजन जगमगा उठता। सब के बाद जब वह खाना खाने बैठती तो हाथ का कौर हाथ में ही रह जाता।

मेरा आठवाँ या नवाँ जन्म-दिन था। भोजन के समय पापड़ पर खूब हाथ मारा था मैंने। रसोई से बाहर निकले आधी घड़ी भी न बीती थी कि मुझे बहुत प्यास लगी। मैं फिर रसोईघर में गई। माँ अकेली खाना खा रही थी। हाथ का कौर हाथ में ही था। मन कहीं और ही अटका हुआ था। मैंने सूक्ष्मता से उसकी ओर देखा। शायद उसकी आँखों के किनारे पानी झलक रहा था। मैंने माँके गले से लिपटकर उससे पूछा,

" क्या हुआ माँ ? "

" कुछ नहीं। " उसने उत्तर दिया।

" अकारण कोई कभी रोता भी है ? " मैंने प्रौढ़ता बताते हुए प्रश्न किया।

" कुछ नहीं—तरकारी काटते समय अंगुलि कट गई है—उसमें अभी नमक लग गया था। "

" देखूँ माँ कहाँ कट गई है अंगुलि ? "

माँ ने मुझे अंगुलि न बताई। मेरा विश्वास था कि वह मुझे धोखा दे रही है। मैंने गंभीरता से कविता के सुर में कहा—

' झूठ बराबर पाप। '

माँ की आँखों में पानी था ही। अब मुँहपर हास्य चमका। धूप और छाया

एक हो गये। उसने मुझे पास खींचकर मेरा मुँह चूम लिया और कहा, "वड़ी चटखट हो गई है तू!"

जूठे मुँह क्यों न हो—माँ के ओष्ठ स्पर्श से मेरे कण कण में आनंद नाचने लगा। माँ ने आँसुओं का सच्चा कारण वताया, "मेरी सुलोचना लड़का होती तो!"

छोटा बच्चा कभी कभी रेडियो का काम दे देता है। यहाँ की वात वहाँ पहुँचते देर ही नहीं लगती।

मैंने दादा तक ख़बर पहुँचादी कि माँ खाना खाते खाते रो रही थी।

उस दिन दादा माँको दिलासा देने के लिये दिनभर कुछ न कुछ कहते रहे। मुझे वह सब याद नहीं। पर—

खूब वर्षा होनेपर नदी में बाढ़ आ जाती है। वर्षा वंद होती है, पानी उतर जाता है। फिर पानी गिरता है, वढ़िया चढ़ आती है। पिताजी की वातचीत इसी तरह चल रही थी। स्त्री–पुरुष समानता के बारे में उन्होंने जो कुछ पढ़ा था वह सब माँ को कह सुनाया। यदि कोई लघुलेखक उस दिन हमारे यहाँ होता तो दादा के नाम एक विद्वत्तापूर्ण लेख अवश्य प्रसिद्ध हो जाता। दादा उच्च साहित्य के उपासक थे। उनकी वातचीत बुद्धिवादपूर्ण होती थी। हर रोज की फालतू बातें छापनेवाले अखवारों को पढ़ना वह समय नष्ट करना समझते थे। इतना होते हुए भी उन्होंने अपने जीवन में एक भी किताब लिखने का अवकाश न पाया था। इसीलिये तो पुरानी स्मृतियाँ याद आनेपर मैं यही सोचती रहती हूँ कि हमारे यहाँ एक लघुलेखक होता तो अच्छा होता।

उसदिन कही हुई दादा की एक ही वात मुझे स्पष्टतया याद है। वही याद रहने का कारण—

किसी धुँधली पुरानी फोटो में केवल अपनी ही आकृति जल्दी पहचान में आ जाती है शायद इसीलिये हो।

पिताजी माँ से कह रहे थे—लड़की होने पर इतना खेद करने का कारण नहीं है। लड़कियाँ भी पराक्रमी होती हैं। यह सच है कि कृष्णजी ने कंस का वध किया। लेकिन कृष्ण की वहन ने भी कंस को अच्छा चकमा दिया था। उसके जन्म के बाद पत्थर पर पटक प्राण लेने के हेतु ज्यों ही कंस ने उसे ऊपर उठाया—विद्युद्वेग से वह कंस के हाथ से निकल आकाश में चलती बनी। सुलोचना भी उसी समान होगी। बिलकुल विद्युत्!

पिताजी का पुराणों में विश्वास न था। वह उन्हें दंतकथा ही समझते थे। परन्तु माँ को समझाने के लिये कभी कभी पुराणों का आधार ले लिया करते थे। "सुलोचना भी उसी समान होगी। बिलकुल विद्युत्!" ये शब्द कहते हुए मेरे बारे का अभिमान मुझे उनकी आँखों में स्पष्ट दिखाई दिया। मैं उसे अभी तक भूलती नहीं हूँ।

लेकिन मैं विद्युत् न हुई।

क्यों?

मुझे कमी किस बात की थी? लड़कों को भी जो शिक्षा–दीक्षा मिलना कठिन है वह मैंने पिताजी के हाथ पाई थी।

फिर?

क्या मैं कभी भी विद्यत् न हो सकूँगी?

कृष्ण की बिजली समान बहन—उसने केवल अपने आप कारा से छुटकारा प्राप्त किया था। पर मुझे तो दिलीप को एक रजवाड़े की जेल से छुड़ाना है। बदला लेने के हेतु अफ़सरों ने इरादा किया है कि उसके गले में फाँसी—

हे राम!

उस दृश्य की कल्पना ही रोंगटे खड़े कर देती है! दिलीप—दिलीप—तूने क्यों मेरे जीवन में प्रवेश किया? अँधेरे को मिटाने के लिये दीपक का आगे बढ़ना और अंधकार में छिपे हुए समीर का अकस्मात् प्रकट हो उसे बुझाना—ठीक ऐसा ही हुआ है यह।

जब दिलीप ने मेरे जीवन में प्रवेश किया तब मैं यह समझ नाच उठी थी कि अमृत का प्याला हाथ लगा है।

और आज?

आज उस प्याले में अमृत नहीं है। हलाहल भरा है उसमें। दिलीप, तेरी सुलोचना भीरु है!

क्या कहा दिलीप?

"संसार में विषके प्याले हँस हँसकर मुँह लगाने वाली स्त्रियाँ भी हो चुकी हैं। कृष्णाकुमारी—मीराबाई—"

दिलीप, मैं भी यही सोचती हूँ कि तेरे लिये मैं भी विष का प्याला उठाऊँ।

मुँह से लगाऊँ और झट दो चार घूँट गले के नीचे उतार दूँ। मेरा हाथ काँपता अवश्य है, पर आगे बढ़ता है। किन्तु—

जानता चाहते हो, दिलीप, कौन मुझे पीछे खींचता है? भगवन्तराव—दादा—समाज—

* * * *

शैशव का संसार घर की चहारदीवारी तक सीमित रहता है। माँ–बाप ही उस संसार के देवता होते हैं। वह संसार—कितना छोटा! किन्तु कितना सुखमय! वे देवता कभी नाराज होते हैं। मारते भी हैं। उसमें भी सुख ही दिखाई देता है।

उन दिनों का स्मरण होता है तो मन कह उठता है—काश् मैं बच्ची ही रहती!

कितनी पागल हूँ मैं!

कलियाँ न फूलें तो सुगंध कहाँ से हो? वर्षा न हो तो अनाज कैसे हो?

शैशव और गुड़ियों के खेल एक ही से हैं। बचपन के सुख दुःख और गुड़ियों की वह ब्याह शादी सब सत्य से परे होते हैं।

मेरा बचपन का बिलकुल पहला दुःख—पता नहीं उस याद पर हँसूँ या रोऊँ?

पिताजी एकसा मुझे चूम रहे थे। बार बार हाथ लग कर कुम्हलाने वाले फूल की तरह हालत थी मेरी।

उसके बाद दादा को देखकर मैं भाग ही जाती थी!

यह बात ध्यान आते दादाको देर न लगी। उन्होंने एक नया तरीका ढूँढ़ निकाला। उन्हें चकमा दे जब मैं भागती तो वे अपने कमरे में जा सितार बजाने लगते। सितार के मधुर स्वर कर्णगोचर होते ही मैं सुधबुध भूल जाती। फिर एक लोहचुंबक की तरह वह ध्वनि मुझे दादाके कमरे में खींच लेती। मैं धीरे धीरे सितार के पास जा बैठती। एक गत समाप्त होते ही दादा ठहर जाते और फिर—

उस समय मुझे सा रे ग म का भी पता न था। लेकिन यदि सितार को स्पर्श करने का मौका मिलता तो मैं उसे छूकर दिड़ दिड़ की आवाज अवश्य सुन लेती थी। वह मधुर नाद मुझे स्वर्ग ही में पहुँचा देता था। उस नाद में जब मैं अपने आप को भूल जाती थी तब पिताजी मुझे चूम लेते थे।

किन्तु उन दिनों किसी का भी चुम्बन मुझे कष्टप्रद प्रतीत होता था।

और आज?

एक ही चुम्बन के लिये मैं भूखी हूँ। मेरे अधर प्यासे हैं। दिलीप का एक ही चुम्बन—केवल क्षणार्ध के लिये ही—दिलीप मुझे छोड़कर जा रहा है—हमेशा के लिये--फिर कैसे—

नीति की दृष्टि में यह पाप हो सकता है। पर—

दिलीप—बहुत ही निष्ठुर हो तुम! दीनदुःखियों के लिये प्राण भी निछावर करने को तुम तैयार हो गये हो—और मेरे लिये—

सारी पुरुष जाति ही निर्दय है! अन्यथा उस दिन उस गाँव में एकही कमरे में एक रात केवल हम दोनों होकर भी—

वह रात—

जीवन में दुःख बरसता है ग्रीष्मपावस की तरह। और सुख छिटकता है गुलाबजल की भांति!

ऐसी ही रात थी वह! मेरा सिर गोदी में लिये दिलीप बैठा था। मैंने आँखें खोलीं। उसकी आँखों के मेघ भाग खड़े हुए। चाँदनी चहकने लगी।

उस चाँदनी ने मेरा मन हर लिया। मैंने आँखें मूँद लीं। उसने मुझे पुकारा 'सुलोच'। (मुझे प्रतीत हुआ कि प्रणय सचमुच मानव हृदय में अमृतकलश ले छुपा रहता है।)

वह मधुर आभास—

और यह कटु सत्य!

दिलीप इस समय कारावास में है। अँधेरा ही उसका एकमात्र साथी है। क्या जेल की कोठरी की खिड़की से उसे एक भी तारका आकाश में दिखाई देती होगी? वह उससे क्या कहता होगा? विरहाकुल हो यक्षने मेघ के हाथ अपनी प्रेयसी को संदेसा भेजा था। क्या दिलीप भी मुझे कुछ—

वह क्यों मुझे संदेसा भेजने चला है? मैं भगवन्तराव की पत्नी हूँ न?

बड़ी देर तक खिड़की के पास ही थी मैं। किन्तु किसी भी तारकाने मुझसे दिलीप का संदेसा न कहा। हर सिंगार के कोमल फूल एकदम बरसते हैं। ठीक इसी तरह तारे आकाश में फैले हुए थे। लेकिन उनमें से एक भी मुझसे न बोलता था।

दिलीप तेरा वही वाक्य मुझे बार बार याद आता है—" *Men are not born. They are made.* " (मनुष्य जन्म लेता है। पर मानवता निर्माण करनी पड़ती है।) मेरा केवल जन्म हुआ। आगे और—

* * * *

बचपन से ही मैंने पिताजी का एक प्यारा वाक्य बार बार सुना था—"(जीवन यह एक पुष्पवाटिका नहीं है। वह समरभूमि है।)"

यह वाक्य मैंने बिलकुल बचपन में ही याद कर लिया था। किंतु न जाने क्यों उसका कोई संस्कार मेरे जीवन पर न हुआ था। मैंने लड़ना क्यों न सीखा? *Men are made.* मानवता निर्माण का प्रयत्न—फिर

मुझे पिताजी से लड़ना चाहिये था—और भगवन्तराव से। अकेले अर्जुन पर ही बड़े बूढ़ों तथा संबंधियों से लड़ने का संकट नहीं पड़ा। यह संकट प्रायः सभी पर एक न एक वार अवश्य आता है। जब जब यह संकट मेरे सामने आया मैं पीछे हटी। लड़ने की हिम्मत मुझ में न हुई। पिताजी तुझे भूल गये, दिलीप। मैंने भी भूलने का ढोंग रचा। मैं यही समझती रही कि दादा का मुझपर बहुत प्रेम है। मुझे छोड़ उन्हें संसार में निकट का है ही कौन? यदि मैं उनके मन के विपरीत कुछ करूँ तो उन्हें बहुत चोट लगेगी। इन्हीं कल्पनाओं ने मुझे जकड़ रखा था—और—

जीवन भी एक मामूली समरभूमि नहीं है। इस समरभूमि पर केवल शत्रुओं से लड़कर काम नहीं चलता। मित्रों के विरुद्ध भी शस्त्रग्रहण करना पड़ता है। और समय पड़ने पर अपने आपसे भी झगड़ना पड़ता है।

अपने आपसे लड़ना—स्वयं अपने आपका पराभव करना! कल्पना! कुछ अजीब सी अवश्य है।

लेकिन जितनी अजीब उतनी ही सच!

पुराण में एक कथा है कि शेषनाग के एक हजार मस्तक होते हैं। मनुष्य के भी हजारों मन होते हैं।

नहीं तो इस मेज के पास बैठने वाली पच्चीस साल की सुलोचना को दस ग्यारह साल की सुलोचना पराई न मालूम देती। रघुवंश के दूसरे सर्ग में का एक श्लोक न समझने के कारण इसी जगह सुलोचना ने आँसू बहाये थे।

और आज जीवन का अर्थ अस्पष्ट है इस लिये उसी जगह सुलोचना बैठी रो रही है।

* * * *

बार बार याद करने पर भी बचपन के आठ दस साल की बहुत ही कम स्मृतियाँ याद आती हैं। अँधेरा ज्यों ज्यों होता जाता है त्यों त्यों दूर की इमारतें अस्पष्ट होती जाती हैं; उसी तरह बचपन की स्मृतियाँ धुँधली होती जाती हैं।

एक समय आम गिराने के लिये मैंने माँ के देवताओं का ही उपयोग किया था।

और एक जगह कहीं यज्ञोपवीत या विवाह के समारोह में मैं गई हुई थी। वहाँ एक वृद्ध पंडितजी दक्षिणा के पैसे गिन रहे थे—उसमें का एक अधन्ना मैंने चुपचाप पैर के नीचे छिपा लिया। गुड़िया के गले में नक़ली मोती का एक हार मैं पहनाना चाहती थी। लेकिन पंडितजी के हिसाब में सिर्फ़ आधा आना कम पड़ने लगा। वे आपे से बाहर होकर सब जगह ढूँढ़ने लगे। अंत में मेरी चोरी पकड़ी गई। समूचे घर में उसी बात की चर्चा हो रही थी। "दादासाहब की लड़की ने पैसे चुराये।" किन्तु कितने पैसे थे यह कोई भी न बताता था। मेरे कारण मेरी माँ को शर्म से नीचे देखना पड़ा।

घर आने पर पिताजी ने मुझे बेदम मारा—रोते रोते मैं सो गई। शायद मार से मेरा शरीर दर्द करने के कारण। आधी रात गये मेरी आँख खुली। मैंने देखा—पिताजी मेरे पलंग के पास बैठकर मेरी ओर देखते हुए नन्हे से बालक की भाँति रो रहे थे। मैं एकदम उठी और "दादा, दादा" कहकर उनके गले से लिपट गई।

उस मार का दुःख केवल शरीर का दुःख था। शायद वह कष्ट एक ही दो दिन का था। लेकिन उसके लिये भी पिताजी ने आँसू बहाये।

आज मेरे मन के क्लेश किससे कहूँ? कैसे?

नृत्य का भंग होने के डर से बीच में काँटा चुभने पर भी नर्त्तकी नाचती रहती है न? उसी तरह ऊपरी तौर से मुझे हँसना पड़ता है। मुझे पिताजी को ढोंग से बताना पड़ता है कि मैं सुखी हूँ। वह सोचते होंगे कि मेरी सुलोचना कितनी सुखी है—किन्तु यहाँ तो दावानल—

दावानल के प्रारंभ का किसी को पता भी नहीं होता। मन की अनलज्वाला का ठीक यही हाल है। जब उसकी गगनभेदी शिखायें दृग्गोचर होती हैं तभी हमारी आँख खुलती है—और उनमें से आँसू बह निकलते हैं।

किन्तु वर्षा का शीतल जल-प्रपात ही दावानल को शान्त कर सकता है। आँसू नहीं।

यदि कोई ज्योतिषी मुझसे यह कहता कि आगे चल कर मेरे भाग्य में रोना ही लिखा है तो मैं उसकी गणना मूर्खों में करती ।

माँबाप की इकलौती लाड़ली बेटी मैं ! किस बात की कमी थी मुझे ? यह सच है कि माँ प्रायः बीमार रहा करती थी । पिताजी कट्टर बुद्धिवादी थे । उनका ईश्वर, धर्म, ऐसी किसी बातमें अणुमात्र भी विश्वास न था । उनकी मुद्रा अत्यंत कठोर थी । किन्तु उनमें कितनी ममता भरी थी इसका अनुभव उन दिनों प्रतिक्षण मैं लेतीही थी । नारियल के पेड़ को न डालियाँ होती हैं, न फूल, न छाया । देखने में बड़ा ऊबड़-खाबड़ होता है । किन्तु ऊँचे पर लगा हुआ फल फूटते ही उसमें से अमृत-धारा बह चलती है । ऐसे हैं पिताजी ।

पुत्र के समान उन्होंने मुझे पाला पोसा । अपने साथ ठहलने ले जाते थे । साइकिल पर बैठना सिखाया । कोट-पेंट पहनने की इच्छा भी पूरी की । इसी से मेरे हृदय में यह महत्त्वाकांक्षा पैठ गई कि उनके बाद संस्कृत की प्रोफेसर मैं ही बनूँगी । मैं शायद दस बारह साल की ही थी । बड़े बूढ़ों सा गंभीर चेहरा कर मैं कहती, " पत्थर को ईश्वर समझ उसकी पूजा करना निरा मूर्खता है । दुनिया में केवल एक ही ईश्वर है—वह है मनुष्य और मनुष्यता । और न तो दूसरे देव हैं न राक्षस भी । "

मेरी यह तोते की रट सुनकर मेरी सखियाँ जब मेरा मजाक उड़ातीं तो मैं उन्हें धड़ाधड़ संस्कृत के श्लोक सुनाती । फिर वे चुप बैठतीं । वे न जानती थीं कि संस्कृत है किस चिड़िया का नाम—और मैं तो रघुवंश भी पढ़ने लगी थी ।

* * * *

मानव-मन का पागलपन एक भाग न होता तो वही पुराना रघुवंश निकाल उसका दूसरा सर्ग मैं आज क्यों पढ़ते बैठती ? भवभूति ने उत्तररामचरित में यह बताने का प्रयत्न किया है कि दण्डकारण्य रामचंद्रजी को बहुत प्रिय था । उसका कारण ठीक तरह मैं आज ही समझ सकी । सीताजी के साथ कितने ही मधुर साल रामचन्द्रजी ने दण्डकारण्य में बिताये थे । दण्डकारण्य का प्रत्येक स्थल उस रम्य सहवास की स्मृति था ।

' अलं महीपाल तव श्रमेण । ' आखिर ये केवल कुछ निर्जीव शब्द ही तो थे । किंतु उन्हें पढ़ते ही मेरा शरीर रोमांचित हो उठता । उस श्लोक का अर्थ दिलीप ने

यहीं बताया था। " क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः " यह श्लोक समझाते समझाते वह अपनी जगह छोड़ उठ बैठा। उसकी मुद्रा कुछ गंभीर हो गई। बड़े आवेश के साथ बोल रहा था वह। जो अन्याय के विरुद्ध लड़े वही सच्चा क्षत्रिय है—आज हम सबको क्षत्रिय होना चाहिये।

मूसलधार पानी की तरह वह लगातार बोल रहा था और पानी में मुखसे भीगने वाले बालक की तरह मैं सब सुन रही थी। लेकिन पानी से तर होकर सर्दी से बच्चे काँपने लगते हैं न? मैंने भी अंगड़ाई ली और कहा, " कितने बजे हैं दिलीप, मालूम है ? "

वह रुक गया और घड़ी की ओर देखकर बोला, " घड़ी क्लर्कों के लिये होती हैं। कवियों के लिये नहीं। "

* * * *

जिस दिन रघुवंश का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ उस दिन भी उसी गंभीरता से दिलीप बहुत देर बैठा रहा। मेरी इच्छा थी कि वह हँसे, हँसावे, और मुझसे बोले। मैंने उसका चित्त आकर्षित करने के लिये बहुत चालें चलीं। मेज पर से किताब नीचे गिराई। स्याही की दवात लुढ़का दी। एक गाना गुनगुनाना प्रारंभ किया। यहाँ तक कि साड़ी की पिन से अंगुलि से खून भी निकाला। किन्तु दिलीप का गांभीर्य नष्ट न हुआ। उसने हूँ या चूँ न किया। मुझे उस तरह बैठना असह्य हो गया। मैं उसके पास गई। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लिया। और गाना कहना शुरू किया—

एक गधा था मोटा ताजा।
बना फिरे वह बन का राजा॥
कहीं बाघ—

वह बीच में ही बोल उठा—मैं इस राजा के समान होना चाहता हूँ।

मैंने कहा, " यह तो बिलकुल सरल है। "

वह आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगा।

मैंने स्पष्टीकरण किया, " इस राजा का नाम 'दि' से प्रारंभ होता है न? तुम्हारे नाम का भी पहला अक्षर 'दि' ही है। "

गंभीरता नष्ट हो गई। वह हँस पड़ा और बोला, " पागल कहीं की ! "

ये शब्द मुझे तनिक भी बुरे न लगे। मैंने कहा,

"आज से मैं तुझे दिलीप ही कहूँगी।"

उस दिन से संसार का दिनकर मेरा दिलीप हो गया। दादा और माँ उसे दिनकर पुकारते। उसके सारे मित्र उसे दिनकर ही कहते। मैं केवल 'दि' कहती। पर जब हम दोनों अकेले ही रहते तो 'दिलीप' 'दिलीप' पुकार कर नाम में दम कर देती।

रघुवंश का दिलीप राजा गायों के लिये अपने प्राण भी न्योछावर करने को उद्यत था। मेरा दिलीप भी गरीब-किसानों के लिये वही कर रहा है।

दिलीप राजा पर स्वर्ग से पुष्पवृष्टि हुई।

लेकिन मेरे दिलीप पर—

अखबारों के किसी एक कोने में दिलीप की गिरफ्तारी की वार्ता आ चुकी थी। सजा होने पर और एक बार दिलीप की वार्ता छपेगी। दादा को तो यह पता भी न होगा कि दिलीप पकड़ा गया है।

बाढ़ आई हुई नदी का लाल सा जल-प्रवाह अपने फेर से भँवर बनाते, यहाँ वहाँ टकराते दौड़ता रहता है। जग के जीवनक्रम का यही हाल है। उस बाढ़ में पत्थर फेंको तो, सोना फेंको तो, एक ही सा है। एक क्षण पानी उछलने का नाद होगा। बुदबुदे आवेंगे और फिर—

फिर सारा सन्नाटा। सोने की ईंट अति गहरी जगह रेत में जा फँसेगी।

ऐसा ही मेरा दिलीप मुझे छोड़ कहीं जा बसेगा? कहीं दूर?...—मुझे छोड़कर?

दिलीप, दिलीप, किस कुमुहूर्त पर तुम्हारी मेरी पहचान हुई?

न जाने मैं क्या क्या लिख गई!

मेरे जीवन का सच्चा प्रारंभ उसी दिन हुआ जिस दिन दिलीप हमारे घर रहने आया। पिताजी माँसे कह रहे थे, "कालिज में पढ़ने के लिये रामगढ़ का एक विद्यार्थी कल से अपने यहाँ आकर रहेगा। मेट्रिक की परीक्षा में केवल दो अंक कम मिलने के कारण उसे संस्कृत विषय की "जगन्नाथ शंकरसेठ" छात्रवृत्ति न मिल सकी। अब सुलोचना को संस्कृत वही पढ़ाएगा" मैं सब कुछ सुन रही थी। मैंने

यह भी न पूछा कि उसका नाम क्या है। लेकिन बिस्तर पर पड़े पड़े मैं उसके बारे में विचार करने लगी। उसका क़द कैसा होगा—लंबा या छोटा? उसका रंग कैसा होगा? वह संस्कृत अवश्य अच्छी जानता होगा। संस्कृत पढ़ाते समय यदि मेरी गलती हुई तो वह हँसी में उड़ा देगा या क्रोध करेगा?

मेरे न कोई भाई था न बहन। यह जानकर कि दादा और माँ से उम्र में बहुत छोटा लड़का अपने यहाँ आनेवाला है, मेरे आनंद का पारावार न रहा। हमारे यहाँ एक समवयस्क लड़का आनेवाला है। उसके साथ मैं दूर दूर तक घूमते जाऊँगी। दौड़ सकूँगी। उसके साथ मज़ाक कर सकूँगी। यदि मैं चंपे के फूल के लिये हठ करूँ तो वह ऊँचे से ऊँचे पेड़ पर अवश्य चढ़ेगा। इन मधुर कल्पनाओं ने मेरे आनंद को द्विगुणित कर दिया।

दूसरे दिन बड़े तड़के मैं जाग पड़ी। बड़ी जल्दी मुँह हाथ धो, बाल सँवार, बाहरके दरवाज़े पर जा बैठी। और घर की तरफ़ आनेवाले तांगों की बाट जोहने लगी।

गाड़ी का समय निकल गया। स्टेशन से आने वाले तांगे सवारी ले लेकर आगे निकल गये। किन्तु हमारे द्वारे कोई भी ताँगा न ठहरा। मुझे बड़ा बुरा लगा। यों ही आँखों में आँसू आगये। कमरे में जाकर मैंने आँखें पोछीं और मन ही मन कहा, "यह लड़का बड़ा बदतमीज़ है। मैं उससे कभी न बोलूँगी। वह आवे या न आवे—मेरी बलासे।" ठीक इस समय हमारे मकान के सामने ताँगा रुकने की आवाज़ सुनाई पड़ी। मैं बाहर दौड पड़ी। देखा तो ताँगे से एक गुजराती सेठजी उतर रहे थे।

दो पहर को खाने के समय मेरा चित्त ठिकाने न था। यह देख दादाने माँ से हँसकर कहा, "हमारी सुलोचना अभी से अमीर हुई दिखाई देती है। गुजराती सेठजी गीता पर एक पुस्तक लिखवाना चाहते हैं। किताब लिखी जायगी। फिर मुझे रुपया मिलेगा। तब कहीं उस दहेज से कोई धनवान् पति सुलोचना के लिये ढूँढ़ा जायगा। किन्तु, सुलोचना अभी तो दिल्ली बहुत दूर है। आज से ही अमीरों जैसा नखरे से खाना खाने की जरूरत नहीं है।"

पिताजी की यह हँसी मुझे अच्छी न लगी। परंतु सच बात भी तो कहने में मुझे शर्म लगती थी। यह मैं किस तरह बताती कि जिस विद्यार्थी के नाम तक का मुझे पता न था उसके न आने से मेरा ध्यान भोजन पर न था? क्या कोई

भी इसे सच मानता ? उस दिन शाम को भी वह न आया। मुझे विश्वास हो गया कि वह अवश्य ही बड़ा धोखेबाज़ है।

दूसरे दिन गाड़ी के समय मैंने कमरे से बाहर झाँका तक नहीं। मैं किताब पढ़ते बैठी रही। थोड़ी देर से कमरे में कोई आया सा मालूम पड़ा। महरी आई होगी यह समझ मैं पढ़ते ही बैठी रही। किसी ने आगे बढ़कर कहा, " सुलोचना देवी— "

वह शब्द मुझे चिरपरिचित सा मालूम पड़ा। कहाँ की पहचान ? मैंने गर्दन मोड़कर देखा। दिलीप खड़ा था। उसकी वह पुष्ट गर्दन—वे हँसीली आंखें—मेरे देखते ही कितने खुले मन से हँसा वह ! उसने भी निहार कर मेरी तरफ़ देखा। मानों वह कोई खोई हुई चीज खोज रहा था। उसके एक टक देखने का मतलब मैं न समझ सकी।

मैंने पूछा, " क्या कुछ खो गया है ? "

वह हँस पड़ा और बोला, " हाँ, ऐसा मालूम होता था। किन्तु अभी अभी मिल गया "

" क्या ? " मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

वह कुछ न बोला। केवल एक टक मेरी तरफ़ देखता रहा। मैं कुछ उलझन में पड़ गई और पैर की अंगुलियों से खेलने लगी।

दिलीप बोला, " फिर खो गया। "

मेरे मन में एक विचित्र सी कल्पना आई—"यह लड़का पागल तो नहीं है ?" "फिर खो गया" ये शब्द सुनते ही मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। खोया हुआ खिलौना पाकर बच्चा मारे खुशी के उछल पड़ता है। दिलीप भी आनंदित हो बोला, " आखिर खोई हुई चीज मिल ही गई। "

मेरे चेहरे से वह जान गया कि मैं यह उलझन दूर किया चाहती हूँ। उसका स्वर बदल गया। मेरे कुछ निकट आकर वह बोला। " सुलोचनादेवी, मैं कल ही आने वाला था। मेरी माँ को बुखार हो आया था। इसलिये हिम्मत न हुई कि उसे छोड़ आऊँ। कल शाम उसका बुखार उतरा। उसने मेरी पीठ पर हाथ फेर आशीर्वाद दिया और कहा, " दिनू, तू अगली शिक्षा के लिये अवश्य चला जा। अपने घोंसले में दिनरात रहे थोड़े ही कभी पक्षी का पेट भरता है ? " मैंने रात को निकलते समय उसके चरण छुए तो उसने आँखभर मुझे देखा। वे आँखें पूरी रात

मुझे गाड़ी में दिखती रहीं। मेरा मन उदास था कि वे ममताभरी आँखें अब मुझे न दिखाई देंगी। किन्तु तुम्हें देखते ही—

"मुझे?" मैं बीच में ही बोल उठी।

"हाँ हाँ, तुम्हें! तुमारी आँखें ठीक मेरी माँ जैसी हैं।"

मैंने हँसकर कहा, "देखो, कहीं मुझे कभी माँ न कह बैठना।"

मैं मन ही मन आश्चर्य कर रही थी—

कहाँ मेरा इस लड़के से एक भी शब्द न बोलने का निश्चय?

कहाँ मेरी उसकी घड़ी दो घड़ी में ही जमी हुई घनिष्टता?

कितने सुखदायी थे दिलीप के साथ के वे दिन! यदि ईश्वरने वे दिन फिर वापिस देने का वचन दिया तो मेरा सारा जीवन बदले में देने को मैं तैयार हूँ। कहा जाता है कि पानी से खून गाढ़ा होता है—शायद यह कहावत रिश्ते के बजाय उम्र के बारे में अधिक सच है। ऐसा न होता तो देखते देखते मैं माँ से भी दिलीप को ज्यादा न चाहने लगती।

दिलीप कितनी ही कविताएँ मुखपाठ सुना सकता था। उसका स्वर बहुत ऊँचा न था किन्तु मीठा था। उसकी सारी कविताएँ अब मुझे याद नहीं हैं। किन्तु कुछ कुछ पंक्तियाँ अभी भी कान में गूँजती हैं। मैं हमेशा उसे कविता कहने को बाध्य करती थी। दिलीप एक कविता बहुत चाहता था—"डंका"। उस कविता की पंक्तियाँ—

वे बड़े विप्लवी वीर
ज्ञानेश्वर जिनमें पहला

ये पंक्तियाँ बड़ी सुरीली आवाज में कहने के बाद उसने बड़े जोशीले शब्दों में ज्ञानेश्वर का चरित्र कह सुनाया। मेरी उस दिन तक कल्पना थी कि क्रांतिकारी हमेशा हथियार से ही लड़ते हैं। उस कल्पना को बड़ा धक्का पहुँचा उस दिन। मुझे मालूम हुआ कि बग़ैर शस्त्रों के लड़नेवाले भी क्रांतिकारी हो सकते हैं।

उसकी बातें भी बड़ी रसीली होती थीं। इतिहास और पुराण की सैकडों कथाएँ उसे अवगत थीं। उसने कही हुई एक कथा तो मैं बार बार सुनना चाहती थी। आंग्ल कवि ब्राउनिंङ् की कविता है एक। एक वीर योद्धा का बलिदान—वह कहानी

कहते हुए दिलीप बिलकुल तल्लीन हो जाता था। रेटिसबन का किला जीतने की शुभ वार्ता सुनाने के लिये नेपोलियन के पास वह बाल वीर बेतहाशा दौड़ता आया था। वार्ता सुनने के बाद नेपोलियन को 'शाबाश' कहने का भी अवसर न मिला। वह युवक नेपोलियन के चरणों के पास गिर पड़ा। नेपोलियन ने झुककर उसे उठना चाहा। वह वीरगति प्राप्त कर चुका था! उसकी छाती में बड़ा ज़ख़्म हुआ था!

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, हुतात्मा श्रद्धानंद इनकी छोटी छोटी तसवीरें उसने अपने कमरे में लगा रखी थीं। कभी कभी वह घंटों उनकी तरफ देखते बैठता। उस समय उसकी मुद्रा मेघाच्छादित आकाश की तरह रहती। वह बोलने लगता तो मालूम होता कि बिजली चमक रही है। लोकमान्य तिलक की वह फोटो, कितने अभिमान से वह कहता कि, जब तिलक को छः साल काले पानी की सजा मिली तब की है। वह कहता, 'पहाड़ की चोटी तूफान की भी पर्वाह न कर ऊँची उठी रहती है। तिलक भगवान् की गर्दन, देखो, उसीप्रकार ऊँची है। वे अँगरखे के साथ नीचे छोड़े हुए हाथ! घाव मारने वाले हाथों से भी अधिक शक्तिशाली प्रतीत होते हैं। १९०८ में बड़े अचल भाव से उन्होंने कोर्ट का फ़ैसला सुना और न्यायाधीश और पंचों से कहा, 'आपसे भी ऊँचा एक न्यायासन है। उसके सन्मुख मैं हमेशा निरपराध ही समझा जाऊँगा।'

जब वह इस तरह बोलने लगता तो ऐसा आभास होता कि जेल की कोठरियाँ टूट रही हैं और बेड़ियाँ खन्न् रही हैं। स्वामी श्रद्धानंद ने 'मार्शल ला' के समय चौक में खड़े हो खुली छाती पर गोली झेलने की जो तैयारी दिखाई उस साहस का भी वर्णन दिलीप बहुत सुन्दरता से करता था।

ए राम! न जाने मैं क्या क्या लिखने लगी! दिलीप के साथ के वे वर्ष! वर्ष? मुझे तो वे सब एक दिन के समान मालूम पड़ते हैं। वह दिन डूब गया—अब यह रात—कभी समाप्त न होने वाली रात आई है (दिनके बाद रात और रात के बाद दिन—कहते हैं यह सृष्टि का नियम है) मेरी यह रात समाप्त होगी? क्या दिलीप के दर्शन होंगे? उसके साथ—कितनी पागल हूँ मैं!

क्या मैं अभी तक नहीं समझी कि यह एक कालरात्रि है? क्या कालरात्रि का अंत नहीं होता? जीवन की प्रथम कालरात्रि के समय दिलीप ही मुझे धीरज बँधा रहा था। मैं उस रात्रि को भूल ही गई थी।

उस रात अगर दिलीप न होता तो मैं आत्महत्या कर लेती ? पता नहीं ! माँ की रुग्णशय्या पर के वे अंतिम क्षण याद आते ही शरीर पर रोंगटे खडे हो जाते हैं ! उस क्षण तक मैं केवल " मृत्यु " शब्द से ही परिचित थी। किन्तु मृत्यु का डरावना स्वरूप--माँका शरीर ठंड़ा हो रहा था। मुँह से शब्द निकलना मुष्किल था। अश्रु ही उसकी वाचा थी। मैं उसके हाथ पैरों पर हाथ फेर रही थी। ऐसा मालुम होता था कि लोहे की तपी हुई सलाई पर ही मेरा हाथ पड़ा है। छज्जे पर से बच्चा गिर पड़े और हम देखते रहने के बजाय कुछ न कर सकें। ठींक उसी गत से मैं माँ की मृत्यु देख रही थी। मैं रोती रोती उठी । नहीं, किसी ने मुझे उठाया। उस समय यही सूझता था कि पिताजी की गोदी में छिपकर जी भर कर रो लूँ। पिताजी बाहर के कमरे में बैठे थे। उन्होंने खिन्नवदन मेरी तरफ देखा। कुछ क्षण नीचे देखा। फिर वह गीता पढ़ने लगे—स्वर में कुछ कंप अवश्य था—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य
—न्यानि संयाति नवानि देही ॥

यह श्लोक मुझे भी याद था। मुझे भी उसका अर्थ मालूम था—किन्तु तड़ातड़ टूटने वाले हृदय के धागे कह रहे थे—यह श्लोक झूठा है। आँखों से बहनेवाली अश्रुधारा कह रही थी—यह निरा धोकेबाजी है। मेरी माँ मुझे फिर न मिल सकेगी। उसकी गोद की मधुर उष्णता का अब नाम ही रह जायगा। वह आनन्द जो मुझे उसके हाथ मेरी पीठ पर फेरे जानेसे मिलता था अब केवल एक स्वप्न ही रहेगा। रोते रोते मुझे नींद का आसरा मिला। जब मैं जगी तो रात हो चुकी थी। कोई तो भी मुझे थपकियाँ दे रहा था।

बोली से भी मधुरभाषी था वह स्पर्श !

मनुष्यसमाज बचपन में अपनी भावनाएँ स्पर्श से ही प्रकट करता रहा होगा। कभी कभी सैकडों शब्दों का काम एक कोमल-स्पर्श से निकल जाता है। हाँ, आज भी ! मानवसमाज भाषा का इतना उपयोग करने लगा है फिर भी !

मुझे थपकियाँ देने वाला वह हाथ—इतनी कोमलता से सितार पर भी कोई अंगुलि न रखता होगा ! वह थरथर काँप रहा था ! उस कँपकँपी में मुझे उस

हृदय के कंप का पता चल रहा था। माँ के मरने का इतना दुःख पिताजी को छोड़ और किसे हो सकता था? मैं मातृविहीन थी इस कारण व्याकुल हो और कौन मुझे सांत्वना देने मेरे पास आ सकता था? माँ चल बसी—हमेशा के लिये हम उससे बिछुड़ गये—इस विचार से मेरी आँखें फिर डबडबा उठीं। मुझे थपथपाने वाले पिताजी की गोद से लिपटने के लिये मैंने गरदन उठाई—

किन्तु—

वह हाथ दादा का न था।

दिलीप मुझे सांत्वना देने के लिये मेरे निकट बैठा था। मेरी आँखों में पानी देख उसकी आंखों में भी पानी हो आया। मैं उसके गले से लिपट गई। मेरे अश्रु उसके कंधे पर बहने लगे। उसके आँसू मेरी गर्दन पर टपटपाते गिर रहे थे। हृदय की आग अश्रुओं से धीरे धीरे शांत हो रही थी। उस अँधेरे में प्रकाश दिखाई दिया।

पर कमरे के बाहर पिताजी का शब्द सुनाई दे रहा था—

'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व—'

मुझे पिताजी पर बड़ा क्रोध आया। उनके वे संस्कृत शब्द मेरे कानों में उबलते तेल समान मालूम हो रहे थे। उन शब्दों से बचने के लिये मैंने दिलीप की गोद में सिर छुपा दिया। वह फिर मुझे थपथपाने लगा। आँखें मूँद मैंने उसके हृदय की धड़कन सुनने का प्रयत्न किया। मुझे वहाँ दो ही शब्द सुनाई पड़े—मेरी सुलोचना।

आज फिर मैं वही शब्द—मेरी सुलोचना—उसकी गोदी में रो रोकर सुनना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ कि ये शब्द उसके मुँह से कभी न निकलेंगे। किन्तु मुझे पूरा विश्वास है कि वही शब्द उसके हृदय के कोने कोने में अवश्य गूँज रहे हैं। क्या फिर मैं उसके हृदय पर माथा टेक वह धड़कन सुन सकूँगी? यह प्रश्न निरा पागलपन है क्यों कि वही धड़कन बन्द करने के लिये ही तो रामगढ़ रियासत में कितने ही लोगों ने बीड़ा उठा रखा है और यहाँ मैं उसे सुनने—

मनुष्य की इच्छा नंदनकानन का कल्पतरु नहीं है। वह रेगिस्तान की हरियाली है। दिलीप की रिहाई—

❧ ❧ ❧ ❧

दिलीप की रिहाई ! जिसका जीवन ही संकटों से भरा पड़ा है उसे ब्रह्मा भी रिहा नहीं कर सकता । डूबते जहाज से भी अगर कोई दिलीप की रक्षा कर उसे किनारे लगाता तो दिलीप अवश्य पूछता, "क्या आस पास कोई हवाईजहाज है ? विचार है कि तूफानी हवा में जरा टहल आऊँ !"

दिलीप तुम्हारे साहस का मैं कौतुक करती हूँ ! तुम्हारे पराक्रमपर मुझे गर्व है । तुम्हारे त्याग की मैं पूजा करना चाहती हूँ । परन्तु–इसी तुम्हारे साहसी स्वभाव ने तुम्हें मुझसे बिछुड़ा दिया है—यह स्मरण हो मैं—

पराक्रम और प्रेम का कभी कभी बिल्ली चूहे सा रिश्ता हो जाता है । इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं । अग्निज्वाला का स्वभाव ही है हवा में लहराना, नृत्य करना । क्या नाग को कभी फन निकालनेकी शिक्षा दी जाती है ? तुम भी वैसे ही—

ग्यारह बारह साल हो चुके उस घटना को । लेकिन मैं यही सोचती हूँ कि वह कल ही घटी है । अखबारों की खबरें पढ़कर ही तुम अपने आप को भूल गये थे । दादा उपहास से कहा करते थे—नमक का यह आन्दोलन समाप्त होते ही मिर्च का आंदोलन प्रारंभ होगा । किन्तु मेरे विचार तुम्हारे जैसे थे—गांधीजी नमक का सत्याग्रह करने नहीं निकले हैं । यह दिग्विजय की यात्रा है ।

शाला, बाजार, थेटर—सभी जगह गांधीजी का बोलबाला था । इक्के ताँगे वाले भी गांधी बाबा के भक्त बन गये थे । यूनिवर्सिटी की किसी परीक्षा के संबंध में पिताजी को बम्बई जाना था । उन्हें पहुँचाने मैं और दिलीप स्टेशन गये हुए थे । आते समय हम जिस ताँगे में बैठे हुए थे उसमें महात्माजी का एक छोटासा चित्र चिपका हुआ था । धोती जोडों पर अथवा कपडे पर चित्र होते हैं न ! उसी में का एक था । मैंने ताँगेवाले से पूछा, "यह क्यों लगा रखा हैं यहाँ !" चित्र की तरफ़ देखते हुए उसने कहा—"यह तो हमारे देवता हैं ।" बचपन से मैं सीखती आई थी - कि संसार में कोई ईश्वर नहीं है । पर उस ताँगेवाले के शब्दों ने मेरे हृदय में एक नई भावना उभार दी । चाँदनीरात में घूमते घूमते एकदम एक क्षण बिजली चमके और अपनी चमक से चंद्रमा को लजा दे—ठीक वैसा ही मुझे प्रतीत हुआ । मैं खुले दिल से ताँगेवाले से बातचीत करने लगी । उसकी कहानी थी—

उसकी माँ बीमार थी । चार बाल बच्चे थे जिन्हें सँभालते सँभालते पत्नी के

नाकों दम हो जाता था। यदि किसी दिन ठीक सवारी न मिली तो उस दिन श्रीमती शराब को छुट्टी देनी पड़ती थी। घोड़ा बूढ़ा हो चला था। एक, न दो, सत्रह सौ साठ बातें बताई होंगी उसने। अंत में वह बोला, "बीबीजी हमारा यहाँ हाल रहेगा हमेशा। परमात्मासे एक ही अर्ज़ है कि मेरी। जिस दिन गांधी बाबा हमारे गाँव आएँ—मुझे ही उन्हें ले जाने को मिले!"

मैंने ध्यानपूर्वक ताँगे वाले की ओर देखा। चेहरे पर जगह जगह वार्धक्य-रेखाएँ खिंची हुई थीं। डाढ़ी करीब एक सप्ताह से न बनी थी। उसके शब्द सुना ऐसा मालूम पड़ा कि उसी की तरफ़ देखती रहूँ। आज मुझे मेरी उस इच्छा पर हँसी आ रही है।

दिलीप प्रति दिन मुझे भिन्नभिन्न अखबारों की खबरें रसभरे शब्दों में सुनाया करता था। उन्हें सुन मुझे दादा की गांधीजी की टीका बड़ी कटु लगती। दादा पर कुछ क्रोध भी आता। मैं कहती—जो स्वयं कुछ नहीं करना चाहते वे टीका ही किया करते हैं। इस तरह दादा से मैं दूर दूर जा रही थी। उतनी ही मैं दिलीप के निकट पहुँच रही थी। मेरी उसकी पहचान हुए पूरा एक साल भी न हुआ था। सूरज से निकल क्षणार्ध में ही सूर्यरश्मि पृथ्वी तक पहुँचती है। अपनापन भी इसी तरह उत्पन्न होता है।

अप्रैल समाप्त हो रहा था। दादाने संस्कृत की विशेष पढ़ाई करने के लिये दिलीप को रोक लिया था। यह भी कह दिया था कि चाहो तो मई में दस पंद्रह दिन के लिये घर हो आना। दिलीप रुक गया था किन्तु पढ़ाई में उसका मन ही न लगता था! एक शाम को वह मुझसे बोला, "सुलोचनादेवी, मैं कल जाने की सोच रहा हूँ।"

"कहाँ?" मैंने आश्चर्यसे पूछा।

"माँ की बहुत याद आती है मुझे!"

मैं जानती थी कि उसका अपनी माँ पर बहुत प्रेम था। केवल उसी की खातिर उसने कालिज में न जा नौकरी करने का निश्चय किया था, यद्यपि मेट्रिक की परीक्षा में उसने काफ़ी ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। यदि दादाकी उससे भेंट न होती तो वह कालिज में पढ़ने आया भी न होता।

मैं चुप रही। पिछले दस ग्यारह महीने में वह मकान न गया था। उसकी माँ उसके मार्ग पर आँखे लगाये बैठी होगी। यह बात सच थी कि मैं उसे बहुत

चाहती थी। उसके बग़ैर हमारा मकान भी सूना सूना हो जाता। फिर भी मैं यह कैसे कहती कि वह माँ से मिलने न जावे।

कल दिलीप अपने घर जावेगा—उसकी माँ से मिलेगा—

और मेरी माँ! कहाँ है वह? मैं उससे कब मिलूँगी?

मैं अश्रु न रोक सकी। दिलीप ने पूछा, "क्या हुआ सुलोचना?"

"माँ की याद आ रही है मुझे" वह हँसने लगा—वह हँसी देख मैंने सोचा—कितना कठोर है दिलीप!

हँसते हँसते ही उसने कहा, "मैं रामगढ़ नहीं जाऊँगा।"

"फिर?"

"शिरोड़ा जाऊँगा। कोंकणमें।"

"क्या वहा तुम्हारी माँ गई हुई है?"

"हाँ।"

"कितने दिन रहोगे वहाँ।"

"माँ कहेगी उतने दिन! हो सकता है एक साल भी!"

एक साल दिलीप से दूर रहने की कल्पना ही मुझे असह्य हो रही थी।

मैंने कहा, "मैं तुम्हें न जाने दूँगी।"

वह बोला, "तो क्या मुझे भाग जाना पड़ेगा?"

मैं भी कुछ कम न थी। मैंने धमकी दी, "मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे भूत की तरह आऊँगी।"

"कहाँ?

"तुम्हारी माँ के यहाँ।

"उस मकान में सब लोग नहीं जा सकते।"

"क्यों?"

"उस मकान का नाम है जेलखाना, देवीजी!"

गर्मियों की छुट्टी समाप्त होते ही जब दिलीप कालिज जाने के लिये आया तब कहीं मेरा जी हलका हुआ। इस बीच के दो मास मैंने जिस तरह बिताये वह मैं ही जानती हूँ। मैं दादा के पास सितार सीखती थी—संस्कृत पढ़ती थी।

उन दिनों मुझे जेलखाना क्या चीज़ है यह पता न था। किन्तु रात्रि को नींद आने के पहले दिलीप का स्मरण अवश्य होता था। वह सीखचों के अन्दर दिखाई देता था। एक दिन तो मैंने एक विचित्रसा स्वप्न देखा।

मैं एक उपवन में खेल रही हूँ। एक सुंदर तितली मेरे पास आती है। उसके इंद्रधनुष-समान सुंदर रंग देख मैं उसे पकड़ने जाती हूँ। वह उड़ जाती है। मैं ठहर जाती हूँ तो वह फिर मेरे पास आती है। मेरे केशपाश पर बैठकर मुझसे कहती है—देखो तुम्हारे केश कैसे सुंदर दिखने लगे हैं। उसे पकड़ने के लिये मैं फिर हाथ बढ़ा देती हूँ और वह फिर उड़ जाती है। कोई बड़े से काले हाथ आगे बढ़ते हैं और बेचारी तितली को पकड़कर एक डोरी से बाँध एक डिब्बे में बंद करते हैं। उस तितली का दिलीप बन जाता है। मैं चिल्ला उठती हूँ।

सचमुच ही मैं चिल्ला उठी थी। शायद अपनी चिल्लाहट से ही मैं जाग उठी। दादा ने बार बार पूछा, "क्या कोई स्वप्न पड़ा है?" किन्तु उत्तर देने की मेरी हिम्मत न हुई। स्पर्श होते ही लजनू का पेड़ शर्माकर कुम्हला जाता है। मनुष्य के मन में भी कुछ बातें ऐसी होती हैं जो वह किसी को भी नहीं बतलाना चाहता।

दिलीप के वापस आनेपर मैंने हँसी में उससे कहा, "तुम्हारी माँ ने तुम्हें बिदा कैसे किया?"

वह कुछ न बोला।

मैंने कहा, "तुम्हारे आते समय वह क्या बोली?"

"मेरी पुकार सुनकर तुरन्त दौड़ आना। तनिक भी देर न लगाना।"

"आते समय तुम्हारे हाथ पर कुछ नहीं रखा तुम्हारी माँ ने?"

"क्यों नहीं?"

"उसमें से मुझे दोगे कुछ?"

"अवश्य!" वह हँस पड़ा।

उस दिन शाम को उसने एक पुड़िया मेरे हाथ में रखी। पुड़िया बिलकुल छोटी सी थी। मैंने कहा, "तुम बड़े कंजूस हो! इतना तो दाँत के तले भी न रहेगा!"

वह बोला, "हाँ!"

" देखिये दिलीपकुमार जी, इतनासा खाकर खुश होने वाली क्या मैं छोटी सी बच्ची हूँ। अब मैं बारवाँ समाप्त कर तेरवें साल में पदार्पण कर रही हूँ।"

" तुम्हारे बुढ़ापे तक यह पुड़िया तुम्हारे साथ रह सकती है । जादू की पुड़िया है वह !"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने जल्दी से पुड़िया खोली। उसमें—

नमक था !

हाँ, नमक ही !

जब दिलीप ने उस नमक का इतिहास वर्णन किया तो मेरी नज़रों में उसकी उस भेंट की कीमत हीरे मोती से भी बढ़ गई। रामगढ़ में उसकी माँ बीमार होने के कारण उसे अधिक समय रहना पड़ा था ! इसलिये शिरोड़ा की 'माँ' के पास वह देर से पहुँचा। जिस दिन वह पहुँचा उसी दिन सत्याग्रह बंद हो चुका था। उसकी जेल जाने की इच्छा मन ही मन ठंड़ी हो गई। किंतु वीर सत्याग्रहियों की छावनी अभी अपनी जगह स्थित थी। किसी तरह वह वहाँ पहुँचा। छावनी में बिस्तरे तितर बितर पड़े थे। और उनपर थोड़ा थोड़ा नमक पडा हुआ था। यह वही नमक था जिसे लाठी की मार से बेहोश होनेपर भी उन वीरों ने अपने हाथ से न छोड़ा था। वह अमूल्य रत्न दिलीप ने प्राप्त किया था। मैंने नमक के कण कण को निहारा। प्रत्येक कण हीरे मोती से अधिक चमकीला था। दिलीप ने वह पुड़िया मुझे जानसे बढ़कर सुरक्षित रखने को कहा। आज भी वह पुड़िया मेरे पास है—हाँ, यहीं मेरे सामने।

मैंने दिलीप से कहा था—माँ की सेवा करते समय अपनी सुरक्षितता की ओर अवश्य ध्यान देना। कई बार कहा था ! अपनी कसम दिलाकर बिनती भी की थी !

उन दिनों वह मेरी कसम का कभी अपमान न करता था।

एक साल की बात है। गांधीजी जेल में थे। किन्तु सत्याग्रह का आंदोलन दिन पर दिन जोर पकड़ रहा था। बढ़ते हुए ज्वार की लहरों को कोई नहीं रोक सकता। जनता का उत्साह भी उसी तरह था। छोटे छोटे बच्चे भी जेल जाने से न डरते थे। मुझे सभा में जाने की प्रायः अनुमति न मिलती थी। किन्तु घर ही

घर में मैंने 'झंड़ा ऊँचा रहे हमारा' 'नहिं रखनी, नहिं रखनी, सरकार ज़ालिम नहिं रखनी' इत्यादि गाने याद कर लिये थे। जब मैं दादा के पास सितार सीखने बैठती तो बार बार यही मन में आता कि कहीं की पुरानी चीजें बजाने की अपेक्षा 'झंडा ऊँचा रहे' यही स्वर निकालूँ। पर दादा का डर लगता था। एक समय जब पिताजी बाहर गये हुए थे तो मैं वही गाना सितार पर बजाते बैठी। सितार के साथ ही साथ अंतःकरण के तार भी डोल उठे। मन कहने लगा—छोड़ दे पढ़ना लिखना। देश के लिये जेल जा। हिन्दभूमि का झंड़ा ऊँचा फहराने के प्रयत्न में धराशायी हो। इन विचारों ने और सितार के सुरों ने मुझे इतना मोह लिया था कि मुझे यह भी पता न पड़ा कि दिलीप मेरे कमरे में कब आया। मेरा बजाना समाप्त हुआ। मुझे प्रतीत हुआ कि मैं आकाश में खूब खूब ऊँचे पर उड़ रही हूँ। ठीक इसी समय मैंने सुना, "शाबाश।"

वह दिलीप का ही शब्द था। मैंने कहा, "सेंतमेंत की स्तुति नहीं चाहती मैं।"

"फिर क्या चाहिये?"

"इनाम।"

"अच्छा क़बूल। चाहो सो माँगो।"

"चाहे जो?"

"हाँ, हाँ, चाहे जो!"

"मुझे दिलीप चाहिये!"

आज उस वाक्य का स्मरण हो मन अस्थिर हो जाता है। उस समय मेरी अवस्था बारह साल की थी। दिलीप के बारे में एक ही उत्कट भावना मेरे मन में थी। दिलीप शिरोड़ा गया था वैसे ही और कहीं चल देगा फिर मेरे साथ कौन रहेगा। मैं अकेली रहूँगी। यही बात बार बार मन में चुभ रही थी। 'मुझे दिलीप चाहिये।' यह वाक्य मुँह से एकदम निकल जानेका कारण भी यही था। मेरा वाक्य सुन दिलीप भी एक क्षण चौंक उठा। मैंने कहा, "क्यों जनाब, अब वादा पूरा कीजिये।" वह हँसा और बोला, "मैं कहीं भाग थोड़ा ही जा रहा हूँ! मैं तुम्हारा ही हूँ!"

विधाता मनुष्य से हमेशा 'खोखो' का खेल खेला करता है। "मैं कहीं भाग थोड़ा ही जा रहा हूँ!" यह वाक्य कहने के ठीक दूसरे ही दिन शामको दिलीप हमारा घर छोड़कर जाने को निकला। बहुत देर तक वह मुझे यह बतलाने को

तैयार ही न था कि कालिज में क्या हुआ। मैं भी अड़ गई—रोई, पीटी। तब कहीं उसने सारा हाल बताया। बम्बई में पंडित मालवीय या और कोई बड़े नेता पकड़े गये थे। उनका जुलूस पुलिस ने रोक लिया था। पानी में घंटों भींगते हुए वे बूढ़े देशभक्त डटे हुए थे।

दिलीपने और भी बातें बताई थीं किन्तु वे सब ठीक से याद नहीं हैं। अंत में उसने कालिज में सैकड़ों विद्यार्थियों के सामने दादा को प्रत्युत्तर दिया था।

लड़के चिल्ला रहे थे कि कालिज में हड़ताल होनी चाहिये। पिताजी का विद्यार्थियों पर बहुत प्रभाव था इसलिये प्रिंसिपल साहब ने उन्हें लड़कों को समझाने के हेतु आगे जाने को कहा। पिताजी को देखते ही विद्यार्थी शांत हुए। पिताजी ने क्रोध से लड़कों की तरफ देखकर कहा, "कालिज यह सरस्वति का मंदिर है। चौक का बाजार नहीं।"

सब लड़के चुप रहे। किन्तु दिलीप से न रहा गया। देश के पूज्य से पूज्य नेता पकड़े गये हैं। ऐसी स्थिति में उनके प्रति सहानुभूति के शब्द न कह दादा-साहब सदृश बुद्धिमान् गुरु केवल कोरा उपदेश सुनाता है यह बात दिलीप को बहुत ही खटकी। वह एकदम कह बैठा, "चौक का बाजार है इसीलिये जनता के अन्नवस्त्र की व्यवस्था होती है। मंदिर का नैवेद्य तो पुजारी ही हड़प कर जाता है। भक्तगण तो भूखे ही रहते हैं।"

दिलीप का उत्तर सुन लड़कों ने तालियाँ पीटना शुरू किया और किसी ने पिताजी को आगे कुछ कहने का अवसर ही न दिया।

दिलीप मन ही मन दुःखी था। दादासाहब ने उसे अपनें यहाँ आश्रय दिया था केवल इसीलिये कि दिलीप का कल्याण हो। उनका इस तरह खुले आम अपमान करना उसे भी असह्य हो उठा था। उसने मुझसे कहा, "मेरा कहना बिलकुल ठीक था। काश् दादा की जगह और कोई दूसरा प्रोफेसर वहाँ होता!"

उसने ठान लिया था कि वह हमारा मकान छोड़ देगा। मैं हैरान थी। किसी तरह उसका विचार न बदलता था। अंत में मैंने कहा, "दिलीप, यह मेरे गले में सोने की जंजीर देखते हो?"

"हाँ!"

"यदि कोई उसे छिनाकर भागे तो उसे क्या कहोगे?"

"चोर और क्या ?"

"क्या दिलीप भी ऐसी चोरी कभी कर सकता है ?"

वह मेरी ओर आँखें फाड़फाड़कर घूरने लगा और बोला,

"क्या मैं चोर हूँ !"

"हाँ।"

"क्या चुराया है मैंने ?"

"मेरा एक आभूषण ! बहुत अनमोल है वह ! बताऊँ तुम्हें ?" मैंने उसके दोनों कंधोंपर हाथ रख कहा "यह देखो।"

वह हँस पड़ा। हँसते हँसते ही उसने अपना इरादा बदल दिया।

* * * *

उसके बाद चार पाँच दिन तक दादा और पिताजी एक दूसरे से न बोले थे। मैं बड़ी चिंता में थी। इस मौन का मतलब था अंदर ही अंदर जलने वाली ज्वाला। बहुत देर तक सोचने के बाद मुझे एक उपाय सूझा। मैंने दादा से कहा, "दिलीप ने उस दिन जो कुछ कहा उसके लिये वह क्षमा याचना करता है।" और मैंने दिलीप से कहा, "दादा का कहना है कि उस दिन जो कुछ तुमने कहा उसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है।"

झूठ बोलकर उस दिन मैंने दिलीप को पिताजी के क्रोध से बचाया था।

आज ? रामगढ़ की जेल से कौन मुक्त करेगा उसे ? उसके लिये मैं झूठ बोलूँगी— चाहे जो करूँगी।

क्या, चाहे जो मैं कर सकूँगी ?

आज आवश्यकता झूठ बोलने की नहीं है। उससे भी अधिक आवश्यकता है सच बोलने की। क्या मैं सच बोल सकूँगी ? उस सभा के समय दिलीप कहाँ था, क्या कर रहा था, यह केवल तीन ही व्यक्ति जानते हैं। मैं, दिलीप और भगवन्तराव। लेकिन कोई कचहरी में कैसे कहेगा ? कौन कहेगा ? दिलीप अपना मुँह बन्द कर एक शब्द भी न कहेगा। भगवन्तराव अपना मुँह बन्द कर लेंगे। और मैं ? मैं कायर हूँ—दुर्बल हूँ। यदि दुर्बल न होती तो व्याध से बचने के लिये भागनेवाली हरिणी की तरह मैं यहाँ क्यों भाग आती ?

दिलीप, तुम्हारे वे शब्द मुझे अभी तक याद हैं। "सुलोचना, जब तुम बड़ी

होओंगी तब तुम्हारी आँखें ऐसी ही हिरन जैसी रहने देना। किन्तु अपना मन शेरनी का सा बनाना।" उस समय इन शब्दों का अर्थ मैं समझी थी। आज? अपने शावक को हाथ भी लगाने वाले का शेरनी खून चूस लेती है। और मैं—मैं—नहीं दिलीप मेरे हाथ से यह न होगा। मैं सोचती थी कि प्रेम करना और फूलसे खेलना एकसा ही है। चमेली का फूल न सही गुलाब का ही सही। कभी गुलाब का काँटा लगा हाथ से थोड़ा सा लोहू बहेगा। इस के आगे मेरी कल्पनाशक्ति न दौड़ी थी।

आज मैं जान रही हूँ! उस समय मैंने न जाना था कि प्रेम याने आग से खेलना है!

इंटर की क्लास में दादा दिलीप से खुश न थे। मेट्रिक में कुछ ही गुणों से दिलीप संस्कृत की शिष्यवृत्ति खो बैठा था। दादा की इच्छा थी कि इंटर में अच्छी पढ़ाई कर दिलीप संस्कृत में प्रथम स्थान प्राप्त करे। किन्तु दिलीप का सारा झुकाव था अखबारों की खबरों की तरफ़, सत्याग्रह की तरफ़ और पढ़ाई के व्यतिरिक्त दूसरी किताबों की तरफ़। बाह्यतः कोई कुछ भी न जान पाता था। दिलीप मुझे पढ़ाता था। मेरे साथ घूमने आता था। हँसी मज़ाक भी करता था।

कालक्रम से हम दोनों में फ़र्क होता जा रहा था। दिलीप सोचने लगा था कि मैं कुछ ऊँची हो गई हूँ। एक दिन वह बोला, "सुलोचना, यदि तुम इसी तरह ऊँची होती गईं तो एक दिन आसमान अवश्य छू लोगी!"

अतिशयोक्ति कभी कभी बड़ी अच्छी लगती है। विशेष कर शैशव से यौवन में पदार्पण करते समय। दिलीप मुझसे हमेशा अतिशयोक्तिपूर्ण मज़ाक करना पसंद करता था। मुझे भी वह भाषा सुहावनी लगती इसलिये मैंने कहा, "क्या ही अच्छा हो यदि मेरे हाथ आसमान पहुँचें!"

"क्यों?"

"बचपन से ही मैं शुक्र के तारे के पीछे दीवानी हूँ। बेले का फूल बालों में लगाते हैं न? वैसे ही वह तारा मेरे जूड़े में—" उसने मुझे आगे बोलने ही न दिया। वह बोला, "कितनी स्वार्थी हो तुम! स्वर्ग में भी तुम अपने सिवा और किसी का ख्याल नहीं रखती!"

कवि-कल्पनाओं से मैं प्रायः अठखेलियाँ खेला करती थी। मैंने कहा, "अधीर न हो। तुम्हारे लिये भी एक चीज़ लाऊँगी।"

" कौनसी ? "

" कल्पतरु ! "

" यदि मैं उस पेड़ के नीचे न बैठूँ तो ? "

" न सही। मैं उसकी छाया में बैठ प्रार्थना करूँगी— "

" क्या ? "

" मेरा दिलीप राजा बने ! "

" मैं कहूँगा— "

" क्या ? "

" हमारी सुलोचना भिखारिन— "

मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा। मेरा चेहरा उसे देखते ही बना। किन्तु वह सँभलकर बोला, " अरे, यदि मैं राजा बना तो हमारी तुम्हारी मित्रता कैसे टिक सकेगी ? भिखारिन भिखारी ही की मित्रता हो सकती है, समझीं ? "

यह वाक्य सुनते ही क्रोधने रास्ता नापा। दिलीप गंभीर होकर पूछने लगा, " यदि मेरे हाथ स्वर्ग पहुँचें तो जानती हो मैं क्या लाऊँगा ? "

मैं चुप रही यह देख वह बोला, " अमृत ! बम्बई में समुद्र किनारे लोकमान्य तिलक की प्रतिमा हैं न ? उस पर छिड़कूँगा जिससे कि प्रतिमा सजीव हो उठेगी और महाराष्ट्र में फिर एक बार पराक्रम और उत्साह नाचने लगेंगे। "

उसे ऐसी अजीब कल्पनाएँ करने में ही आनंद आता था।

उसका इंटरमीडियट या इम्तहान अनकरीब था। मैं तो केवल आठवें दर्जे में ही थी—फिर भी पढ़ाई के मारे मेरे नाक में दम था। दिलीप अपने कमरे में घंटों शून्यदृष्टि से यहाँ वहाँ टकटकी लगाए बैठा रहता था। उसकी गणित की कापी में उदाहरण और रेखागणित की आकृतियों के पास ही भ–भ–भ–यही अक्षर बीसियों जगह दिखाई देता था। नागरी—मुड़िया-अंगरेजी—

मेरी समझ में कुछ भी न आता था। पर मैं वे अक्षर काटकर सु–सु–सु कर दिया करती थी।

पच्चीस मार्च ! आज भी उस तारीख को गतकाल का वह दिन याद आ जाता है। उस दिन दोहपर को दिलीप ने खाना मना कर दिया था। " आज तो प्याज की पकौड़ी बनी है " कह मैंने उसे रसोई तक खींचने का प्रयत्न किया। किन्तु वह न आया। मुझे मजाक सूझा। मैंने कहा, " हो पूरे घोंघाबसंत ! क्या परीक्षा में

पहला स्थान प्राप्त करने के लिये व्रत भी रखने लगे ! " लेकिन उसके चेहरे पर हास्य का निशान भी न चमका । शाम को चाय भी न पी उसने ! मौनी बाबा बन वह दिनभर अपने कमरे में बैठा रहा । उसके मुँहपर की वह उदासी और चिंता—

मुझसे न रहा गया ? कहीं उसकी माँ तो बहुत बीमार नहीं है ? मैंने उसकी कलाई टटोली । बुखार तो नहीं था । कहीं माँ की मृत्यु की ख़बर—

सहसा मेरी माँ के मृत्यु का वह दृश्य मेरे सामने खड़ा हो गया । उस समय दिलीप ने मुझे ढाढ़स बँधाया था । आज मेरा कर्तव्य है कि मैं भी उसे धीरज दूँ । किन्तु शब्द मुँह ही मुँह समाप्त हो जाते थे । महत्प्रयास के बाद मेरे मुँह से निकला—तुम्हारी माँ—

उसने मेरा वाक्य पूरा किया—अच्छी है ।

अपने पिताजी के बारे में उसने मुझसे कुछ न कहा था । केवल इतना ही बताया था कि वे एक पुलिस के दारोगा हैं । रामगढ़ के ही एक धनी साहूकार को उसकी बड़ी बहन ब्याही थी । दूसरी दो बहनें—शायद उन्हीं में से कोई बीमार हो । इसके सिवा—

दिलीप का गला रुँध गया । उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, " सुलोचना, आज सरकार ने भगतसिंह को फाँसीपर चढ़ा दिया ! "

* * * *

गणित के कापी की भ–भ–भ की पहेली अब मेरी समझ में आई । उसी समय एक बात मैं जान चुकी—परीक्षा में दिलीप कोई विशेष स्थान प्राप्त न करेगा ।

हुआ भी ठीक वही । जैसे तैसे दूसरी श्रेणी में पास हुआ वह । मुझे बहुत ही खेद हुआ । पिताजी ने तो क्रोध में कहा भी, " कमसे कम बी. ए. में तो प्रथम श्रेणी में पास हो । अन्यथा जन्मभर मास्टर ही बने रहोगे ! प्रोफेसरी का स्वप्न भी देखने न मिलेगा ! "

पिताजी का उपदेश ठीक ही था । किन्तु दिलीप इस तरह सुन रहा था जिस तरह कोई बेबस हो कड़वी दवा पीता हो ।

बी. ए. फर्स्ट इयर का साल सच पूछो तो खेल कूद का साल होता है । मौज उड़ाने का साल होता है । पर दिलीप उसके विपरीत ही आचरण कर रहा था ।

मुझे पढ़ाया करता था। मैं जब सितार बजाती तो सुनते बैठता था। सब कुछ पहले जैसा ही था। पर—

नदी का स्वच्छ-शुभ्र जल, नदी की गहराई के साथ कालासा होता जा है। दिलीप का हँसोड़ चेहरा अब उग्र हो गया था। पहले मुझे उसके मनकी थाँह जल्द मिल जाती थी। अब मालूम होता था कि वह मुझसे कुछ छिपाने का प्रयत्न कर रहा है। नींद की बड़बड़ाहट में कभी कभी जीवन के भेद खुल जाते हैं। हँसी-मजाक से भी कई भेद खुल जाते हैं इसलिये मैंने एक दिन उससे कहा, "तुम्हारी आजकल की गंभीरता का भेद बताऊँ ?"

"हाँ !"

"तुम्हारी शादी तय हुई है !"

"बिलकुल ठीक पहचाना। तुम तो बिलकुल मन के रहस्य भी जानने लगी हो, सुलोचना !" वह हँस पड़ा। हँसी रोकते हुए बोला, "यदि तुम ज्योतिषी का धंधा करो तो हजारों रुपये पैदा करो। मेरा भविष्य ठीक बताया तुमने! इस साल मेरा ब्याह होनेवाला है !"

उसके अंतिम वाक्य से मेरे मन में काँटा सा चुभ गया। मानों दिलीप पर मेरा ही अधिकार था और उसे दूर कर वह—

मन की यह उथलपुथल छिपाने के हेतु मैंने पूछा, "तो क्या लड़की तुम्हें पसंद नहीं है ?" उसने उत्तर दिया, "नहीं नहीं –मुझे सब कुछ पसंद है। पर आजकल चौमासा है न ? इन दिनों विवाह का मुहूर्त कैसे निकले ?"

उस दिन वह यदि यह न बताता कि वह तो सब निरा मजाक था तो—

पर यह मज़ाक कुछ ऐसा वैसा मजाक न था। सात आठ महीने बाद मुझे उसका मतलब समझा। फर्स्ट इयर का इम्तहान समाप्त कर वह अपने मकान गया। करीब एक महीने बाद किसी दूसरे गाँवसे उसका पत्र आया। उसने जल्दी जल्दीसे पेंसिल से लिखा था—

"मैं माँ के यहाँ जा रहा हूँ। एक साल भर के बाद वापस आऊँगा। पूज्य दादाको मेरा प्रणाम कहना !"

माँ के यहाँ !

दिलीप का सारा शब्दकोश ही अलग था। उसका 'माँ का घर' याने जेल-खाना। कहीं तो भी सत्याग्रह कर वह जेल—

मैं प्रतिदिन आँख में तेल डाल अखबार पढ़ने लगी। दो-तीन दिन बाद ही मुझे उसका नाम दिखाई पडा—दिनकर सरदेसाई—एक साल की सख्त कैद—

(कल्पना ही मनुष्य का सबसे बड़ा बैरी है) मेरी आँखों के सामने दिलीप दिखाई देने लगा। गाड़ी खींचता हुआ—सिर के बोझ के मारे झुका हुआ—रास्ता साफ़ करता हुआ—मेरी आँखें डबडबा आतीं किंतु अश्रुप्रवाह के बाद भी सामने का चित्र ज्यों का त्यों बना रहता। पिताजी ने यह खबर सुनी तो एक उसास भर वे बोले, "राजनैतिक हलचल बड़े नेताओं का एक खेल ही है। किन्तु छोटे मोटे लोग उस कारण मारे जाते हैं!"

उन दिनों मैं मेट्रिक की कक्षा में थी। खूब पढ़ाई करनी थी। इस कारण मुझे बार बार दिलीप की याद न आती थी। लेकिन कभी आती तो मुझे बेचैन कर देती। फिर मैं लगातार उस कुरसी की ओर देखती रहती जिस पर वह बैठा करता था। मन में उसके बारे के स्मरणीय प्रसंग ऐसे इकट्ठा हो जाते जैसे शहद की मक्खियों का छत्ता।

किन्तु छत्ते को हाथ लगते ही मधुमक्खियों की फ़ौज दौड़ पड़ती है। दिलीप की याद भी मुझे मधुमक्खियों के डंक की तरह व्याकुल बना देती। मैं हैरान थी कि मैं क्यों दिलीप के लिये पागल हूँ। पिताजी का मेरे प्रति कितना स्नेह था। पर उस स्नेह की कीमत मेरी नजरों में कम हो चली थी। सबेरे बिस्तरे से उठते समय मेरे हाथ के कंगन बजते तो मैं सोचा करती—दिलीप के पैरों की बेड़ियाँ भी इसी तरह बजती होंगी—उनकी आवाज कैसी होती होगी?—वह भी अब उठकर—

वहाँ कौन उसे चाय देने चला था? मैं यहाँ सरदी में गरम चाय पी सुखी होऊँ और वहाँ दिलीप ठिठुर ठिठुर—

चाय के प्याले में से निकलने वाली भाप ही मैं देखा करती। फिर दादा कहते, "सुलोचना, इम्तहान से इतना डरना ठीक नहीं है! लड़कियों के जीवन की सच परीक्षा एक ही होती है—विवाह! और दूसरी परीक्षाएँ यों ही झूठमूठ की!"

मैं चाय पीने लगती और कहती, "हटिये पिताजी! मैं शादी ही न करूँगी। संस्कृत में एम्. ए. पास करूँगी—प्रथम श्रेणी में। और फिर आपके कालिज में—"

ऐसे समय पिताजी भी पीठपर थपकी लगाते और मैं सोचती कि मेरे शरीर पर मुठ्ठीभर मांस बढ़ गया है। चुटकियों में मुझे दिलीप का विस्मरण हो जाता और चाय पी मैं चट जोरशोर से पढ़ाई में लग जाती। पढ़ते पढ़ते बीच में ही मेरी गाड़ी रुक जाती। मेरी सारी दौड़धूप थी संस्कृत की 'जगन्नाथ शंकरशेठ छात्रवृत्ति' प्राप्त करने के लिये। दादा का विश्वास था कि वह छात्रवृत्ति मुझे ही मिलेगी। किन्तु मेरे मन में कभी कभी संशय–पिशाच्च आसन जमा लेता। दिलीप–कितना कुशाग्रबुद्धि था वह। उसे भी वह छात्रवृत्ति न मिली थी। फिर मैं कहाँ ? फिर मैं करीब क़रीब मुखोद्गत हुई किताबें भी पढ़ने लगती। मैं इरादा करती कि सबको घोंट कर पी जाऊँ। फिर दृढतापूर्वक पढ़ाई प्रारंभ होती।

एक समय यों ही मैं मेघदूत पढ़ रही थी। बाहर चाँदनी अपनी श्वेत चादर बिछा रही थी। आकाश में शुभ्र मेघ यहाँ वहाँ जा रहे थे। एकाएक मुझे दिलीप की याद आई। जेल की कोठरी में कोई खिड़की होगी। खिड़की के पास मेरी याद करता हुआ दिलीप खड़ा होगा। क्या कोई मेरा संदेसा उससे जाकर कहेगा ? यह मंद वायुलहर—यह चाँदनी—ये मेघ—वह तारा—नहीं कोई नहीं !

निराश हो, मेघदूत फेंक, तकिये में मुँह छिपा सिसक सिसक रोने के सिवा और चारा ही क्या था ? (मन कहता—काव्य एक भुलावा है) अपना दुःख भूलने के लिये मनुष्य काव्य की शरण जाता है। यहाँ से वहाँ तक सारे कवि लफंगे हैं, धोखेबाज हैं, दुनिया पर अपने शब्दों का जाल डालना यही इन दुष्टों का काम है !"

उत्तररामचरित पढ़ते समय मैं इसी तरह 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।' इस श्लोक से उलझ पड़ी। मैंने सोचा--मैं और दिलीप ही क्रौंचयुगल हैं। कितने आनंद से हम दोनों ने तीन साल बिताये ! क्रौंचयुगल के एक पक्षी को मारने वाले व्याध को वाल्मीकि ने शाप दिया। दिलीप को मुझसे दूर लेजानेवाले विधाता को कौन शाप देगा ?

नहीं ! विधाता ने दिलीप को मुझसे नहीं छीना है ! दिलीप स्वयं गया है। वह मुझसे प्रेम नहीं करता। काश, वह सोचता, मेरे जेल जाने पर सुलोचना को कितना दुःख होगा !

दिलीप ! तुम्हारी वह कैद केवल एक साल की थी। उसके बाद तुम दिखाई तो दिये थे !

किन्तु आज !

तुम्हारी यह कैद—

बचपन में मैंने इतिहास में राजपूतस्त्रियों की जौहरप्रथा के बारे में पढ़ा था। मैं उसे निरा पागलपन समझती थी। मेरे मत में सती होना जंगलीपन था।

आज सोचती हूँ उन प्रथाओं में तनिक भी पागलपन न था। वह थी प्रेमने सिखाई हुई बुद्धि—भक्ति की उत्कटता थी वह !

मेरा इम्तहान जिस दिन समाप्त हुआ उसी दिन दिलीप का पोस्टकार्ड मिला।

" माँ से बिदाई प्राप्त कर आया हूँ। सुविधानुसार तुमसे मिलूँगा। "

सुविधानुसार ?

जेल से छूटते ही एकदम दौड़कर मेरे पास नहीं—मैं मन ही मन झल्ला पड़ी।

जेल से क्या छूटा है जैसे गवर्नर ही बन गया है ! कहता है सुविधानुसार मिलूँगा।

मेट्रिक का परीक्षाफल प्रकाशित हुआ। मुझे दूसरे नंबर की जगन्नाथ शंकरसेठ छात्रवृत्ति मिली। मेरी दो–तीन सखियों ने शाम को एक पार्टी का आयोजन किया था। दिनभर मैं सातवें आसमान में थी। शाम को मैं आईने के सामने खड़ी हो वेशभूषा कर रही थी। मैं यही निश्चय न कर सकती थी कि कैसी साड़ी पहिनूँ। दिलीप को हरा रंग बहुत पसंद था। मुझे आसमानी। मैंने एक कामदार आसमानी रंग की रेशमी साड़ी निकाली। पहनने के लिये मैं उसकी तह खोलने लगी। बालों के फूल शीशेमें ऐसे मालूम हो रहे थे जैसे कोई बच्चा दरवाजे में से झाँक रहा हो। फूलों में से एक फूल अदृश्य हो गया। उसकी जगह एक खादी की गांधी टोपी दिखाई पड़ने लगी।

मैंने चौंककर पीछे देखा। दिलीप दरवाजे में खड़ा था। " क्या अंदर आने की इजाजत है ! " उसने पूछा। " क्या इस घर को जेलखाना समझ रखा है ? " मैंने गुस्से में ही उत्तर दिया।

कितना दुबला हो गया था ! और कुछ रंग भी अधिक काला पड़ गया था। किन्तु आँखों में अवश्य ही एक नया तेज चमक रहा था। रात में सारे घर में अँधेरा होनेपर भी देवगृह के कोने में नंदादीप का शांत प्रकाश रहता ही है। दिलीप का वह तेज उसी शांति की भाँति था। मेरे हाथ में मिठाई रख वह

बोला, "सुलोचना मैंने न सोचा था कि मेरे जैसे ग़रीब को तू मिठाई के खर्चे में डालेगी"

हाथ पर की मिठाई में से मैंने कुछ उसके हाथ पर रख दी और कहा, "यह मेरी तरफ़से"

"किसलिये?"

"तुम जेल से वापस आ गये इसलिये। मुझे बहुत ही डर था कि—"

"क्या!"

"कि तुम जेल में भी कोई हलचल करते रहोगे और अरबी कहानियों में जैसे एक कहानी मेंसे दूसरी कहानी निकलती है उसी तरह एक कैद की सज़ा मेंसे कोई दूसरी सज़ा न निकले।"

वह बोला, "शायद वैसे होता भी। पर—"

"पर क्या?"

"मेरे पैर बाहर खिंचे जा रहे थे। एक मेरी माँ और दूसरी—"

"दूसरी कौन?"

उसने केवल आईने में मेरी प्रतिमा की ओर संकेत किया। मेरे रोम रोम ने सुख और आनंद का अनुभव किया। सितार के मधुर स्वरों की एक गत मेरे शरीर में दौड़ गई। मैंने आसमानी रंग की साड़ी ट्रंक में रख दी और हरे रंग को साड़ी निकाली। दिलीप बगल के कमरे में पिताजी से मिलने गया। हरी साड़ी पहन ही चुकी थी कि वह वापस आया और दरवाज़े में ही ठिठक कर गंभीर स्वर में बोला, "क्या मैं कमरा तो नहीं भूल गया हूँ?"

"क्या मतलब!"

"अभी थोडी देर पहले इस कमरे में मेरी एक सखि थी!"

"और अब?"

"अब तो यहाँ एक अप्सरा दिखाई दे रही है!"

इस वाक्य का हर एक शब्द बहुत देर तक मुझे गुदगुदा रहा था। पार्टी में मेरा चित्त सखियों के वार्तालाप की अपेक्षा दिलीप के उन मधुर मधुर शब्दों में अधिक था। एक ही शब्द– अप्सरा। किन्तु त्रिभुवन का सौंदर्य ही उसमें एकत्रित था। दिलीप के हृदय में प्रीति का अवतार हुआ था।

चाय पीते समय मैं कुछ भी न बोलती थी। यह देख एक बोली, "मैंने कहा

सुलोचनादेवीजी इतना गर्व नहीं करना चाहिये। सुनिये, जगन्नाथ शंकरसेठ छात्र वृत्तिप्राप्ता देवीजी– ' विद्या विनयेन शोभते '। "

दूसरी ने ताना मारा, " अरी अब वह बोलेगी कैसे? उसकी तो ' जल बिन मीन ' जैसी गत हुई होगी। सोचती होगी कब मकान जाती हूँ और कब पुस्तकों में खोपड़ी खपा बैठती हूँ ! " तीसरी भी मल्लीनाथ का अनुसरण किये बगैर कैसे रहती। बोली, "अरी उसने तो दोपहर से ही इंटर की किताबें पढ़ना प्रारंभ कर दिया है। " चौथा बाण आया–" मैंने कहा, सँभलके सुलोचना, सुना है, आज कल बहुत होशियार स्त्रियों को पति नहीं मिलता। "

इस अंतिम वाक्य ने सारे कमरे में हास्यनाद गुँजा दिया। मैं भी उस हँसने में शामिल हो गई। मैं हँस पड़ी उनके अज्ञान पर। मैं पागल हो रही थी दिलीप के उस एक शब्द पर। और मेरी सखियाँ कुछ और ही समझ बैठी थीं। यदि उनमें से एक लड़की को भी मेरे हृदय की धड़कन का पता होता तो—

हृदय का रहस्य इस तरह थोड़े ही पता पड़ता है? गड़ा हुआ धन प्राप्त करने का सौभाग्य किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। हृदय का मधुर रहस्य भी ऐसे ही किसी भाग्यशाली को–पर नहीं। दिलीप भी उसे कभी न जान सका।

उसकी पढ़ाई अधूरी ही रह गई थी। पिताजी का कहना था कि उसे कम से कम बी. ए. पास कर ही लेना चाहिये। उसने भी उनका कहना मान लिया। मेरे हर्ष का पारावार न रहा। कमसे कम एक साल और दिलीप हमारे यहाँ रहेगा। कोई–कोई भी उसे मुझसे छीन न सकेगा।

एक परिवर्तन मेरे ध्यान आते देर न लगी। गांधीजी के बारे में वह पहले जैसा भक्तिपूर्वक बातचीत न करता था। उसकी मेज पर अधिकाधिक अंगरेजी के बड़े बड़े ग्रंथ दिखाई पड़ने लगे। लेनिन का चरित्र--ट्राट्स्की का आत्मचरित्र-- गार्की के उपन्यास--और कितने ही रशन लेखक जिनके नाम भी मुझ अब याद नहीं। हँसिया और हतौड़ा चिन्हांकित कितनी ही किताबें उसके पास आती जाती थीं। मैं कभी कभी केवल पन्ने उलट पुलट कर देख लेती थी। उसमें के वे *Dialectical materialism* जैसे शब्द ! ऐसे चार पाँच पढ़ने के बाद ही ऐसा मालूम होता था कि मैं एक पहाड़िया चढ़ आई हूँ।

मैं फिर पढ़ाई में डूब गई थी।

उस साल की एक ही घटना याद है मुझे--वह वादविवाद--क्या विद्यार्थियों

ने राजनैतिक आंदोलनों में भाग लेना चाहिये ? शायद मंत्री की कार्रवाई हो या यदृच्छा हो--मेरा और दिलीप का नाम एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष में था। वह सभा भी खूब बड़ी थी।

दिलीप बोल गया था, " राजनैतिक आंदोलन से दूर रहने वाले विद्यार्थी याने गोबरगणेश, किताबी कीड़ों की तरह रट लगाने वाले तोते ! " शब्दच्छल कर मैंने कहा, " राजनीति में पड़ने वाले विद्यार्थी याने दूसरे के इशारे नाचने वाली कठ-पुतलियाँ और किसी एक पक्ष के लिये काँव काँव करने वाले कौए ! "

बेतहाशा तालियाँ पीटकर मेरे वाक्य का स्वागत किया गया। विजय के उस नशे में मैं न जाने क्या क्या कह गई।

मकान आनेपर मुझे दिलीप से बोलने में डर मालूम हो रहा था। वह पढ़ता हुआ बैठा था। मैं उसके निकट जा खड़ी हुई। उसने किताब हटा कर मेरी तरफ देखा भी नहीं। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा, " दिलीप मुझसे नाराज हो ? हो न ? " उसने गर्दन हिलाकर नहीं का उत्तर दिया।

" फिर ? "

" मुझे बहुत खेद है। "

" क्यों ?

" मैं जिसे बिजली समझता था वह एक धुँधले प्रकाश का तारा निकला। "

जून के महीने में दिलीप बी. ए. पास हुआ। किन्तु तीसरी श्रेणीमें। मैंने फर्स्ट इयर में प्रथम श्रेणी के गुण प्राप्त किये थे। मेरी बुद्धि पर मुझे अवश्य ही गर्व होने लगा था।

दिलीप की तृतीय श्रेणी से दादा बहुत असंतुष्ट थे। जब मैंने उनसे कहा कि दिलीप रामगढ़ की शाला में मास्टर की नौकरी करने वाला है, तब निराश हो वे बोले, " और करेगा ही क्या अब ? "

दिलीप रात की गाड़ी से रामगढ़ जा रहा था। शाम को हम दोनों घूमने निकले। मैंने कहा कि चलो टेकड़ी के तले की बगिया में ही चलें। किन्तु उसने मेरा कहना न माना। फिर हम दोनों खूब ऊँचे पर एक जगह जा बैठे। वहाँ की एक चट्टान मुझे दिलीप के कारण ही बहुत प्रिय थी।

उस चट्टान पर बैठते हुए दिलीप ने कहा, "पहाड़ी के ये प्रचंड पत्थर जो उत्साह भर देते हैं वह उत्साह उस छोटी सी बगिया में नहीं मिलता।"

मुझसे हँसी न रोकी गई। मैं भी चाहती थी कि उसका मजाक उड़ाऊँ। किन्तु—

वह सदैव के लिये हमारे यहाँ से जा रहा था इस बिछोह का खेद उसे भी होना चाहिये था। किन्तु सदैव के इस बिछोह के बारे में न उसने कोई दुःख प्रदर्शित किया न ठंडी साँस ली। गतवर्ष उसने 'अप्सरा' पुकारकर मेरा गौरव किया था। उसी प्रकार आज भी कुछ कहेगा यह प्रच्छन्न आशा मेरे मन को अस्थिर एवँ विन्हल बना रही थी। पर—

रात को ताँगे में बैठते समय तक उसका चेहरा निर्विकार ही रहा। जब ताँगा चलने लगा तो वह कुछ सद्गदित स्वर से बोला, "अच्छा चलता हूँ"। शीघ्र ही उसने मुँह फेर लिया।

मैंने पूछा, "क्या हुआ दिलीप?"

मुझे सुनाई पड़ा, "दो मोती खो गये हैं।"

ताँगे की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ने तक मैं वहीं खड़ी थी। फिर मैंने सोचा, "घरमें देवगृह के समीप ही गंगाजल रखते हैं। उसी तरह यदि मैं दिलीप के उन दो अश्रुओं को सँभालकर रख सकती तो—

* * * *

रामगढ़ पहुँचने पर उसने मुझे पत्र लिखा।

स्कूल में नौकरी मिल गई है। वेतन पच्चीस रुपया महीना! क्यों सुलोचना, है कि नहीं अब मेरी चैन? यह नौकरी भी पिताजी दारोगा हैं इसलिये उनकी पहुँच से मिली है। अब मैं सरदेसाई मास्टर हो गया हूँ। सामने एक कापियों का गट्ठर पड़ा हुआ है। उनमें का अक्षर इतना सुवाच्य है जैसे कुत्ते, बिल्ली, कौओं के पैरों के निशान। मेरा इरादा था कि खूब बड़ा पत्र लिखूँ। पर करता क्या? सातवीं कक्षा में नल-दमयन्ती का आख्यान चल रहा है। नल का रूप धारण कर आये हुए पाँच देवताओं के नाम याद करना है। नहीं तो क्लास में मेरी रेवड़ी टूटते देर ही न लगेगी। छठें दर्जे में दक्षिण अमरिका का भूगोल आसन जमाये है। जब वहाँ से वापस आऊँगा तब पत्र लिखूँगा। पूज्य दादा को मेरा प्रणाम।

तुम्हारा,
'दिलीप'

मैंने एक बड़ा लम्बा चौड़ा उत्तर लिखा। पर दिलीप तो एकदम मौनीबाबा बन गया। पहले कुछ दिन मैंने बड़ी उत्कंठा से उसके पत्र की राह देखी। फिर इंटर की पढ़ाई, सखियों का हँसी मजाक, और हवा के झोंके साथ उड़नेवाले 'बुड्ढी के बालों' की तरह फैलने वाली कालिज की भिन्न भिन्न प्रणय-कथाएँ, इन सब में मैं दिलीप को भूल गई।

किंतु जब मेघ गरजते और बिजली चमकती तो मुझे उसकी याद अवश्य हो आती। उसकी इच्छा थी कि मैं बिजली बनूँ।

उसकी इच्छा थी कि मैं बिजली बनूँ और संसार में चमकूँ। मेट्रिक के इम्तहान में क्या मैंने चमक न बताई थी। फिर दिलीप ने मुझे टिमटिमाता तारा क्यों कहा?

एक समय मैं आईने के सामने खड़ी हो वही हरी साड़ी पहन रही थी। मैंने सोचा—पीछे एक समय एकाएक दिलीप आया था। वैसे ही फिर वह आये और कहे, "शायद मैं रास्ता भूल गया हूँ! अभी थोड़ी देर पहले मेरी एक सखि इस कमरे में थी। अब तो यहाँ एक अप्सरा दिखाई दे रही है।"

किन्तु निर्जीव चीजों में वह आकर्षण कहाँ?

दिलीप फिर कभी नहीं आया। दीवाली के बाद उसने मुझे एक भेंट भेजी थी। श्री. खांडेकर का नया उपन्यास था—'उल्का'

मैंने उपन्यास की पहुँच भेजी फिर भी उसका मौन न टूटा। मुझे जान पड़ने लगा कि अपने कुटुंब और स्कूल के मारे उसे मेरी वहुत कम याद आती होगी। अगहन प्रारंभ होनेपर पिताजी के नामपर बीसियों विवाह—निमंत्रण—पत्र आने लगे। उन्हें हाथ लगाते समय मेरा हाथ काँप उठता था। क्या ठीक था? कहीं किसी निमंत्रण में ये ही शब्द निकलते—चि. दिनकर का विवाह—संस्कार—। ऐसे समय मैं अपना समाधान करने का बहुत प्रयत्न करती थी। मैं कहती—अब मेरा और दिलीप का क्या संबंध है? मैं उसे चाहती थी। गत पाँच वर्षों में वही मेरा एक जी-जान का मित्र था। लेकिन-था-। अब क्या संबंध है?

वह एक ग़रीब मास्टर बन बैठा है। मैं प्रथम श्रेणी में बी. ए. पास करूँगी—फिर एम्. ए. भी प्रथम श्रेणी में—मेरा भविष्य का जीवन—

उस जीवन में दिलीप के लिये स्थान न था। (प्रासाद राजा-महाराजाओं के रहने के लिये होता है।—राहगीर भिखारियों के लिये नहीं)

दिलीप, कभी कभी मनुष्य अपने प्रिय व्यक्ति की कीमत क्यों नहीं जानता ? क्या केवल इसीलिये कि प्रेम अंधा होता है ?

दिलीप को मैं एक सामन्य मनुष्य समझती थी। पर नहीं ! जेल में होते हुए भी मेरा दिलीप राजा है !

पर मैं कितनी अभागी हूँ !

उस राजा की रानी न बन सकी।

इंटर की परीक्षा समाप्त हुई। उपन्यास पढ़ना ही मेरा एकमात्र उद्योग हो गया। मन कहता कि चलो और रामगढ़ जाकर दिलीप को आश्चर्यान्वित करो।

पर—

मुझे रामगढ़ जाना ही न पड़ा।

एक दिन शामको दिलीप ही एकदम आ गया। उसकी तबियत खास अच्छी नहीं मालूम हो रही थी। किन्तु उसकी आँखें अधिक चमकीली प्रतीत हो रही थीं।

चाय पी चुकनेपर वह बोला, "अच्छा बताओ मैं यहाँ क्यों आया हूँ"

"विवाह का निमंत्रण देने !"

"बिलकुल ठीक। पर मुझे खेद है कि तुम न आ सकोगी।"

"क्यों ! गरमी की छुट्टी जो है !"

"पर जानती हो अपने राम का विवाह कहाँ होने वाला है !"

"कहाँ !"

"उत्तर भारत में !"

"अच्छा सही। हमारी भेजी भेंट स्वीकार करोगे या नहीं ?"

"जरूर। पर सुनो उपहार क्या भेजना यह बताये देता हूँ अभी से। एक गेरुए रंग की कफनी—"

"कफनी ?" मैं चिल्ला उठी।

"हाँ ! मैं बैरागी होनेवाला हूँ !"

प्रथम मैंने सोचा कि वह सब मज़ाक में ही कह रहा होगा। पर वह मज़ाक न था। रामगढ़ में अभी हाल ही में गवर्नर की स्पेशल गाड़ी गिराने का

असफल प्रयत्न हुआ था। उस प्रयत्न में स्कूल के कुछ लड़के पकड़े गये थे। हमेशा की परिपाटी के अनुसार उन लड़कों को पुलिस के व्यवहार का फल चखना पड़ा। एक दो लड़कों ने सरदेसाई मास्टर का नाम ले दिया। दिलीप के पिता दारोगा थे। सोचने लगे कि कहीं मामला बढ़ गया तो बेटे को जेल जाना पड़ेगा और ऐसे बेटे का बाप इस नाते उन्हें भी नोकरी से हाथ धोना पड़ेगा। दिलीप की माँ उसके बहुत हाथ पैर पड़ी। दिलीप भी नहीं चाहता था कि उस मामले से कुछ संबंध न होते हुए भी बेकार जेल जावे। दो चार साल कहीं बाहर रहने का विचार कर वह मकान से चल पड़ा था।

रात्रि को भोजन समाप्त करने पर मैंने उससे कविता कहने को कहा। "फूल-रानी" "यह पहेली कौन बुझाये" और भी उसकी प्रिय कितनी ही कविताओं के नाम लिये मैंने। किन्तु उसने एक भी कविता न कही। यह सोच कि मुझे क्रोध आ गया है वह बोला, "सुलोचना, मैं बहुत बेचैन हूँ आज। फिर कभी हम मिलेंगे तब मैं चाहे जितनी कविताएँ तुम्हें सुना सकूँगा। और वे भी पुरानी नहीं—नई! है क़बूल?"

उस रात को बेचैनी के मारे मैं सो न सकी। न जाने कितनी मरतबा करवटें बदल चुकी थी। विचारों का घमसान छिड़ा हुआ था मन में। एक मन कहता—चलो दिलीपसे कहें मैं भी तुम्हारे साथ आती हूँ। दूसरा मन कहता—उस फिरस्ते के साथ मेरा ठौर कैसे लगे? प्रेम मुझे आगे ढकेल रहा था; सुखलोलुपता पीछे खींच रही थी।

एक प्याले में आधा हलाहल हो और आधा अमृत। दिलीप इसी भाँति प्रतीत हो रहा था।

क्या हलाहल से भय से कभी अमृत का मोह छूट सकता है? दिलीप अब सदैव के लिये दृष्टि से ओझल हो जायगा—यह कल्पना मुझे व्याकुल बनाये दे रही थी।

मैं उठ बैठी। मैंने बत्ती न जलाई। अँधेरे में ही मेहमानों के कमरे तक गई। गरमी काफ़ी थी। दिलीप अपनी खाट खिड़की के पास ले गया था। चाँदनी ने उसकी मुद्रा को सौगुना सुंदर बना दिया था।

मैं कितनी ही देर एकटक उसकी तरफ देखती रही। जैसे एक भक्त मूर्त्ति की तरफ़ देखता रहता है। प्रतिक्षण मैं प्रयत्न कर रही थी कि वापस जाऊँ। पर पैर

न उठता था। चुंबक के खिंचाव में आया हुआ लोहा क्या अपने आप वापस जा सकता है ?

न जाने कितनी देर मैं उसी प्रकार खड़ी थी ! सारे शरीर में बिजली दौड़ गई थी। आँखों से आँसुओं की बरसात हो रही थी। एक नई कल्पना का उन्माद मुझे चढ़ा हुआ था।

दिलीप मुझे छोड़कर जा रहा है—दूर दूर जा रहा है—विधाता ही जानता है कब वापस आयेगा वह ?

ऐसी कौनसी चीज़ दिलीप की मेरे पास है जिसे मैं जन्मभर सँभालकर रख सकूँ ? दिलीप की कोई ऐसी स्मृति जिसके याद होते ही मुझे ऐसा आभास हो कि मैं अमृतधारा में नहा रही हूँ—

उसके शब्द ? शब्दों की याद बुद्धि को समाधान पहुँचाती हैं। किन्तु उनसे जी बेसुध नहीं होता।

उसका स्पर्श ? केवल स्पर्श में मनुष्य अपना अंतःकरण नहीं उंड़ेल सकता।

उसका चुम्बन ?

उस कल्पनाने ही शरीर रोमांचित हो उठा। भय और आनंद का मिश्रण था वह। मकरसक्रांति के समय तिलपर शक्कर चढ़ा कर 'हलवा' बनाते हैं—उसका वह छोटासा काँटा। थोड़ासा कटीला ! पर कितना नाज़ुक और कितना मीठा !

क्या दिलीप का चुम्बन लेना पाप था ? यह सवाल उस समय मुझे न सूझा था। चाँदनी को छोड़ और कोई मुझे न देख रहा था। और मुझे दिलीप को छोड़ कुछ भी दिखाई न दे रहा था।

मैं नीचे झुकी—

सहसा मैंने सोचा—कितनी ही कोमलता से मैं अपने ओठों का स्पर्श उसके ओठों से क्यों न करूँ क्या उससे दिलीप न जागेगा ?

क्या मेरा करना वह पसंद करेगा ? वह मुझे क्या कहेगा ? पागल—बेशर्म—

पसंद न होने को क्या हुआ ? यदि यह पूछे, "कौन है ?" तो मैं उत्तर दूँगी, "तुम्हारी अप्सरा !"

इधर मैं मन का निश्चय कर रही थी। किन्तु उधर मेरे काँपते हुए हाथ बालों

के काँटों से खेल रहे थे। एक काँटा एकदम नीचे गिर पड़ा। उसकी 'खन्' आवाज हुई। कितनी धीमी! किन्तु मैं सहम कर पीछे हटी।

मुझे अचरज इस बात का था कि दिलीप ने उस धीमी आवाज के कारण आँखें खोल दी थीं। मैं दूर थी इसलिये उसे एक धुँधली आकृति ही दिखाई पड़ी होगी। उसने बिस्तर से न उठते हुए ही कहा, "कौन है? पुलिस?"

मैंने स्वर बदला और कहा, "हाँ!"

वह उठ बैठा और बोला, "चलो, मैं तैयार हूँ।"

मैं आगे बढ़ी और बोली, "मैं भी तैयार हूँ।"

"किसलिये?" चकित होकर उसने पूछा।

"तुम्हारे साथ आने के लिये।"

वे शब्द मेरे मुँह से कैसे निकले इसी का मुझे आज तक आश्चर्य है। आकाश अपने तारों का भंडार दिनभर छिपाकर रखता है। रातको ही उसे खोलने की हिम्मत होती है। मनुष्य भी आकाश के समान है। भावनाओं का वह विलास जिसे हम संसार को धोखा देने के लिये और बर्ताव का सामंजस्य निर्माण करने के लिये मन के किसी सुदूर कोने में ठूँस देते हैं, मध्यरात्रि की नीरवता में ऊँचे उछले बग़ैर नहीं रहता। वनवास के समय राम और सीता दिनभर एकत्र रहते थे। फिर भी वे रातभर संभाषणमग्न रहते और आश्चर्य करते कि सूरज भगवान् इतने जल्दी क्यों प्रगट हुए। उनके ऐसा करने का और क्या कारण हो सकता था!

उस रात भोर होने तक मैं और दिलीप ठीक राम और सीता जैसे रातभर बातचीत करते रहे। रामगढ़ की बातें बड़ी ही मनोहर थीं। रूस देश में क्रांति के बाद के सुधारों का वर्णन मैंने बड़ी तन्मयता से सुना। हमेशा बीमार रहनेवाली माँ को छोड़ वह आया था। उस समय का वर्णन करते करते उसके स्वर में कंप उत्पन्न हो गया था। मेरे मुँह से भी दुःखोद्‌गार निकल पड़े। बोलते बोलते उसने पूछा, "'उल्का' पढ़ी है?"

"हाँ!"

"उल्का के बारे में क्या मत है तुम्हारा?"

"उल्का का पात्र एक मनोदौर्बल्यवाली स्त्री का पात्र है। आजकल की लड़कियाँ उल्का से कहीं—"

मैं शब्द खोज रही थी—आगे क्या कहूँ—इतने में ही साढ़ेपाँच बजने का घंटा बजा। पिताजी के उठने का समय हो गया था। मैं झट चाय बनाने चली गई।

क्या मनुष्य को शाप है कि वह स्वयं अपने दोष न जान सके?

मेरे मत से उल्का में मनोदौर्बल्य था। और मुझमें?

सबेरे मेरा रात का बर्ताव मुझे ही विचित्र सा मालूम पड़ा। मुझे शंका आने लगी— क्या मैं सचमुच दिलीप के कमरे में गई थी या वह सारा स्वप्न था? उसका —क्षणिक क्यों न हो —चुंबन लेने के हेतु क्या मैं सचमुच नीचे झुकी थी? नहीं! प्रोफेसर दादासाहब दातार की लड़की—इंटर क्लास की एक बुद्धिमान् लड़की—सत्रह साल की सुलोचना —यह पागलपन नहीं कर सकती।

नहीं नहीं! वह—वह सब आभास मात्र है।

दिलीप बंबई चला गया। संगीत की मधुर तान एक क्षण कान में गूँज कर दूसरे क्षण हवा में विलीन हो जाती है। बस, वैसा ही हुआ। वह तान याद करने की कोशिश करूँ—वह फिर फिर से गुनगुनाऊँ—इसी तरह सारे दिन मुझे दिलीप की याद आती रही।

मेरे मन की यह चंचलता कुछ ही दिनों में लुप्त हो गई।

इंटरमीजियेट की परीक्षा में मैंने प्रथम श्रेणी प्राप्त की। समूचे कालिज में मेरी प्रशंसा के पुल बँधे। दादा की दृष्टि में आसमान की उँचाई कम हो गई।

बी. ए. फर्स्ट इयर के साल मैं हवा में ही उड़ती रही। जहाँ तहाँ मेरा गौरव होता था। बड़े बड़े होशियार विद्यार्थी मेरा लोहा मानते थे। हरे लड़की मेरी सखी होने में भूषण मानती थी। वनभोजन, सिनेमा—नाटक, पार्टियाँ—कितने आनंद का वर्ष था वह!

अगले साल पढ़ाई का बड़ा बोझ मेरे सिर पर पड़ा यह सच है। किन्तु उससे मेरे स्वास्थ्य पर कोई परिणाम न हुआ। बल्कि मेरी सुन्दरता और बढ़ चली थी। मेरी सखियाँ कहतीं, "ईश्वर देता है तो छप्पर फाड़कर भी देता है। यह सुलोचना ही देखो। केवल बुद्धिप्रदान कर ईश्वर को संतोष न हुआ। सुलोचना, सुनो, अब शीशे के सामने न खड़ी रहा करो!"

मैं पूछती, “ क्यों ? ”

“ कहीं तुम्हें शीशे की ही नजर न लग जाय ! ”

बी. ए. में भी मैंने प्रथम श्रेणी प्राप्त की। मुझे कालिज में टयूटर का पद दिया गया। वे दो वर्ष देखते देखते ही निकल गये। इतनी शीघ्रता से कि मालूम होता था दो साल बीते ही नहीं। पर पिताजी की ओर देखने से जान पड़ता था कि काल अवश्य आगे बढ़ा है। वे बूढ़े दिखाई दे रहे थे। उनकी तबियत भी ठीक न थी।

इन दो वर्षों में मुझे दिलीप की याद शायद ही कभी आती थी। चारों ओर बिजली की भड़कीली रोशनी हो तो उसके सामने एक टिमटिमाता दीपक नजरों में नहीं भरता। दिलीप के बारे में यही होता था। पढ़ाई की चिंता, कीर्ति की लालसा, सखियों की स्तुति, पिताजी की प्रशंसा, इन्हीं में मैं चूर थी। मेरे जीवन में जहाँ तहाँ हरियाली फैली हुई थी। कलियाँ खिल रही थीं। फुहारे नाच रहे थे।

टयूटर होने पर मेरा नशा थोड़ा थोड़ा उतरने लगा। सोचने लगी–आज मैं बी. ए. पास हूँ–कल एम्. ए. हूँगी–फिर ? हरी दूब का गलीचा दिखता बहुत सुंदर है। पर बीच बीच में उसमें गड्ढे छिपे रहते हैं। आजकल की शिक्षा भी वैसी ही है। जीवन से लुकाछिपौव्वल खेलने में उसकी मदद होती है। पर लुकाछिपौव्वल तो बच्चों की क्रीडा होती है। जीवन का खेल नहीं।

मैं कालिज के विद्यार्थियों के निबंध की कापियाँ देख रही थी। किसी का मराठी का निबंध था। उसमें उषा और अनिरुद्ध के प्रेम का उल्लेख था। जिस दिन वह निबंध पढ़ा उस दिन रह रह कर वह रम्य प्रणय-कथा मुझे याद आ रही थी। सोचती—उषा का आख्यान केवल एक अद्‌भुतरम्य कथा नहीं है। हर युवती के जीवन का वह एक रूपकमय सत्य है। उषा स्वप्न में अपने प्रियतम को देखती है। किन्तु जागनेपर ? जागते में तिल तिल टूटने के सिवाय उसका हृदय कर ही क्या सकता था ? अंत में उषा को चित्रलेखा मिली जिसकी मदद से वह अपना प्रियतम खोज सकी। काश् हर स्त्री के एक चित्रलेखा होती तो !

हर स्त्री क्यों ? जीवन में मुझे कौन साथी मिलेगा, वह कैसा होगा—ये कल्पनाएँ करते समय मुझे भी विशेष सुख का अनुभव होने लगा था।

दिलीप ?

नहीं ! जाने कहाँ बैरागी बना भटकता होगा। मैं कोई बैरागिन नहीं हूँ जो उसकी पत्नी बनूँ !

दिलीप नहीं । फिर कौन ?

मैं अब समझने लगी ज्योतिषियों पर मनुष्य क्यों विश्वास करता है ।

'अलीबाबा और चालीस चोर' कहानी में एक हीरे मोतियों से भरी हुई गुफा है । यौवन के दरवाजे पर खड़ा होकर यदि मनुष्य देखे तो जीवन भी एक रत्नों का भंडार ही दिखाई देता है । रहस्य पूर्ण किन्तु रम्य । 'तिल, तिल, खुल जा' ये शब्द कह बाहर का मनुष्य दरवाजा खोल गुफा में प्रवेश कर सकता था । जीवन-भविष्य का दरवाजा खोलने का यदि कोई ऐसा ही मंत्र मनुष्य को मिलता तो—

पर नहीं—

शायद ऐसा मंत्र मानवसमाज को शाप-रूप प्रतीत होता । सर्दी के दिनों में कुहरे में से दिखनेवाला धुँधला उजाड़ प्रदेश भी कितना सुहावना मालूम पड़ता है । नहीं ? जीवन का भी यही हाल है ।

यौवन-सहज निराकार उन्मादक प्रेम ! शायद कोई कवि उसकी तुलना चाँदनी से करे । किन्तु मेरे विचार में वह प्रीति कुहरे समान होती है । उसके कारण आसपास का सारा जगत् निराला ही दिखाई देता है । कितना धुँधला ! कितना नयनमनोहर ! ! उस कुहरे में पृथ्वी और आकाश एक हो जाते हैं । एक नया महासागर उमड़ आने का आभास होता है ।

इस कुहरे का नशा मेरे मन पर पूर्ण अधिकार जमाये हुए था । इसी समय हमारे कालिज में एक पारितोषिक-वितरण समारंभ रामगढ़ के राजासाहब के सभापतित्त्व में हुआ । राजासाहब हमारे कालिज की कमेटी के उपसभापति थे । उनकी तबियत ठीक न थी फिर भी उन्होंने समारोह में आना स्वीकार किया था । प्रिंसिपल साहब की इच्छा थी कि मैं समारोह के बाद आभार-प्रदर्शन करूँ ।

कारखानेवाला अपने माल का नई नई आकर्षक तरकीबों से विज्ञापन करता है न ? हमारे कालिज भी कारखानों से भिन्न नहीं हैं । उन्हें भी नये नये उपायों से काम लेता पड़ता है । अंत में मुझे आभारप्रदर्शन करने को कहना उनमें से एक उपाय था ।

पर—

हिरन का पीछा करनेवाले दुष्यंत को उस दिन क्या तनिक भी कल्पना होगी

कि आज जीवन की एक अद्‌भुत घटना घटने वाली है ! वह तो केवल शिकार करना चाहता था । और दैव हँसते मुँह से सब तमाशा देख रहा था ।

मेरी वही गत हुई । मैंने राजासाहब को धन्यवाद दिया और मैं अपनी जगह बैठ गई । करतलध्वनि गूँज गई । मेरा छोटासा भाषण निःसंशय सुंदर हुआ था । बैठते बैठते मैंने राजासाहब की तरफ़ देखा । उनके चेहरे से मालूम होता था कि भाषण उन्हें बहुत पसंद पड़ा था ।

मैं कुरसीपर बैठी भी न थी कि मेरा अभिनंदन करने के हेतु एक हाथ आगे बढ़ा । मैंने उलट कर देखा । राजासाहब की तबियत ठीक़ न थी इसलिये रामगढ़ के दरबार सर्जन भगवन्तराव शहाणे उनके साथ आये थे । पास ही की कुरसी पर बैठे थे । उन्हीं का हाथ था वह ।

मैंने भी हाथ बढ़ा दिया । 'आपका अभिनंदन' कह उन्होंने मेरा हाथ ज़ोर से दबाया ।

एकही क्षण !

दूसरे क्षण मैंने अपना हाथ खींच लिया । उस समय शायद विधाता मेरे पीछे खड़ा रह हँस रहा था ।

उसी हाथ में मुझे अपना हाथ सदैव के लिये देना पड़ा था ।

हवाखोरी के लिये रामगढ़ के राजासाहब कुछ दिन हमारे ही शहर में ठहरे । डा. शहाणे उनके साथ थे ही । किसी न किसी कारण से हमारी उनकी मुलाक़ात होने लगी ।

बहुत दिन हुए पिताजी की तबियत ठीक न थी । परन्तु इलाज कराने के बारे में वे कुछ लापरवाही सी दिखा रहे थे । उस समारोह के बाद एक दिन मैंने पिताजी के बारे में भगवन्तराव से कहा । दूसरे ही दिन वे मोटर में से हमारे यहाँ उपस्थित हुए । उन्होंने कष्टपूर्वक पिताजी के स्वास्थ्य की जाँच की । रक्त का दबाव बढ़ने की आशंका भगवन्तराव के मन में हुई । वे तुरन्त जाकर दबाव देखने का यंत्र ले आये । जाँच पूरी होनेपर उन्होंने पिताजीसे कहा , " डरने की कोई बात नहीं है । " मुझे प्रतीत हुआ कि वे पिताजी से कुछ छिपा रहे हैं । चाय पीकर वे मुझसे बोले, " आपकी छोटीसी बगिया है तो बड़ी सुंदर ! चलिये हमें बताइये न ज़रा ? "

हम दोनों बाहर आये । दादा अपनी जगह से न उठे । वे केवल हँस रहे थे । उनकी

आँखें प्रेमपूर्वक कह रही थीं—मैं आकर तुम्हारे एकान्त का भंग क्यों करूँ ? मैं क्रौंचवध के श्लोक का सच्चा अर्थ जानता हूँ ।

बगिया के एक कोने में भगवन्तराव रुक गये । मैं भी ठहर गई । चारों ओर अध-खिलीं कलियाँ हँस रही थीं ।

गंभीर हो भगवन्तराव बोले, " दादासाहब की तबियत की बहुत देखरेख करनी चाहिये । रक्त का दबाव याने—"

उन्होंने और कुछ न कहा । पर कलियों का अर्धस्फुट हास्य मुझे क्रूर मालूम हो रहा था ।

मेरे दादा—शायद--मृत्यु-और मैं—अकेली ! मैंने कुछ न कहा । किंतु मेरी मुद्रा पर भय और संकट के भाव स्पष्टतया उन्होंने देखे होंगे ।

मधुर स्वर से वे बोले, " इस तरह डरिये नहीं । मैं प्रयत्नों में कुछ कसर बाकी न रखूँगा । "

माँ की मृत्यु का वह दिन मुझे याद आया । उस दिन धीरज देने दिलीप मेरे पास था । वह आज तो—

कौन जाने कहाँ भटक रहा होगा ! कदाचित् मुझे भूल भी गया होगा । अँधेरे में चलते समय सुदूर आकाश में चमकनेवाले अनंत तारों का भी सहारा नहीं मिलता । हाथ में यदि बिजली की बेटरी—

मैंने कृतज्ञतापूर्वक भगवन्तराव की ओर देखा । वे मेरी ओर निर्निमेष देख रहे थे। उनकी दृष्टि में कुछ नवीनता का आभास था। मैं दूसरी तरफ़ देखने लगी ।

treats new

* * * *

प्रतिदिन दादा की तबियत के लिये भगवन्तराव को हमारे यहाँ आना ही पड़ता था । उनके औषधोपचार से दादा की तबियत सुधर रही थी । यदि किसी दिन उन्हें आने में देर होती तो मुझे कुछ भूला-भूला सा प्रतीत होता था। बरसात में कभी सबेरे सूरज न दिखने पर अकारण ही उदासी आती है न ? मेरी गत भी वैसी ही थी ।

एक दिन हम तीनों चाय पी रहे थे । भगवन्तराव अपने कालिज के दिनों की मजेदार बातें बता रहे थे । आपरेशन करते समय कितनी सावधानी रखनी पड़ती है इसका वर्णन उन्होंने बड़ी चारुता से किया था । दादा बीच में ही बोल उठे, " आपरेशन के नामसे ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं । "

भगवन्तराव हँस पड़े और बोले, "और शस्त्रक्रिया के नाम से ही मैं फूला नहीं समाता। वे रोग जिनमें केवल दवाई का उपयोग होता है अपनी विशेषता नहीं रखते। रोगी यमलोक पहुँचने का डर बहुत थोड़ा होता है इसलिये उसके अच्छा होने पर हमें खास आनंद नहीं मिलता। किन्तु आपरेशन के समय मरीज़ काल की डाढ़ में पहुँच चुकता है। मृत्यु से लोहा ले मरीज़ को खींच लाने में एक तरह का पराक्रम होता है। उस विजय का उन्माद—"

मेरी दृष्टि भगवन्तराव पर लगी हुई थी। एक क्षण ठहर कर उन्होंने मेरी तरफ़ देखा। मैं तो शर्म से गड़ गई।

दादाने पूछा, "यदि कभी आपरेशन अयशस्वी होता होगा तो आपको बहुत कष्ट पहुँचता होगा। है न?"

"पराजय का अनुभव मुझे बहुत कम है। केवल एक ही बार—"

पता नहीं क्यों? वे सहमकर सहसा रुक गये। हँसकर मेरी ओर मुड़कर बोले, "क्या और एक प्याली चाय है?"

"पकौड़ियों को तो हाथ भी नहीं लगाया आपने?" मैंने कहा।

दादा बीच में ही बोल पड़े, "सुलोचना ने अपने हाथ से बनाई हैं।"

"फिर तो न खाना ही अच्छा है।"

मजे से एक बरफ़ का टुकड़ा मुँह में डाला जाय और बाद में उसकी ठंड़क से दाँतों को तकलीफ़ पहुँचे—यही हाल हुआ मेरा वह वाक्य सुनकर। दादा भी कुछ चकराये। मैंने कुछ हुआ ही नहीं यह बतलाने का प्रयत्न करते कहा, "आजकल लोगों की यह धारणा है कि पढ़ी लिखी स्त्रियां खाना भी नहीं पका सकतीं। इसी लिये मैंने खासतौर से पकौड़ियाँ बनाई हैं। आपको लेना ही चाहिये।"

मेरा ख्याल था कि वे एक पकौड़ी उठाकर अवश्य चखेंगे। पर वे हँसते हुए बोले,

"माफ़ कीजिये! पकौड़ी में मिरचा तो ऐसा होना चाहिये कि आँखें आँसू बहायें।"

मैंने कहा, "खाइये तो। जीभ न जले तो कहिये।"

"इसमें मिरचा होना असंभव है!"

"आपने कैसे जाना?"

"आपने बनाई हैं न? फिर तो मीठी ही होंगी।"

अब कहीं मैं उनका मजाक समझ सकी। मैंने कहा, "आपने बेकार इंग्लैंड जाकर डाक्टर बनने में इतना रुपया खर्च किया।"

"क्या मतलब!"

"आप कहानी लेखक होते तो अच्छा होता। कहानी की कथावस्तु आप अच्छी तरह रँग सकते हैं।"

उन्होंने ऐसा अभिनय किया मानों उनका शरीर रोमांचित हो गया हो। वे बोले, "मेरे संबंध में आपका मत वहुत विपरीत दीख पड़ता है।"

मैं जानती थी कि यह सब मजाक था। पर बच्चे कभी कभी झूठमूठ रोते हैं उसी तरह मैंने भी झूठा क्रोध दिखाया।

वे हँस पड़े और बोले, "आपने शायद वह कथालेखक पर रची हुई लघुलघुतम कथा नहीं पढ़ी।"

मैंने नकारात्मक सिर हिला दिया। भगवन्तराव बताने लगे, "एक तीनसौ कहानियाँ और पचास उपन्यास लिखनेवाला लेखक था। उसकी जेबमें एक फूटी कौड़ी भी न थी। ईश्वरसे जवाब पूछने के हेतु वह एक मंदिर में गया। ईश्वर प्रसन्न हो बोला, 'जो चाहो सो वर माँगो।' लेखक के मुँहसे एकदम यही उद्‌गार निकले, 'हे भगवान्। ऐसा उपाय कर कि मेरी जेब की माचिस और बीड़ी कभी समाप्त न हो।'" यह कहकर वे हँसे, देखादेखी मैं भी हँसी। नहीं तो—

मैंने बढ़ाई हुई तश्तरी में से उन्होंने एक पकौड़ी उठाई और मुँह में डाली।

मैंने खासकर पूछा, "कैसी है पकौड़ी?"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया, "यह पकौड़ी है?"

"और क्या?"

"मैं समझा कि मैं लड्डू खा रहा हूँ!"

* * * *

नदी के प्रवाह के साथ नाव बहती जाती है। मैं भी भगवन्तराव के साथ बही जा रही थी। सिनेमा हो, सभा हो, दूर घूमने जाना हो, उन्हें 'ना' कहने का मुझे साहस ही न होता था। यदि वे दोपहरी में भी आते और मुझसे बातचीत करते बैठते तो बाहर की चिलचिलाती धूप मेरे लिये शीतल चंद्रिका बन जाती। सिनेमा देखते समय उन्होंने अपना हाथ मेरे हाथ पर रखा था—कितना स्पंदन था उसमें!

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई बंद रेडिओ एकदम शुरू हो गया था। और उसमें से सुमधुर संगीत सुनाई दे रहा था। मैंने प्रयत्न किया कि उनके हाथ में से अपना हाथ निकाल लूँ। पर उन्होंने अपने हाथ पर और दबाव डाल दिया। मेरे शरीर का कण कण नाच उठा। उस नर्त्तन की वह मधुर छुम छुम—

पिताजी अब बहुत कुछ अच्छे हो चले थे। वे बार बार सोचते थे कि भगवन्तराव को 'पत्रं पुष्पं' कुछ न कुछ अवश्य दिया जाय। पर दुविधा यह थी कि देने का सवाल किस तरह उठाया जाय। अंतमें मैंने—

एक दिन संध्या समय हम दोनों मेरे कमरे में बैठे बातचीत कर रहे थे। मैंने बड़ा धीरज कर उनसे कहा, "आपने पिताजी को अच्छा कर दिया। पर आपने अभी तक बिल नहीं बताया।"

मैंने अच्छे अच्छे सुंदर सुंदर वाक्य याद कर रखे थे। पर वे सब के सब मैं भूल ही गई।

मेरे मन में उथल पुथल हो रही थी। यह देख कि मैं रुक गई हूँ, भगवन्तराव बोले, "मैं रामगढ़-रियासत का दरबार-सर्जन हूँ। इंग्लैंड जाकर डाक्टरी की ऊँची शिक्षा प्राप्त कर आया हूँ। इस कारण यह ज्ञात होना चाहिये कि मेरी फीस अवश्य ही बहुत होगी।"

मैंने उनकी ओर देखा। उनकी आँखें तेजस्वी किंतु निर्विकार दीख रही थीं। मानों संगमर्मर का चमकीला पत्थर। मैं यही विचार कर रही थी कि भगवन्तराव कितनी रकम बिल-स्वरूप माँगते हैं। एक हज़ार—दो हज़ार—

उन्होंने पूछा, "बिल कितने दिनों में दीजियेगा?" मैंने झूठी ढीठता से उत्तर दिया, "आप जब माँगें तब!"

"अभी?"

"हाँ, अभी के अभी!"

"सोच लीजिये नहीं तो बाद में टालमटोल कर दीजियेगा"

मैं उनकी तरफ़ देखती ही रही।

"मुझे कोरा चेक चाहिये।"

"क्यों?"

"मैं चाहूँ उतनी रकम उसमें लिख लूँगा।"

"पर—"

" पर विर कुछ नहीं। एक लाख—एक करोड़—एक अरब—कुछ भी माँगू फिर भी कम ही होगा।"

मुझे विश्वास था कि वे केवल मजाक में ही बातें कर रहे थे। इसलिये मैंने कहा, " अच्छा दिया कोरा चेक। अब बताइये आपकी रकम।"

झट आगे बढ़ उन्होंने मेरा मुँह चूम लिया। मुझे प्रतीत हुआ कि जूही-चमेली के फूलों की मुझपर वर्षा हो रही है। शरीर के कण कण में बिजली चमक उठी। मन के अंतस्तल में सितार के मधुर स्वर गूँज गये।

" बिल वसूल हो गया। रसीद चाहिये ?"

भगवन्तराव के इन शब्दों से मैं होश में आई। खिड़की में से उदय होता हुआ पूर्णचन्द्र अतिसुंदर दिखाई दे रहा था। मैंने सोचा—वह मेरे बिलकुल पास आ गया है। मैं उसे हाथ में पकड़ भी सकूँगी।

* * * *

मुझे यह अनुभव था कि दुःखावेग से मनुष्य को नींद नहीं आती। किन्तु उस रात को मुझे आनन्द के कारण नींद न आई। रह रह कर मुझे भगवन्तराव का वह मधुर ओष्ठ-स्पर्श याद आ रहा था। उस याद से सारा शरीर पुलकित हो जाता था। ऐसा मालूम होता था की चाँदनी से भी अधिक सुहावना कुछ मेरे हृदय में नाच रहा था।

पुराण में कथा है की शिला होकर पड़ी हुई अहिल्या रामचंद्रजी के चरणस्पर्श से सजीव हो उठी। शायद प्रथम चुंबन में भी वही शक्ति है। उस एक स्पर्श से प्रीतिके पैर की शृंखलाएँ टूट पड़ती हैं।

पिंजरे का पक्षी आसमान में उड़ान भरने लगा। उस रात मेरे मन में उमड़ी हुई भावनाएँ और उठी हुई कल्पनाएँ—उनका वर्णन करना मेरी शक्ति के परे है।

सारा आकाश इन्द्रधनुषों से भरा हो—रत्नसागर के समस्त रत्न समुद्र की लहरों पर लहराने लगें—नहीं नहीं—कोई भी चित्र मेरे अत्यानन्द का चित्रीकरण यथार्थ में नहीं कर सकता। उस उन्माद की कल्पना कोई भी नहीं कर सकता।

अर्धरात्रि के उपरान्त एक क्षण मेरी आंख लगी। मैं एक स्वप्न देखने लगी। स्वप्न में भगवन्तराव मेरा चुम्बन ले रहे थे। मैं शर्माकर कह रही थी, " कोई देख लगा न ?"

भगवन्तराव एकदम गायब हो गये। उनकी जगह दिलीप दिखाई दिया।

मैं जाग पड़ी। मुझे वह रात याद आई जब दिलीप उत्तर-भारत को चल दिया था। मैं स्वयं उसके कमरे में गई थी। उसका चुम्बन लेने के लिये नीचे झुकी थी। यदि वह जाग न पड़ता तो—

यह एक पहेली हो गई थी। मेरा सच्चा प्रेम किससे है? दिलीपसे या भगवन्तरावसे? सबेरा होने तक मैं अपने मन को समझा रही थी—दिलीप यह एक मेरे जीवन का सुन्दर सपना था। ऐसा सपना जीवन में एक बार ही दिखाई देता है।

इतने सालों में उसने मुझे एक पत्र भी न भेजा था। कहीं जनाब किसी पंजाबी या अवधी स्त्री से विवाह कर मौज न उड़ा रहे हों।

मैं बार बार मन से कह रही थी—अब दिलीप को भूल जाना चाहिये। उसका मेरा संबंध अब समाप्त हो चुका। दो पक्षियों के एक वृक्ष पर एक क्षण बैठने और चहचहाने से ही दोनों का एक घोंसला निर्माण नहीं होता।

दिलीप को भूलने का प्रयत्न लकड़ी पानी में डुबोने के समान निष्फल था। लकड़ी एक क्षण पानी में डूबती है—दूसरे ही क्षण पानी की सतह पर दिखाई देती है—बस वैसा ही मेरा प्रयत्न था।

उस रात दिलीप जहाँ सोया हुआ था उस ओर मैं गई। वह सूनी खाट, उसपर लपेटकर रखा हुआ मेहमान के लिये बिस्तर—मैं न जान सकी मैं क्या ढूँढ़ रही थी। बाहर की चाँदनी मुझे डरावनी मालूम होने लगी। मैं अपने कमरे में वापस आई और सिरपर चादर ओढ़ पड़ी रही।

ज़ब मैं जगी तब सूरज काफ़ी चढ़ आया था। मेरी नींद पर मुझे बड़ा क्रोध आया। भगवन्तराव आठ बजे आने वाले थे। चाय पीते पीते दादाके पास विवाह की बात निकालने वाले थे। और मैं सात बज चुके फिर भी बिस्तरे पर—

बडी जल्दीसे मैंने केशभूषा और वेशभूषा की। शीशे में अपना ही प्रतिबिंब एकटक देख मैं मनही मन सोचने लगी—मुझे देख भगवन्तराव क्या कहेंगे? जैसी अप्सरा—

अप्सरा—

यहीं—इसी शीशे के सन्मुख मैं खडी थी तब दिलीपने यही शब्द कहा था। नहीं?

दिलीप—दिलीप—

स्मृति और दुःखाई हुई नागिन एक ही से हैं। कभी न भूलनेवाली दो चीजें! बाहर मोटर का हार्न बजा। मैं साड़ी पिन ढूँढ़ने लगी। पर—

नौकर ओर चीज़ यदि यथासमय काम पड़े तो पृथ्वी क्या स्वर्ग हो जाय—किसी ने ठीक कहा है।

मैं जल्दी जल्दी ढूँढ़ने लगी। मेज़ के दराज़ भी खोल देखे। एक दराज में वह नमक की पुड़िया—मेरे लिये वह नमक दिलीप शिरोड़ा से लाया था। मैंने वचन दिया था कि आमरण उसे सँभालचर रखूँगी। मैंने वह नमक दराज़ में और वह याद मन के किसी अँधेरे कोने में फेंक दी थी। पर—

चाय पीते समय भगवन्तराव बोले, "आज की चाय तो नमकीन बनी है।"

"सच!" दादाने चौंक कर कहा।

"आज एक व्यक्ति का चित्त ठिकाने कहाँ है। शक्कर समझ उसने नमक ही डाल दिया है चाय में।"

ट्रे वापस रखने के लिये मैं रसोईघर में जा तो रही थी। पर ट्रे में की एक प्याली टेढ़ी हो गिर पड़ी थी इस पर मेरा ध्यान ही न था। मुझे देहरी की ठोकर लगी—वह प्याली नीचे गिरकर चूर चूर हो गई।

मुझे आभास हो रहा था—मनमंदिर से मैं दिलीप की मूर्ति निकाल दूर दूर फेंक रही हूँ। क्या यह उसी मूर्ति के टुकड़ों के गिरने की आवाज है?

दिलीप ने दिया हुआ नमक—स्वतंत्रता का चिन्ह मात्र—देशभक्ति की वह याद—किस हेतु दिया था वह मुझे?

माँ परलोक सिधारी वह रात—दिलीप का वह अनुराग पूर्ण स्पर्श—

मुझसे बिदा हो दिलीप गया वह रात—उसकी और कोई याद नहीं है इसलिये एक क्षण उसका चुंबन लेने की मेरी अनिवार्य इच्छा—

किसी पतंग को दो डोरें बाँधकर हवा में छोड़ा जावे—थोड़ा आगे बढ़े तो झट पूरी शक्ति से पीछे खींचा जावे—यही हाल था मेरे मन का। मैं सोच रही थी कि कमरे में तकिये में मुँह छिपा जी को हलका करूँ। इतने में ही—

पिताजी की वह मुद्रा मैं कभी भूल नहीं सकती। सूखे पत्तों पर गिरी हुई ओस की बूँदों की तरह उनकी आँखों में आनंदाश्रु चमक रहे थे।

छोटे बच्चे की तरह थपथपाते हुए वे मुझसे बोले, " सुलोचना, बड़ी भाग्यवाली बच्ची है तू! तेरा सौभाग्य देखने वह होती तो—"

माँ की याद से मेरी आँखों में भी पानी उतर आया। मेरी आँखें पोंछते हुए पिताजी ने कहा, " मुझे डर था कि कहीं मैं तेरा विवाह न देख सकूँ पर—"

आगे उनसे कुछ न कहा गया। मेरा हाथ पकड़ वे मुझे बाहर ले गये। मुझे अपना ही अचम्भा लग रहा था। मैं एक पुराणपंथी लड़की के समान दूसरी ओर देखती बैठी रही।

भगवन्तराव से दादा कह रहे थे। " शाकुन्तलनाटक का चौथा अंक मैंने कई बार कालिज में पढ़ाया है। किन्तु पढ़ाते समय आज जैसी उथल पुथल मेरे मन में कभी नहीं हुई।" मेरी ओर मुड़कर उन्होंने कहा, " सुलोचना, ज़रा इस तरफ़ देखो।"

सभा में व्याख्यान देनेवाली मैं! पर भगवन्तराव से दृष्टि भिड़ाने का साहस मुझसे न हुआ।

भगवन्तराव दादा से बोले, " सुलोचना के ससुराल जाने पर आपको कुछ दिन चैन न पड़ेगा।"

पिताजी हँसकर बोले, " मेरी एक और लड़की है। आप नहीं जानते?"

" कौनसी?" भगवन्तराव ने पूछा।

पिताजी ने उत्तर न दिया। वे उठकर सितार ले आये। उन्होंने बहुत प्रयत्न कर आँखों में आँसू रोख रखे थे! अब वे आँसू ही मधुर-स्वर बन गये थे।

शाम को हम दोनों पैदल ही घूमने निकले। उनकी इच्छा टेकड़ी के तले की बगिया में बैठने की थी। पर मेरा आनंद तो आज गगन से स्पर्धा कर रहा था। मैंने टेकड़ी पर जाने का हठ किया। प्रेयसी की हैसियत से उनपर अधिकार चलाने का मेरा यह पहला ही अवसर था। यह मौका मैं कैसे हाथ से जाने देती? वे भी धीरे धीरे मेरे साथ आने लगे। परन्तु मोटर में घूमने की आदत होने के कारण थोड़ी ही देर में उकता गये। जब वह थककर रुक जाते तो मैं उनसे कहती कि " मेरे बैठने की जगह देखकर आपको बड़ी प्रसन्नता होगी।"

पहाड़िया के नुक्कड़ की वह प्रचंड चट्टान—उसके चहुँ ओर वे छोटे छोटे शिला-समूह—और चारों तरफ़ फैले हुए पत्थर—

मैंने वह जगह बताई तो वे मुझे खुश करने के हेतु बोले, "पत्थरों को फूल की चाह होती है इसलिये मंदिर बनाये जाते हैं। और फूलों को पत्थर प्रिय होते हैं इसलिये ऐसी पहाड़ियों का निर्माण होता है।"

सच पूछो तो उनका यह मजाक का वाक्य सुन मुझे प्रसन्न होना चाहिये था। पर इसी जगह दिलीप ने एक वाक्य कहा था। उसकी याद आ मेरी प्रसन्नता विषाद में परिणत हो गई। उसने कहा था, "पहाड़िया के इन प्रचंड पत्थरों से जो उत्साह मिलता है वह बगिया के उन छोटे छोटे फूलों में कहाँ!"

दिलीप को पत्थरों की चाह! और भगवन्तराव को फूलों का प्रेम! भगवन्तराव एक कुशल शस्त्रवैद्य। पलक हिलते ही मानवशरीर काटने की कुशलता उन्होंने प्राप्त की थी। फिर उनको फूलों के प्रति इतना प्रेम क्यों?

और दिलीप—मनका कितना कोमल! उसका मन याने पारिजात का फूल। हाथ की उष्णता से भी पारिजात का फूल कुम्हला जाता है। क्या दिलीप भी ठीक वैसा न था? राह चलते मनुष्य के दुःख से भी उसका मन व्याकुल हो उठता था। उसका मातृप्रेम— देशप्रेम— भगतसिंह फाँसी पर चढ़ाया गया उस दिन का उसका उपवास—

फिर दिलीप पत्थरों को क्यों इतना चाहता था?

मुझे प्रतीत हो रहा था—हर व्यक्ति का जीवन एक पहेली ही है। दिलीप और मैं—दोनों का चार साल का सहवास था। किन्तु मैं उसके मनको पूरी तौर से न समझ सकी थी।

भगवन्तराव मेरे पास ही बैठे थे। वे मेरे पति होने वाले थे। उनका मन भी—

जो स्त्री चार साल में एक पुरुष का हृदय न जान सकी वह दो ही मास में दूसरे पुरुष का हृदय क्या जान सकेगी?

फिर भी मैं उनकी पत्नी होने निकली थी। विवाह यह मनुष्य-जीवन की एक दुर्घटना है यही सच है।

भगवन्तराव का कोमल स्पर्श— मेरी ओर उनकी प्रेमभरी मादक दृष्टि—उनके

ओठों का मधुर हास्य—ये सब बातें मुझे जता रही थीं कि भगवन्तराव तेरे हैं—केवल तेरे–किन्तु मेरा मन कह रहा था—नहीं।

मनुष्य का मन पुरातन राजमहल की तरह है। क्या बाहर से कोई बता सकता है उसमें कितने चौक हैं? आज हम पहले चौक में खड़े हैं– वहाँ प्रेम का प्रकाश फैला है–जहाँ तहाँ जगमगाहट है। पर इस चौक से आगे बढ़ने पर—

क्या दूसरे चौक में भी ऐसा ही प्रकाश होगा?

धुनक धुनक कर कपास साफ़ होता है। पर मन? नहीं! क्या रेशम भी धुनका जा सकता है? रेशम धुनकने पर उसके धागों का क्या होगा?

यदि कोमल हाथों से भगवन्तराव मुझे न खींचते तो—

—तो मेरी सारी रात मुझे भिन्न भिन्न आशंकाओं से परेशान कर देती।

किन्तु मेरी रात मधुरस्वप्नों से महक उठी।

* * * *

हमने निश्चय किया कि विवाह वैदिक–पद्धति से न हो, रजिस्टर–पद्धति से हो। यह भी तय हुआ कि दूसरे ही दिन पंद्रह दिन पहले दिया जाने वाला विज्ञापन छपा दिया जाय।

किन्तु दूसरे ही दिन राजासाहब का एकाएक हरिद्वार जाने का ठहरा। उनकी तबियत में कोई खास फ़र्क न था। अभी तक उनके कोई पुत्र भी न था। किसी ज्योतिषी महाराज ने उन्हें कोई विशेष कर्मकाण्ड करने कहा था। वह कर्मकाण्ड यदि गंगातट पर किया जाए तो साठ साल की अवस्था के बाद भी पुत्रप्राप्ति हो सकती है यह उनसे डंके की चोट पर कहा गया था। उन्होंने तुरन्त ही हरिद्वार जाने का इरादा किया।

भगवन्तराव को उनके साथ जाना ही चाहिये था। उन्होंने इच्छा प्रगट की कि मैं भी उनके साथ चलूँ। दादाने भी अनुमति दे दी। स्वप्न में भी संभव न होते हुए मैं हिमाचल के उत्तुंग शिखरों के नीचे जा पहुँची।

हरिद्वार के देवालय, साधु बैरागी देख कर मुझे विशेष प्रसन्नता होना संभव न था। किन्तु हिमाच्छादित उत्तुंग हिमशिखर दूर से देख कर भी सुधबुध भूल जाती थी। मन कहता—इन शिखरों पर चढ़कर चहुँ ओर की शोभा देखने में अवश्य ही एक अनुपम आनन्द होगा। शंकर–पार्वती के कैलास पर्वत पर रहने में अवश्य ही कुछ

रहस्य है। पर मुझमें साहस न हुआ कि भगवन्तराव से मेरी कल्पना कहती। उन्होंने मेरा मजाक उड़ाया होता—मुझे पागल कहा होता।

दिलीप होता तो वह अवश्य ही—

हिमालय की पर्वतराजि देख, दिलीप की याद न आना बिलकुल असंभव था। उसकी आकाश में ऊँचे, खूब ऊँचे जाने की इच्छा और पत्थरों की चाह याद आ मन कहता—सैकड़ों साल बीत गये होंगे। हिमालय की ये चट्टानें गंगाजी का पालन कर रहे हैं। बरफ़ में डूबकर भी कभी उन्होंने शिकायत नहीं की। हिमालय के हिमाच्छादित शिखर और गंगाजी का शुभ्र निर्मल प्रवाह इनके संग हरिद्वार के मेरे दिन समाप्त कब हुए मुझे पता भी न पड़ा। राजासाहब का कर्मकाण्ड समाप्त होने पर हम लौटे पड़े। जिस गाड़ी से हम निकले उसी गाड़ी में एक स्टेशनपर तीस चालीस बैरागी भी चढ़े।

दूसरे दर्जे की एक बर्थपर पड़े पड़े मैं सोच रही थी कि इन बैरागियों का जीवन बड़ा ही विचित्र होगा। जिसे सब लोग सुख के नाम से पुकारते हैं ऐसी क्या एक भी सुविधा इन्हें मिलती होगी? न घर, न बीबी, न बच्चे! प्रतिदिन एक नई धर्मशाला में मुकाम करना और किसी नई गृहवधू के सामने "माई भिक्षा" की पुकार कर कटोरा सामने बढ़ाना! इस तरह जीना भी क्या—

इसी उधेड़बुन में मेरी आँख लग गई। जब मैं जगी तब काफ़ी रात बीत चुकी थी।

एक जगह गाड़ी रुकी। स्टेशन का नाम देखने के लिये मैं खिड़की से बाहर झुकी। चारों ओर देखा। बैरागियों का वह झुंड यहीं उतर पड़ा था। वे एक के पीछे एक इस क्रम से जा रहे थे। बीच बीच में एक-आध के चेहरे पर दिये की रोशनी पड़ जाती थी। एक युवा-बैरागी एक बूढ़े बैरागी को पीठ पर लादे जा रहा था। जब वह बत्ती के पास आया तो बूढ़ा चिल्ला उठा। उसका लोटा नीचे गिर पड़ा था।

बूढ़े का चिल्लाना सुन, सहम कर युवक ने मुड़कर देखा। बत्ती का प्रकाश उसके चेहरे पर पड़ा।

मेरी आँखों पर मेरा ही विश्वास न बैठता था। दिलीप था वह!

उस क्षण यही इच्छा मन में थी कि डिब्बे का दरवाजा खोलकर उसके पास दौड़ जाऊँ।

इतने में ही गाड़ी की कर्णकठोर सीटी बजी।

मैंने 'दिलीप' कह पुकारने का प्रयत्न किया। पर पुकार मेरे ओठों से बाहर ही न निकली। ठंड से पानी जमकर बरफ़ हो जाता है न ? मेरी आवाज़ भी जम गई थी। अँधेरे में भकभकाती हुई गाड़ी चल पड़ी—मुझे दिलीप से दूर ले जाने लगी। केवल वही गाड़ी नहीं जिसमें मैं बैठी थी। मेरे जीवन की गाड़ी भी !

* * *

दूसरे दर्जे की एक कोमल बर्थ पर मैं लेटी थी। पर रात भर मेरा मन तिल-तिल टूट रहा था।

बाहर अंधकार छाया हुआ था। वे चमकनेवाले तारे मुझे चिढ़ा रहे थे। वे मुझसे उपहासपूर्वक कह रहे थे, "हम हँसते हँसते आकाश से पृथ्वीपर कूद पड़ते हैं। और तू—स्टेशनपर गाड़ीमेंसे भी उतरने का साहस तुझमें नहीं है।" क्या ? गाड़ी चल पड़ी थी। हो सकता है। तो जंजीर क्यों नहीं खींची ?

एकके बाद एक स्टेशन निकल रहे थे। मैं सोचती थी—यह सुरम्य प्रदेश मैं फिर न देख सकूँगी। कदाचित् दिलीप भी—

वह बैरागियों के झुंड में शामिल क्यों हुआ ? क्या उत्तर भारत में आकर फिर किसी दंदफंद में फँसा था ? और फिर पुलिस की आँख में धूल फेंकने के लिये—

या मुझे अब सुलोचना मिलना संभव नहीं—

यह जान निराश हो उसने गेरुए वस्त्र ग्रहण किये होंगे।

मुझे मेरी दूसरी शंका सच प्रतीत होने लगी। क्या दिलीप को मेरे प्रति कोई भी आकर्षण न होगा ? असंभव है ! दिलीप अवश्य ही मेरे लिये ही संन्यासी बना होगा !

कड़ाके के जाड़े में यही इच्छा होती है कि बढ़िया रजाई से शरीर ढँक लें। इस दूसरी कल्पना ने भी मेरे मन को लपेट लिया।

रातभर मैं दिलीप का ही विचार कर रही थी ! दिलीप का जीवन ही अद्‌भुत और रम्य था ! मानो बरफ़ से ढका हुआ साक्षात् हिमालय !

सामने भगवन्तराव गाढ़ निद्रा का अनुभव ले रहे थे। उनकी तरफ़ देखकर मैंने सोचा कि उनका जीवन एक खुले मैदान की तरह था। उसमें न कहीं मुड़ाव

और न कहीं ऊँची नीची पहाड़ियाँ। न शुभ्र स्वच्छ किन्तु शीततम बरफ़ का आच्छादन! न आकाश से स्पर्धा करने की आकांक्षा! सब कुछ अलौना! स्वाद-हीन! मोटर में घूमने वाले इस सिविल-सर्जन की अपेक्षा वह स्वच्छंद विचरने-वाला वैरागी—

क्या कविकल्पना का जन्म रात्रि में ही होता है? क्या विज्ञान के सारे आविष्कार रात के अँधियारे में ही उदित होते हैं?

पता नहीं। पर मेरा अपना यही विचार है। रात्रि की नीरवता में पक्षी अपने घोंसलों में बसेरा करते हैं। पर यहाँ वहाँ घूमनेवाला मानवमन? वह त्रिभुवन में फेरा लगाता फिरता है। प्रणय, दिन को पानी सरीखा दिखाई पड़ता है। पर रात्रि की छाया उसपर पड़ते ही उसी पानी में अमृत की मोहिनी उत्पन्न होती है। साहस की कल्पनाएँ दिन में पागलपन मालूम होती हैं। किंतु रात के श्यामपट पर साहस की आकृति बड़ी ही गंभीर और सुन्दर प्रतीत होती है। (दिन मनुष्य का शत्रु है। रात प्रेयसी।) सूरज के प्रकाशते ही आकाश के ही नहीं बल्कि मन के तारे भी अस्तायमान हो जाते हैं।

भगवान् सूरजमहाराज ने दर्शन दिये। भगवन्तराव जाग पड़े। उनके सहास्य मुख की ओर देखकर मेरे सामने रातको देखी हुई दिलीप की मूर्ति आ खड़ी हुई। वह डाढ़ी—वह जटाजूट—वह कफनी और वह बूढ़ा—

मैं रातभर दिलीप का विचार कर रही थी, इस बात पर मेरा ही विश्वास न बैठता था। मैं अपने ही मन पर क्रोध कर रही थी। बचपन में इकट्ठे किये हुए रंग बिरंगे पत्थर और काँच के टुकड़े कोई भी हीरे समझ तिजोरी में बंद कर नहीं रखता।

मैं जीवन के एक नये चौक में अब प्रवेश कर रही थी। वहाँ दिलीप का कूड़ा-कचरा जमा करना पागलपन समझा जाता। मैंने वे सारी यादें उठाकर दूर दूर फेंक दीं।

पालतू कबूतर आसमान में चाहे जितना ऊँचा उड़े। पर फिर अपनी जगह वापस आये बग़ैर नहीं रहता।

—दिलीप की यादें उसी तरह मन में इकट्ठी होने लगीं—चारों ओर मँडराने लगीं। दिलीप, उसी समय मुझे मालूम होना चाहिये था।

यदि भाग्यवश मनुष्य के मन को आँखें होतीं तो—

तो दिलीप के लिये आँसू बहाते बैठने की यह बारी आज मुझ पर क्यों आती?

✤ ✤ ✤ ✤

रात्रि की इस नीरवता में केवल आँसू ही मेरी आंखों के साथी हैं।

पता नहीं यही आँसू विवाह के बाद पिताजी को छोड़ जब मैं रामगढ़ जा रही थी तब कहाँ गये थे? शायद उस समय पिताजी की अपेक्षा रामगढ़ का न देखा हुआ वैभव ही मेरे सामने नाच रहा था। भगवन्तराव ने अपने बँगले का वर्णन इतनी सरसता से मेरे पास किया था कि—

उस प्रशंसा का प्रत्येक शब्द सत्य से परे न था यह तो मुझे मोटर बँगले के सामने ठहरते ही विश्वास हो गया। अँगूठी के नीलम की तरह चमक रहा था वह। उसके चहूँ ओर वह बगीचा और सामने वह विस्तीर्ण तालाब—

क्षणभर मैं यही सोच रही थी कि मैं स्वप्न ही देख रही हूँ। तालाब के उसपार राजासाहब का आलीशान निवासस्थान था। तालाब के आसपास ही और पाँच-सात अधिकारियों के बँगले थे। शहर कोई एक कोस दूर था। इतनी सुंदर और प्रशांत जगह एक सुंदर बँगले में मैं जन्मभर रहने वाली थी, मेरा परिचय उन बड़े बड़े अफ़सरों की पत्नियों से होने वाला था, घर में केवल हम दोनों पति-पत्नी राजारानी के सदृश जीवन का सुख लूटने वाले थे—ऐसे कितने ही मनोराज्य निमिषमात्र में मेरे सामने आ चुके थे।

कभी कभी फूल के हारगजरों का भी बोझ असह्य हो जाता है। मेरा मन इन स्वप्नमय विचारों से बेहोश सा हो गया था।

नौकर ने फाटक खोला। मैं अंदर गई। भगवन्तराव किसी अफ़सर से बातें करते खड़े थे। अधीरता से मैंने सारा बँगला छान डाला! सुन्दर फर्निचर, मनोहर चित्र, अच्छी अच्छी अलमारियाँ! पैर को गलीचों के सिवा कुछ लगता ही न था। रमणीयता की छोड़ आँखों को कुछ दिखता ही न था।

दोमंजिल के सब कमरे देखकर मैं तीसरी मंजिल पर जाने लगी।

साथ का नौकर बोला, "बहूजी, ऊपर कुछ नहीं है।"

मैंने हँसकर पूछा, "फिर यह जीना किस लिये है?"

उसका उत्तर सुनने के पहले ही मैं जीना चढ़ चुकी थी। ऊपर का गच्च तो

काफ़ी बड़ा था। तिमंज़िल का वह एकमेव कमरा—बाहर से ही बड़ा पसंद आया मुझे। वह देखने के लिये मैं दरवाज़े की तरफ़ गई।

पर—

दरवाज़े में ताळा लगा हुआ था।

मैंने नौकर से पूछा, "इसकी चाबी किसके पास है जी?"

"साहब खुद अपने पास ही वह कुंजी रखते हैं।"

मुझे कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ। सारा बँगला नौकरों के सपुर्द और इस कमरे की चाबी इनके पास—। दूसरे ही क्षण मैंने सोचा, "ये अकेले रहते थे इस बँगले में। उन्हें क्या ज़रूरत इस कमरे की? इसीलिये उन्होंने इसे बंद कर रखा होगा!"

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि यही अपना शयनगृह बनाया जाय। अब भगवन्तराव ऊपर आते ही उनसे चाबी माँग लूँगी।

गच्च से आगे बढ़ मैं देखने लगी कि भगवन्तराव अंदर आये या नहीं।

वे फाटक के पास ही अभीतक खड़े थे। कोई एक बैरागी उनसे आना पैसा माँग रहा था। वे गुस्से से उसे निकल जाने के लिये कह रहे थे।

वह बैरागी देख मुझे दिलीप का स्मरण हो आया। क्या वह भी इसीप्रकार दरबदर भीख माँगता होगा?

अकस्मात् कल यदि वह इसी बँगले के सामने आ खड़ा हुआ तो? मुझे देख वह क्या समझेगा?

(अहंकार न होता तो हर मनुष्य देवता बन जाता)। नहीं?

वैभव और हैसियत के नशे में मैं सोचने लगी कि यदि दिलीप आवे तो क्या भिक्षा डालूँ!

किन्तु—

दिलीप भिखारी था ही नहीं। फूटी कौड़ी पल्ले न होते हुए भी वह धनी था। सच्ची भिखारिन तो मैं थी। पर दिलीप के आगे आँचल पसार जो भीख मैं चाहती थी वह माँगने का मुझमें कभी भी साहस न हुआ।

और आज—आज—उसी भीख के न मिलने के कारण मैं पागल हुई ज रही हूँ।

❧ ❧ ❧ ❧

बैरागी को निकाल बाहर कर भगवन्तराव ऊपर आये। मेरी प्रसन्नता मेरे चेहरे पर ही व्यक्त हो रही थी। उन्होंने हँसते हँसते पूछा, " क्या रानी सरकार को बँगला पसंद आया ? " मैंने उत्तर दिया, " पीछे एक समय मैंने कहा था कि आप एक सिद्धहस्त कहानी लेखक हुए होते। मैं वे शब्द वापस लेती हूँ। "

" क्यों ? "

" सिद्धहस्त कथा लेखक से आप एक कुशल इंजीनियर ही अधिक अच्छीतरह बने होते ! "

" याने ? क्या तुम यह समझ बैठी हो कि यह बँगला मैंने बनवाया है ? "

" फिर ? "

" यह तो राजासाहब ने खास तौर से बनवाया है। "

" किसलिये ? उनका विस्तीर्ण प्रासाद तो उसपार ही है ? "

भगवन्तराव एक पल स्तब्ध रहे। पर मैं कैसे चुप रहती ? मैं तो यही सोच रही थी कि अपने लिये बनवाया हुआ बँगला राजासाहब ने अपने दरबार सर्जन को क्यों दे दिया ? मनुष्य के मन की तुलना बच्चों से ही की जा सकती है। भाँति भाँति के प्रश्न सामने आते हैं और उत्तर मिले बग़ैर चैन नहीं आता।

भगवन्तराव चुप थे यह देख मैंने पूछा, " क्या यहाँ कोई न रहता था ? "

" क्यों न रहता था ? " वे कुछ रुक से गये। उनके माथे पर ऐंठन सी दिखाई दी। " दुरुस्ती के लिये रास्ता बंद है। " वह ऐंठन मुझे इस तख्ती की भाँति मालूम पड़ी। पर मुझसे न रहा गया।

मैंने पूछा, " कौन ! "

" आक्कासाहब रहती थीं यहाँ। "

" आक्कासाहब ? याने बड़ी राजकुमारी ! "

" हाँ ! "

" पहले रानीसे ! "

" हाँ ! "

" अब शायद शादी हो गई है उनकी ! "

" नहीं नहीं ! "

" तो फिर ! "

" वे परलोक सिधार चुकी हैं। "

यह छोटासा वाक्य ! किन्तु उसे कहते समय उनका स्वर बदला हुआ सा प्रतीत हुआ । प्रकाश की किरणें आँखों पर गिरते ही आँखें चौंधिया जाती हैं। उनके स्वर में वैसा ही कुछ—

आक्कासाहब और भगवन्तराव की कोई प्रणय–कथा तो न होगी ? मुझे शक हुआ । उस शक पर हँसी भी आई । उपन्यास की कथावस्तु रचने में मनुष्य बड़ा चतुर होता है । छोटी छोटी सी बातों में भी उसे रहस्य देखने की आदत होती है । नहीं तो आक्कासाहब की मृत्यु का उल्लेख करते समय भगवन्तराव का स्वर कंपित क्यों हो गया था यह बताना कठिन न था । 'डाक्टरी में पराभव का अनुभव मुझे बहुत कम है' यह भगवन्तराव ने ही सगर्व मुझे बताया था । और आज रामगढ़ में आते न आते ही उन्हें मेरे सम्मुख मान्य करना पड़ रहा था कि रामगढ़ की राजकुमारी को वे न बचा सके थे । पुरुषों का आनन्द अहंकार ही पर अवलंबित रहता है । उस अहंकार पर ही अनजाने मैंने आघात किया था ।

आघात की वेदना प्रखर न हो इसलिये मैंने कहा, " तिमंजिल का कमरा बहुत सुंदर है । आंग्ललेखक टामस हार्डी का एक उपन्यास है '*Two on a Tower*' । यह कमरा देख मुझे उसी की याद आ रही है । "

भगवन्तराव ने मेरे कहने पर 'हाँ' भी न कहा । पुरुष के अहंकार पर आघात और स्त्री के प्रेम का जखम जल्दी अच्छे नहीं होते ऐसा एक वाक्य मैंने कहीं पढ़ा था । उसका मुझे स्मरण हो आया ।

मैंने हाथ बढ़ाते हुए कहा, " मुझे इस कमरे की चाबी चाहिये । "

" किसलिये ? "

" किसलिये क्या ? यह कमरा अब रानीसाहब का होने वाला है, सरकार । "

" इससे तो दोमंजिल का कमरा बढ़िया है ! "

किसी तरह मैं चाहती थी कि वे हँसें । मैंने कहा, " अप्सराएँ स्वर्ग में रहती हैं । पृथ्वीपर नहीं । "

वे हँसे । वह हँसना मुझे बहुत भाया । उन्होंने हँसकर कहा, " मायके भाग जाने का इरादा है क्या ? "

" क्यों ? "

" यहाँ तीसरी मंजिल पर हवा लगातार लहराती रहती है । कहीं हवा लग, जुकाम हो गया तो उसी बहाने— "

मैंने बात काटकर कहा, "हवा लगने से बीमार पड़ने वाली मैं कोई पालने में की बच्ची हूँ? बीस बाईस सालकी युवती—और एक ख्यातनाम डाक्टर की पत्नी।"

उन्होंने एक क्षण मुझे निहारा। जेब में हाथ डाला। एक चाबी निकाल मेरे हाथ पर रखी। तिजोरी की चाबी मिलने से भी अधिक आनंद मुझे हुआ था। 'उन्होंने' मेरा हठ पूरा किया था।

दोपहर को भोजन के उपरान्त मैं बायजा मेहरी से कमरा साफ़ करवाने के लिये ऊपर गई।

मैं चाबी भी न घुमा पाई थी कि बायजा ने पुकारा, "बाई साब—" उसके स्वर में भीति का कंप था। मैंने चौंककर पीछे देखा। कहीं बिच्छू वगैरह तो—पर डरने का तो कोई कारण दिखाई न दिया।

मैंने ज़ोर से पूछा, "क्या है री!"

"इस कमरे में सोएँगीं आप?"

"हाँ!"

"नहीं बाईसाब, आप निचले—"

वह और कुछ कहना चाहती थी। पर कमरे का जाला वगैरह साफ़ करने के लिये हमारा नौकर किसन एक बाँस में बुहारी बाँध ऊपर आया था। उसने बायजा को संकेत किया। वह एकदम चुप हो गई।

धीरे धीरे कमरा साफ़ होने लगा। पर रह रह कर मेरे मन में यही आता था—बायजा मुझसे क्या कहना चाहती थी!

इस कमरे में कोई भूत-बीत तो न होगा। नहीं। मुझे जैसी सुशिक्षिता स्त्री को ऐसे किस्से-कहानियों में विश्वास न रखना चाहिये। उनका विचार भी न करना चाहिये।

पर भगवन्तराव भी तो यह कमरा खोलना नहीं चाहते थे।

बायजा भूत-प्रेत में विश्वास रख सकती है। पर भगवन्तराव तो निरा गँवार न थे।

मैं अपने मन में कह रही थी—कुछ भी हो। मैं दादासमान बुद्धिवादी सुधारशील मनुष्य की लड़की हूँ। मैं थोड़े ही भूत-पिशाच्च का लोहा मान सकती हूँ।

उन दिनों मुझे एक बात ज्ञात न थी। भूतों में भी कई जातियाँ होती हैं।

कोई कोई याद भी भूत के ही समान होती है। कभी आदमी का पीछा नहीं छोड़ती। मनुष्य का बदला लिये बग़ैरे नहीं रहती।

रामगढ़ के पहले छः मास—

एक दिन के समान बीत गये वे दिन !

उन महीनों में मेरा जीवन लबालब सुख से भरा हुआ था। ठीक सामने के तालाब की तरह। तालाब के पत्थर पानी में डूब गये थे। मैं भी भूतकाल का दुःख और भविष्य की चिंता भूल गयी थी। तालाब के चारों ओर रंग बिरंगे फूलों के पेड़ थे। मेरे जीवन के नूतन प्रणय के वे भिन्न भिन्न रूप ही थे।

(प्रणय—स्त्रीपुरुषस्नेह—हलाहल का दाह और अमृत की शांति मिलकर ही तो प्रेम का निर्माण नहीं हुआ ?)

समुद्र के ज्वार में बहुत शक्ति होती है। कुशल तैराक भी उसमें से बचकर किनारे नहीं लग सकता। यौवन का प्रणय भी वैसा ही होता है।

(कहते हैं कि काटते समय तीन बार चूस कर नागिन मनुष्य के प्राण खींच लेती है। यौवन का प्रेम भी उसी तरह है। परिचय का आकर्षण, सहवास की उत्सुकता, और मिलन से भी सुखपूर्ति न होने पर होने वाली मन की वेदना—)

मुझे स्वयं वे बातें अब सच प्रतीत नहीं होतीं। क्या मैं भगवन्तराव से इतना प्रेम करती थी ?

पर मेरे 'ना' कहने से यह थोड़े ही सिद्ध हो सकता है कि प्रेम न था। सहस्रों नेत्रों से युग युग की प्रणयचेष्टाएँ देखनेवाली रजनी—उसका कथन लोग अवश्य सच मानेंगे।

(प्रेम और मदिरा दोनों का परिणाम मनुष्य पर प्रथम एकसा ही होता है)। यह सत्य अमिट है। मदिरा का नशा आते ही बड़बड़ाहट शुरू हो जाती है। प्रेम के नशे में मेरे मन में भी अद्भुत कल्पनाएँ आया करती थीं।

भगवन्तराव को सबेरे सात बजे राजासाहब की तबियत देखने उनके बँगले पर हाज़िर होना पड़ता था। इस कारण वे हमेशा पाँच साढ़े पाँच बजे उठ बैठते थे। जब घड़ी में साढ़े पाँच बजते तो मुझे राजासाहब पर बड़ा क्रोध आता। मैं नाराज़ हो भगवन्तराव से कहती, "तुम्हारे राजासाहब की यह तीसरी शादी है पर मेरी

तो–"। मुझे संतुष्ट करने के लिये वे अपना कंबल मुझे ओढ़ाकर कहते, "अब सर्दी तो नहीं मालूम होती ? चुपचाप सो रहो।" मैं मन में कहती, "उत्तर-ध्रुव के आसपास चौबीस घंटों की रात होती है। उसी प्रकार यहाँ भी होती तो क्या बहार आती।"

कोई कह बैठे कि ये कल्पनाएँ बच्चों को ही शोभा देती हैं। नहीं कौन कहता है ?

प्रथम प्रणय का उन्माद मनुष्य को बच्चे से भी बच्चा बना देता है। यदि ऐसा न होता तो क्या मुझे दादाके अकेले होने की याद दिनमें एक बार भी न होती ? और दिलीप की– उसकी दरिद्रता की –उसकी कठिनाइयों की—

एक सुंदर बँगले में मैं परों के गद्दों पर लेट रही थी। वह किसी टूटीसी धर्मशालामें धरित्रीपर अपना थका हुआ माथा टेकता होगा। मेरा सिर कोमल तकियों पर विश्रांति प्राप्त कर रहा था। उसे पत्थर को छोड़ कोई तकिया मिलता ही न होगा। कीमती ओढ़ावन में अपने शरीर को ढक मैं रामगढ़ में करवटें बदल रही थी। इसी समय मेरा दिलीप यू. पी. या पंजाब के किसी छोटे से गाँव में ठंड़ से ठिठुरता इस करवट से उस करवट होता होगा।

किंतु इस समय इनमें से एक भी चित्र मेरे मनःचक्षुओं के सामने न था। मैं भगवन्तराव के परे कुछ देख ही न सकती थी। मैं और वह –वह और मैं—

प्रेम के जगत् में केवल दो ही आदमियों के लिये स्थान होता है।

रात में अकारण मेरी नींद खुलती और पास ही सोये हुए भगवन्तराव की ओर मैं देखती तो कहती—जीवन चमत्कारों से भरा पड़ा है। फिर मन में सोचती—एक चमत्कार यह है कि एक साल पूर्व तक जिसका परिचय भी न था उस पुरुष को स्त्री अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है। कल दूसरा चमत्कार भी—

मैं आँखें खोलकर देखूँ तो एक छोटे से मुँहवाली, नन्हे नन्हे हाथों से खिलौनों से खेलनेवाली बालमूर्ति मेरी गोद में—यह दूसरा चमत्कार—

वह कल्पना बार बार अपने कोमल स्पर्श से मुझे गुदगुदाती थी। मेट्रिक के परीक्षाफल में मुझे जगन्नाथ शंकरसेठ संस्कृत की शिष्यवृत्ति मिली थी वह आनंद, बी. ए. में प्रथम श्रेणी मिली थी वह आनंद, भगवन्तराव ने उस दिन शाम को मेरा चुम्बन लिया था वह आनंद, जीवन में मिले हुए सब आनंदों को तराजू के एक पलड़े में डाल मैं इस नई कल्पना को दूसरे पलड़े में रख तौलती तो—

दूसरा पलड़ा ही अधिक भारी मालूम पड़ता था।

एक दिन जल्दी नींद खुलने के कारण मैं इसी कल्पना से खेलती लेटी हुई थी। नींद लगकर पूरे दो घंटे भी न हुए थे। मैंने एक स्वप्न देखा था। उसमें एक पुष्ट सा बच्चा—उसे चूमने मैं आगे बढ़ी। वह एकाएक गायब हो गया। मैं भयभीत हो जाग गई!

टन् टन् टन्! घड़ी में बारह बजे थे। भगवन्तराव की आँख खुल गई। मैं कुछ बोलना चाहती थी कि वे उठ बैठे। बटन दबाकर उन्होंने सिरहाने का दिया लगाया। उन्हें पता न था कि मैं भी जग रही हूँ। उनकी मुद्रा देखकर मैं विस्मय में पड़ गई। वे डरे से मालूम दे रहे थे।

दबी दृष्टि से उन्होंने चारों तरफ़ देखा। फिर धीरेसे उठकर वे दरवाजे की तरफ़ गये। वहाँ कान लगाकर कुछ सुना सा। फिर से बड़ी देर तक बिस्तरे में व्याकुल से हो करवटें बदलते रहे। मैं विचार कर रही थी—इन्हें काहे का डर लगा होगा? चोरोंका?

रात बे रात इसी तरह उठते हुए मैंने दो तीन बार उन्हें देखा था। पर इस बारे में उनसे कुछ पूछने की हिम्मत न पड़ी। पर, इस कमरे में हमेशा लगा हुआ ताला, अपने पास रखी हुई चाबी, चाबी मुझे देने में बताई हुई नाखुशी—ये सारी बातें मुझे याद आने लगीं। रह रह कर मन कहता—यहाँ भूत-प्रेत तो न होगा?

किन्तु शीघ्र मैं वह सब भूल गई।

विवाह के बाद छः महीने बीत चुके थे। इस बीच हम दोनों एक दुसरे से एक दिन भी दूर न रहे थे। मुझे प्रतीत होता था कि हम दोनों बरसों से एक दूसरे के साथ ही रह रहे हैं।

पर—

राजासाहब का दिल्ली में कुछ काम निकला। प्रायः गोदी लेने के बारे में कुछ था। उनकी तबियत के लिये भगवन्तराव को भी जाना था। महीना बीस दिन का विरह मुझे युगों सा दिखाई देता था। उसकी केवल कल्पना से ही मेरी आँखों में आँसू आ गये। शायद मैं अकेली रहना पसंद न करूँ इसलिये उन्होंने सुझाया कि मैं कुछ दिन के लिये पिताजी के यहाँ चली जाऊँ। मुझे भी उनका प्रस्ताव मान्य था। पर—

उस दिन प्रयत्न के बाद भी मुझे नींद न आई। भगवन्तराव को बेसुध सोते

देख मुझे बड़ा क्रोध आया। मैंने कहा भी—पुरुष के अंतःकरण से तो पत्थर अच्छे। मानों बिछोह का उन्हें कुछ दुःख ही नहीं। पर स्त्रियों के मन—वे फूल से मन विरह की लू लगते ही कुम्हला जाते हैं।

दो बजे बाद मुझे झपकी लगी। जब मैं जगी तब पता नहीं कितने बजे थे। पर मेरे मन में एक ही विचार आया। अब एक महीने भर भगवन्तराव मुझे न दिखाई पड़ेंगे। वे सो रहे हैं तब तक आँखभर उन्हें देख लूँ।

धीरे से उठकर मैं उनकी तरफ़ देखने लगी। खिड़कीमें से चन्द्रप्रकाश अंदर आया था। उस प्रकाश में उनका चेहरा—

मुझे उनका चेहरा दिखा ही नहीं। वहाँ मुझे दिलीप दिखाई दिया।

वह रात—दिलीप भी ऐसा ही शांतचित्त सो रहा था। उसके चेहरे पर चन्द्रमाका प्रकाश गिरा हुआ था। उसके पास जा मैं झुकी और—

क्या दिलीप के ओष्ठ-स्पर्श हेतु गई हुई सुलोचना कोई और थी। कहते हैं कि मनुष्य के शरीर का कण कण सात वर्षों में बदलता है। किन्तु उसका मन—वह तो क्षण क्षण में बदलता रहता है। कितनी जल्दी दिलीप को भूल गई मैं! उसने दी हुई नमक की पुड़िया रामगढ़ आते समय कहीं खो तो नहीं गई?

मुझे बेचैनी ने आ घेरा।

संदूक़ खोल देखे बग़ैर नींद लगना संभव न था। सिरहाने की बत्ती जलाने से तो भगवन्तराव की नींद खुल जाने का डर था।

बत्ती न जलाते ही मैं उठी। संदूक़ के पास बिल्ली के पैरों से जा पहुँची। सदूक़ खोला भी। हाथ से अंदर की चीजें टटोलकर देखीं। वह छोटी तसवीर—माँकी तसवीर मैं साथ ले आई थी। दूसरी बड़ी तसवीर—पिताजी और माँ की फोटो थी वह। सुंदर फ्रेम जड़ाकर मेरी मेज पर रखने वाली थी मैं।

मैं शीघ्रता से ढूँढ़ने लगी—कुछ पत्र हाथ लगे। सोचा—दिलीप जेल गया तब उसने जेल से पत्र लिखा था न? वह भी सँभालकर रखे हुए इन्हीं पत्रों में होगा। वह पत्र पढ़ने की दुर्दम्य इच्छा मेरे मन में हो उठी। पर बत्ती कैसे जला सकती थी मैं? सबेरे ही भगवन्तराव जानेवाले थे। सफ़र की दौड़धूप कम नहीं होती। ऐसे समय नींद तोड़ना!

पत्र पढ़ने की इच्छा को दबाकर मैं नमक की पुड़िया खोजने लगी।

ढूँढ़ते ढूँढ़ते—

खोल रखे हुए सन्दूक के ढक्कन को मेरे बायें हाथ का धक्का लगा और ढक्कन धड़ाम् से नीचे आ गिरा ! मेरा दाहिना हाथ उसके नीचे दब गया और उसकी वेदना असह्य हो उठी—

पर मैं चिल्लाई नहीं। चिल्लाने से भगवन्तराव जाग पड़ते।

मैं चिल्लाई नहीं फिर भी होना था वह हुआ ही।

सिरहाने की बत्ती जली। दबे स्वर से उन्होंने पूछा, "कौन है ?"

कमरे के प्रकाश में भगवन्तराव का चेहरा बड़ा ही डरावना मालूम हो रहा था। न जाने उनका हमेशा का हँसता चेहरा कहाँ गया था। उन्हें किस बात की आशंका थी ? चोरों की ?

नहीं !

मुझे देखते ही उनका चेहरा पूर्ववत् खिल गया ! वे बोले, "अच्छा तुम हो ! इतनी रात बीते क्या षड्यंत्र रचा जा रहा है !"

यदि कहीं असत्य बोलने की होड़ लगे तो पहला नंबर स्त्री का ही होगा यह निस्संदेह है ! मैं एक क्षण भी विचलित न हुई। झट उनके पास जा मैंने कहा, "बटन ढूँढ़ रही थी मैं।"

"याने ? क्या मेरे जाने पर कमीज़ पहनने लगोगी ?"

"चलो हटो ! खास आपही के लिये तो मैं मीने के बटन लाई हूँ परसों।"

"क्या उनके कमीज़ में लगाने का यही मुहूर्त था ? आधी रात बाद सात घटी पच्चीस पल—"

"पुरुष तो मज़ाक़ माँ के दूध के साथ ही पीते हैं।"

"और स्त्रियाँ क्या पीकर बड़ी होती हैं बताऊँ ?"

"हाँ सुनूँ।"

"पागलपन !"

मैंने गाल फुलाकर रुष्टता का स्वाँग रचा। पर वे भी उसे खूब पहचानते थे।

वे हँसकर बोले, "स्त्रियाँ तो यही जानती हैं कि किसी के लिये पागल बनना। पति की कमीज़, ये नये बटन, और ये रात बेरात ढूँढ़ना—सभी कुछ विचित्र है। स्त्रियाँ कितनी भी पढ़ी लिखी हों फिर भी—"

"उनकी स्वभाव-सुलभ भावनाएँ जीवित रहती हैं।" मैंने हँसकर उनका वाक्य पूरा किया।

" दिल्ली में भी तुम्हें मेरी याद आती रहे इस लिये ये बटन— "

" तुम्हारे ये जादूके बटन मैं तो कमीज में न लगाऊँगा।

" क्यों ? "

" बटन पर हाथ पड़ते ही मुझे तुम्हारा स्मरण होगा और फिर मैं तुम्हारा स्मरण करने लगा तो यहाँ आप मारे हिचकियाँ लगने के हैरान हो जाएँगी। इसलिये— "

आगे कुछ न कह उन्होंने बत्ती बुझा दी।

मैं फिर बिस्तर पर आकर लेट गई। भगवन्तराव एकसे मुझसे बोल रहे थे। मैं 'हाँ' 'हूँ' 'नहीं' कह रही थी। मेरे मन में खटका लगा हुआ था। दिलीप ने दी हुई नमक की पुड़िया संदूक में है या नहीं ?

* * * *

दूसरे दिन प्रातःकाल भगवन्तराव दिल्ली चले गये।

माँ की अंगुलि पकड़ भीड़ में से चलने वाले बालक की सहसा अंगुलि छूट जाय। वैसे ही कुछ कुछ मेरी हालत थी। एक क्षण सारा बँगला सूना सूना सा जान पड़ा।

इतने में मुझे उस नमक की पुड़िया की याद आई। दौड़ती ही मैं जीना चढ़ ऊपर आई। बच्चे की तरह सारा संदूक छान डाला। बिलकुल नीचे वह पुड़िया थी। उसे देख मेरे आनंद का पारावार न रहा। मैं दिलीप का ही विचार करती बैठी रही।

मुझे याद आया—दिलीप के पिता रामगढ़ के दारोगा थे। यदि उनके यहाँ पूछताँछ की जावे तो मालूम पड़े कि दिलीप कहाँ है।

मैंने नौकर से पूछा। मालूम हुआ कि सरदेसाई दारोगाजी की छः मास पूर्व ही मृत्यु हो चुकी है।

दिलीप अपनी माँ का उल्लेख बड़ी श्रद्धापूर्वक किया करता था। अब वह बेचारी कहाँ होगी ?

तलाश करने पर मालूम हुआ कि उसका बड़ा दामाद यहाँ का एक प्रसिद्ध साहूकार है। उन्हीं के यहाँ वह रहती है।

मैं उससे मिलने गई। कितनी कृश और दुर्बल हो गई थी वह ! " मेरा दिनू

एक बार मिल जाय तो मैं सुख से मर सकूँगी।" उसके ये शब्द सुन मुझे भी रोना आ गया। "दिनू की साढ़ेसाती अब समाप्त हुई चाहती है। अब वह लौटे बग़ैर न रहेगा।" वह बोली। उसके श्रद्धालु मन पर मैं मन ही मन हँसी। किन्तु उसका समाधान करने के हेतु मैंने कहा, "मैं भी सोचती हूँ कि अब वह जल्द आ जाएगा।"

दिनू के लिये उसने संकट–सोमवार का व्रत लिया था। जिस गाँव में उनका पुराना घर था वहाँ के देवता की मानता भी मानी थी। जब मैं चाय पीने लगी तब वह रामदास का एक श्लोक कह रही थी।

अनुदिनिं अनुतापें तापलों रामराया
परम दिनदयाळा नीरसी मोहमाया
अचपळ मन माझें नावरे आवरीतां
तुजविण शिण होतो धांव रे धांव आतां ॥[1]

शाम को स्त्रियों के क्लब में जाने तक दिलीप की माँकी वह मूर्ति बार बार मेरी आँखों के सामने आती थी। तपस्या करता हुआ ऋषि सुन्दर नहीं दिखता। पर उसकी मुद्रा का तेज प्रभावित किये बग़ैर नहीं रह सकता। दिलीप की माँ की मुद्रा भी—

क्लब पहुँचने पर मैं वहाँ की सब स्त्रियों की तुलना दिलीप की माँ से करने लगी। सुंदरता से सजाया हुआ और बिजली से जगमगाता थियेटर बहुतेरों ने देखा होगा। फिर भी कभी कभी मंदिर में का एकही नंदादीप अधिक शांति प्रदान करता है। वही अनुभव मैं इस समय ले रही थी।

हमारे क्लब में केवल सेठ, साहूकार, जमींदार, बड़े बड़े वकील तथा डाक्टर, और उच्च सरकारी कर्मचारी इन्हीं की स्त्रियाँ आती थीं। यद सच था कि गत छः मास में मैं भी कभी कभी वहाँ गई थी। पर केवल ग्रीष्मवर्षा की तरह। कभी कभी! इतना कम जाते हुए भी दियाबत्ती के बाद मेरा वहाँ ताश खेलने में जी ही न

१ भगवान् रामचंद्रजी! दिन रात मैं पश्चात्ताप की अग्नि में जल रहा हूँ। दयालु, आप से प्रार्थना है कि आप ही मोहमाया का यह पाश तोड़ें। मेरा चंचल मन किसी तरह हाथ में रखना असंभव है। आपके बिना और कोई मेरी मदद नहीं कर सकता। दौड़ कर मुझे बचाइये।

लगता था। फिर कोई मजाक में कहती, "सुलोचनादेवी अब ताश के बादशाह से नहीं खेल सकती। उन्हें तो सचमुचका— "

अधेड़ अवस्था की इंजीनियर की पत्नी कहती, "अभी तो नये के नौ दिन हैं। और कुछ दिन बाद देखना। यही देवीजी क्लब से घर जाना न चाहेंगी।"

उनके उद्गार सुन मैं मन में कहती, "क्या सचमुच गार्हस्थ जीवन ऐसा ही है? नया खिलौना बच्चों को जितना प्यारा होता है क्या इस जीवन में उतनी ही मौज है!"

नहीं!

फिर दसबीस साल वैवाहिक जीवन का अनुभव लेकर ये स्त्रियाँ इस तरह क्यों कहती हैं?

इनके मन क्यों फट गये हैं? वैसे देखा जाय तो किस बातकी कमी है इनके यहाँ? अन्नपूर्णा हाथ जोड़े खड़ी है, और लक्ष्मी चौबीसों घंटे पानी भर रही है। फिर यह असमाधान क्यों? यह असंतोष क्यों?

भगवन्तराव दिल्ली से लौट आने तक मुझे आवश्यकता न थी कि मैं क्लब से जल्दी लौटूँ। मैं क्लब में काफी देर बैठने और गपशप लगाने लगी। प्रथम कुछ दिन सभी स्त्रियाँ भगवन्तरावपरसे मेरी ठिठौली किया करती थीं। वह हँसीमजाक मुझे भी बहुत पसंद था। उसमें इन्हीं बातोंका उल्लेख था कि घरमें दरिद्रनारायण का राज होते हुए भी भगवन्तराव ने किस तरह पढ़ाई पूरी की, किस तरह राजासाहब के कृपापात्र बन उच्च शिक्षा के हेतु विलायत गये, शस्त्रक्रिया में उनके जोड़ के डाक्टर बंबई में भी कितने थोड़े हैं, गरीब विद्यार्थियों की वे कितनी उदारता से मदद करते हैं, इत्यादि। रुमझुम पानी में भींगना सुखप्रद होता है न? सखियों का वह मजाक मुझे उतना ही प्रिय लगा। शाम को किसी समारोह में हाथ में इत्र लगाया जाय और रात को सोते समय उसकी मंदमधुर महक आती रहे उसी तरह जब मैं अकेली रह जाती तो वह मजाक याद कर सोचती, कितनी कितनी भाग्यशाली स्त्री हूँ मैं!

मैं रामगढ़ की सबसे बड़ी विदुषी थी। इस समय मुझे अवकाश भी खूब था। लड़कियों की हाइस्कूल में हेड्मिस्ट्रैस मुझे कई दिनों से बुला रही थीं। इसलिये मैं एक दिन उनकी पाठशाला में गई। बहुत दिनों बाद छोटी छोटी लड़कियाँ देख मुझे बहुत प्रसन्नता हुई।

मैंने निश्चय किया कि किसी कक्षा की पढ़ाई की भी जाँच करूँ। दसवें दरजे में गई! हो सकता है वह मेरा अहँकार हो! पर मैं तो विवाह के समय कालिज में टयूटर जो थी न! फिर चौथी पाँचवीं कक्षा की अबोध बालिकाओं के बजाय—

मैं दसवीं कक्षा में गई। संस्कृत का घंटा चल रहा था। मैंने किताब हाथ में ली और एक लड़की से अगला वाक्य पढ़ने को कहा। वह पढ़ने लगी—'अलं महीपाल तव श्रमेण'। उस लड़की की आवाज़ कुछ कुछ दिलीप की सी थी। उसने रघुवंश के दूसरे सर्ग के एक श्लोक का वह प्रारंभ किया ही था कि—

दस साल पूर्व की सारी घटनाएँ मेरी आँख के सामने आ खड़ी हुईं। बरसात में दीपक के आसपास पतंगे जमा हो जाते हैं उसी तरह मेरे मन की स्थिति थी। यही सर्ग पढ़ते समय मैंने उसका नाम रखा था। —दिलीप! क्यों रखा था मैंने वह नाम?

मुझे पूर्णतया ज्ञात था कि वह अत्यंत ग़रीब है। किन्तु मैंने एक राजाका नाम दिया था उसे।

उस राजा की रानी का नाम सुलोचना था। था न! इसीलिये—

रानी का नाम वह मेरा नाम और राजा का नाम वह दिलीप का नाम!

मैं कक्षा में अधिक देर न ठहर सकी!

और शामको क्लब में न जाकर मैं दिलीप की माँ के यहाँ गई।

बेचारी अपने देवता के सम्मुख एक नीरांजन जला गद्गदस्वरसे कह रही थी—

अनुदिनिं अनुतापें तापलों रामराया
परम दिनदयाळा नीरसी मोहमाया
अचपळ मन माझें नावरे आवरीतां
तुजविण शिण होते धांवरे धांव आतां ॥

उस भजन से मेरा हृदय टूक टूक हो गया। पिताजी के बुद्धिवादी वातावरण में मैं पली हुई थी। समय पड़ने पर 'ईश्वर की कल्पना एक भारी भ्रम है' इस विषय पर घंटे दो घंटे व्याख्यान भी दे सकती थी मैं। किन्तु दिलीप की माँ! मानों संकट से ग्रस्त संसार की सजीव प्रतिमा ही थी वह! उसने कहे हुए श्लोक का वह करुण-गंभीर अर्थ—जीवनमात्र का आक्रोश ही था वह। श्लोक की अंतिमा पंक्तियों में जीवन का बड़ा कटु रहस्य छिपा हुआ था! चंचल मन मोरा ना रहे हाथ मेरे!

भजन समाप्त होने पर माँ मुझसे बोलने लगी। यहाँ वहाँ कोई नहीं है यह देखकर उसने धीरेसे मेरे कान में कहा, "दिनू आने वाला है।"

"कब?" मैं ज़ोरसे पूछ बैठी।

बुढ़िया ने अपने हाथ से मेरा मुँह बंद कर दिया। वह फिर धीमे स्वर से बोली, "भीत को भी कान होते हैं, मालूम है?"

दिलीप की बहन के मकान में भी उसकी माँ, दिलीप आने वाला है, यह खुले आम न कह सकती थी। मुझे आश्चर्य मालूम पड़ा।

मैंने कानाफूसी की, "चिट्ठी आई है?"

"नहीं"

"फिर?"

"सँदेसा आया है एक मनुष्य के हाथ। उसे वह काशी में मिला था।"

"कब आने वाला है दिनू?"

"कब? राम जाने!" यह कह उसने सामने पंचायतन की तसवीर के आगे माथा टेक दिया।

मैं अपने ऊपर ही अचरज कर रही थी उस रात। भगवन्तराव की अपेक्षा दिलीप का ही अधिक विचार कर रही थी। कब आएगा वह? अब वह कैसा दिखता होगा? मेरे विवाह की वार्ता सुन उसे बुरा लगेगा या—

उसे बुरा लगे किन्तु बहुत नहीं—यही कुछ इच्छा मैं कर रही थी। अब मैंने प्रतिदिन उसकी माँ के यहाँ जाना तय किया।

किन्तु—

जीवन के खेल में विधाता प्रायः मनुष्य के विरुद्धवाले पक्ष में होता है।

दूसरे ही दिन पिताजी का पत्र मिला। उनकी तबियत फिर बिगड़ चली थी। मैं तुरन्त रामगढ़ से चल पड़ी।

मेरे आने के बाद पिताजी की तबियत सुधरने लगी। उनकी व्यथा कुछ मानसिक भी थी। माँ की मृत्यु के बाद मैं छोटी थी फिर भी बोलने चालने के लिये मैं घर में थी। पर मेरे विवाह के पश्चात् छः सात मास में सारा मकान मानों खाने को दौड़ता था। जिस दिन मैं पहुँची उस दिन पूरा दिन वे हँसतें और बोलते ही रहे—

"सुलोचना, याद है, मैंने एक लेख कहीं पढ़ा था? लेखक का प्रश्न था कि यदि किसी निर्जन द्वीप पर तुम्हें छः महीने रहना पड़े तो तुम कौनसी किताबें अपने साथ रखोगे? उस प्रश्न के उत्तरस्वरूप मैंने किताबों की एक सूची भी अपने मन में तैयार कर ली थी! उस सूची में उत्तररामचरित था, तुकाराम की गाथा थी, आगरकरजी के निबंध थे—मेरे सब प्रिय ग्रंथ थे। अभी अभी तक मेरा ख़याल था कि मेरा उत्तर बिलकूल ठीक है। पर बेटी, तू ससुराल गई—और क्या बताऊँ उस रात भर मैं बेचैन था। मैं गाथा निकालकर अभंग पढ़ने लगा। 'जब कन्या ससुराल चले' यह अभंग पढ़ा ही और मुझे तुकाराम पर क्रोध हो आया। तुकाराम ससुराल जानेवाली कन्या का मन समझ सका। पर उसकी समझ में यह आया नहीं दीख पड़ता कि कन्यासे बढ़कर उसके मातापिता का दुःख होता है।

गाथा एक तरफ़ रख मैंने उत्तररामचरित खोला। उसके खोलते ही मेरा दुःख और भी बढ़ गया।

मैं यही बार बार सोचने लगा कि (ममता को वियोग का अभिशाप न होता तो संसार अवश्य ही बहुत सुखी होता।)

किसी भी किताब को हाथ लगाने का मन ही न होता था मेरा। रात भर घर में एक पिशाच की भाँति घूम रहा था मैं। यह सुलोचना की प्यारी कुरसी, जहाँ वह पढ़ने बैठती वह यह खिड़की—इस तरह मन में कहते हुए कितनी ही जगह मैं बार बार ठहर जाता था। पर मुझे संतोष न मिला। अंत में तुम्हारे कमरे में मैं सितार ले गया और तुम्हारी वह प्यारी कविता—मन की कौन पहेली बुझाए?—बजाते बैठा! तब कहीं कुछ शांति मिली। तुम्हें याद है जब तुम्हारी माँ पुत्र के लिये ईश्वर से प्रार्थना करती तो मैं उसकी खिल्ली उड़ाता। पर आज मैं भी चाहता हूँ—मुझे पुत्र होता तो—तुम ही लड़का होतीं तो—"

"मैं?" मैंने प्रयत्न किया कि उनकी बात काटूँ! पर एकाकी होने का उनका दुःख मुझे भी असह्य हो उठा। मैं भी सोचने लगी—मुझे एक भाई अवश्य चाहिये था।

शायद इसलिये कि मैं बहुत थोड़े दिन रहने वाली थी, पिताजी हमेशा मुझसे बोलते ही रहते थे। एक समय मैंने उनसे कहा, "पिताजी अब कभी आपकी तबियत नादुरुस्त हो तो एकदम रामगढ़ चले आइये।" वे बोले, "इतने में तो मैं नहीं आ सकता।"

मैंने पूछा, " क्यों ? "

" रामगढ़ में मेरे ठहरने का क्या इंतजाम है ? "

" याने ? क्या मैं वहाँ धर्मशाला या सराय में रहती हूँ ? अच्छा खासा बँगला जो है। "

" किन्तु तुम्हारे यहाँ मैं अन्नग्रहण कैसे करूँ ? "

मैं रुष्ट हो उनकी ओर देखने लगी । उनका प्रश्न ऐसा था जैसा कि एक पुराण-पंथी बाप अपनी नई रोशनी वाली कन्या से पूछता ।

वे हँसे और बोले, " हमारे धर्मशास्त्र में लिखा है कि जब तक लड़की के पुत्र न हो, उसका पिता उसके घर अन्नग्रहण न करे। "

दादा बुद्धिवादी कहाते थे। हिंदु धर्म की कितनी ही रूढ़ियों के वे कट्टर विरोधी थे। उन्होंने लिये हुए धर्मशास्त्र के पक्ष के कारण मुझे हँसी आना चाहिये थी। पर मैं हँसी नहीं। उनके शब्दों से एक कोमल भावना मुझे स्पर्श कर गई जिसकी गुद-गुदी काफ़ी देर तक रही।

घर में जब मैं अकेली रहती तो मुझे भी पुरानी बातें याद आ बड़ी प्रसन्नता मिलती। इस कमरे में माँ बीमार थी—अंतिम दिन उसने मुझे पास ले मेरे मुँहपर हाथ फेरा था—

माँकी मृत्यु के बाद मैं पास के ही कमरे में रोते रोते सो गई थी । फिर दिलीप मेरें पास आया—उसने मुझे अपने पास ले मेरे आँसू पोंछ डाले ।

दिलीप का स्मरण होनेपर मैं बहुत समय तक उसका ही विचार करते बैठती । इसी घर में मेरे साथ चार साल रहा था वह । उन चार सालों का हमारा हँसी-मजाक, हमारी एकदूसरे पर रुष्टता, हमारा गाना और सितार, हमारी पढ़ाई, दिनू के वे उपोषण के दिन—सब—सब कुछ आँख के सामने आ जाता ।

किसी रूमाल में केवड़े का फूल रखिये। कुछ समय बाद केवड़ा निकाल लीजिये फिर भी उसका मंदमधुर सौरभ रूमाल से नहीं निकलता। दिलीप की याद ऐसी ही थी।

मैं सोचती—इस बीच दिलीप रामगढ़ आ अपनी माँ से मिल फिर निकल गया होगा। दैवी संकेत ही है कि मैं उससे न मिल सकूँ। अन्यथा उत्तर भारत के जिस स्टेशन पर बैरागी के वेश में दिलीप दिखा, क्या वहाँ रेलगाड़ी कुछ देर और न ठहरती ?

जब मुझे भगवन्तराव का दिल्ली से वापस आने का पत्र मिला तो मैं दिलीप को भूल गई। मेरे सामने गत छः मास का वह सुखपूर्ण जीवन नाचने लगा। बँगले में तिमंजिल का मेरा कमरा—नहीं— हमारा कमरा, उस कमरे में के हमारे एकांत के प्रणयपूर्ण मधुर संभाषण—

मैंने तुरन्त ही रामगढ़ जाने की तैयारी की। मैंने भगवन्तराव को तार भी भेज दिया कि मैं किस गाड़ी से पहूँच रही थी।

मेरी वह शीघ्रता देख पिताजी को मज़ाक सूझ रहा था। मैंने उनकी बातचीत का रूख़ बदलने के किये कहा, "पिताजी, यह सितार पुराना हो गया है। अब नया मोल ले लीजिये।" वे बोले "मैं भी तो वही कहता हूँ!"

"मैं भेज दूँ?"

"इतने में नहीं!"

"तो कब?"

"मेरे नातियों के झगड़े में जब इसके तार टूटें—"

आगे सुनने के लिये मैं वहाँ ठहरी ही नहीं।

मेरी कल्पना थी कि स्टेशनपर भगवन्तराव अवश्य आएँगे। पर मुझे केवल शोफर ही आया दिखाई पड़ा। मेरा कलेजा सा कट गया। कहीं बीमार तो नहीं हैं?

"साहब कहाँ हैं?" मैंने शोफर से पूछा।

"जेल की जाँच करने गये हैं," उसने उत्तर दिया।

मैं जानती थी कि जेल की देखरेख उन्हीं की सुपुर्द थी। पर आज हम कितने दिनों बाद मिल रहे थे। इस समय उनका जेल जाना—अच्छा सगुन न मालूम पड़ा मुझे। क्या मुझसे मिलने के लिये अपना काम कुछ समय वे दूर न रख सकते थे? मैंने मन में कहा, "पुरुष प्रेम कैसे करे यह जानते ही नहीं।"

मैं बँगलेपर पहुँची। चाय पीकर ऊपर यह देखने गई कि तिमंजिल का कमरा नौकर ने साफ़ कर रखा है या नहीं। वह बड़ा संदूक जो वे दिल्ली ले गये थे एक कोने में पड़ा था। उसमें ताला भी न था। योंही मैंने खोलकर देखा। ऊपर ही कुछ नई अंगरेजी किताबें दिखाई पड़ीं। ताजें फूल देख कौनसी स्त्री खामोश बैठ

सकती है? इच्छा होती है कि उनमें से एक फूल उठाकर जूड़े में लगा लें। नई किताबों के बारे में मनुष्य का यही हाल होता है। उन्हें देख—

मैंने संदूक की सब किताबें निकाल सरसरी तौर से छान डालीं। जासूसी कहानियाँ—गंभीर और विचित्र अपराधों की कथाएँ—मैं जानती थी कि भगवन्तराव ऐसी ही किताबें अधिक पसंद करते हैं। पर वे दसबीस किताबें देख न जाने क्यों मैं प्रसन्न न हुई। बहुतसा मरुआ यदि कुछ देर नाक के पास रखा जाय तो वह उग्र दर्प असह्य हो जाता है—वैसे ही ये किताबें—

अब एक ही किताब देखना बाकी रही थी। मैंने किताब खोली और मुझे हँसी के मारे न रहा गया। *Ghost stories* (भूतों की कथाएँ) थीं वह। इतना जगत् घूमे हुए भगवन्तराव छोटे बच्चों जैसे भूतों की कथाएँ पढ़ते हैं! उन्होंने जगह जगह निशान बना रखे थे। उन्हें देखकर तो मेरी हँसी रोकते न रुकी।

बाहर अच्छी निर्मल धूप पड़ी हुई थी। भगवन्तराव के वे भूत ट्रंक में बंद कर मैं बगीचे में गई। जहाँ देखो वहाँ फूल ही फूल दिखाई पड़ रहे थे। मुझे आभास हुआ—मेरा जीवन भी इस बगीचे के सदृश ही है। किनारे तक भरे तालाब के पानी पर सूरज की किरणें नाच रही थीं। शायद मेरे मन का प्रतिबिंब ही था वह। आनंद से परिपूर्ण मेरे मन में प्रेम भी इसी तरह छुम छुम नाच रहा था। नहीं?

मैंने घड़ी की तरफ़ देखा। मुझे आये एक घंटा बीत चुका था। पर अभी तक भगवन्तराव लौटकर नहीं आये थे। मुझे उनपर गुस्सा आ रहा था। मैके से पत्नी दौड़ी आकर बँगले में प्रतीक्षा कर रही है और ये महाशयजी वहाँ जेल की जाँच कर रहे हैं। मुझे मालूम हो रहा था कि यद्यपि भगवन्तराव में और बहुतसे गुण हैं फिर भी काव्य की बड़ी कमी है।

बड़ी बेचैनी से मैं घड़ी की ओर देखती बैठी रही। पर भगवन्तराव न आये।

सहसा मैंने सोचा। चलो स्वयं जेल की ओर चलें। जेलर ने मुझे तीन चार बार देखा है। वह मुझे अंदर जाने से न रोकेगा। जेल की ओर जाते जाते मैं भगवन्तरावसे क्या कहा जाय यह भी सोचती जाती थी। यदि वे पूछें, "यहाँ क्यों चली आई?" तो मैं कहूँगी, "मैं यह देखने आई हूँ कि आप डाक्टर की हैसियत से जेल में आये हैं या देशभक्त की!"

पर यह कुछ भी कहने की आवश्यकता न पड़ी।

जेलर मुझे उस कमरे की ओर लेगया जहाँ भगवन्तराव बैठे थे। मैं बाहर से ही

खड़ी हो सुनने लगी। वे किसी क़ैदी से बोल रहे थे। भगवन्तराव कह रहे थे, "इस अन्नसत्याग्रह में चोर भी शामिल हैं।"

"चोर भी मनुष्य ही है। उन्हें भी अच्छे अन्न की आवश्यकता होती है।" उत्तर आया। स्वर परिचित सा जान पड़ा।

"पर चोर तो गुनहगार होते हैं।"

"कोई भी सुखसे गुनहगार नहीं बनता। जब पेट भरने को कण भी नहीं मिलता तभी बहुतेरे चोरी करते हैं।"

वह स्वर—

मैंने झट आगे बढ़कर देखा!

वह दिलीप ही था!

वह बहुत ही दुबला हो गया था। दाढ़ी भी बड़ी हुई थी। पैरों में बेड़ियाँ थीं—पर मैंने उसे तुरन्त पहचान लिया।

उसने भी मेरी तरफ़ देखा। वह हँसा।

जिस भीत के सहारे मैं खड़ी थी वह घूमती सी मालूम पड़ी। मैं सहमकर नीचे बैठ गई। शायद मेरी चूड़ियाँ बजते ही भगवन्तराव ने पीछे मुड़कर देखा। 'सुलोचना' उनका यह आश्चर्योद्गार मेरे कानों पर पड़ा। एक क्षण बाद मैंने आँखें खोलीं।

बेड़ियों की झनकार सुनाई दे रही थी। पर दिलीप मेरी दृष्टि से ओझल हो चुका था।

* * * *

वास्तव में मैं उपन्यास लिखने बैठी थी। मन के प्रवाह में जो स्मृतियाँ यहाँ वहाँ बह रही थीं उन्हें ही लिख गई।

तैलचित्र दूर से ही लुभावना मालूम पड़ता है। स्मृतियाँ भी वैसी ही हैं। दिलीप को मैंने जेल में देखा उसके बाद की सब घटनाएँ दो या तीन साल की ही हैं। पर ऐसा प्रतीत होता था कि कल ही की सब घटनाएँ हैं। वे स्मृतियाँ कहने को मन धीरज ही नहीं बँधाता।

छोटा बच्चा जब बोलना प्रारंभ करता है तो एक एक अक्षर का उच्चारण कर रुक जाता है। मेरी लेखनी भी रूद्ध सी हो गई है।

देखा जाय तो उस दिन जेल में मैंने केवल देखा ही था उसे।

अब सोचती हूँ—वह केवल दृष्टिक्षेप न था। एक दूसरे की प्रतीक्षा करने वाले दो हृदयों का मिलन था वह।

भगवन्तराव के साथ जब मैं मकान जा रही थी तब मेरा हाथ उनके हाथ में था। पर मेरा मन? वह जेलकी पथरीली दीवार काटकर एक कोठरी में दिलीप के पास जा उससे कह रहा था, "पगले, बैरागी बने क्यों न हो, बाहर तू स्वतंत्र था। यहाँ सड़ने के लिये क्यों आया? कैसे आया? और इस अन्नसत्याग्रह के झंझट में क्यों पड़ा?"

दोपहर को हम दोनों खाना खाने बैठे। मैंने कौर उठाया। घर के ताजे घी की सुंगध नाकों तक पहुँची। पर—

वह कौर मुँह में धँसे न धँसता था। मेरा कौर हाथ के हाथ में ही देख भगवन्तराव बोले, "क्या पिताजी की याद हो आई है?"

मैंने गर्दन हिलाकर 'हाँ' का संकेत किया। पर मेरी आँखों के सामने तो दिलीप खड़ा था। सुना था कि अन्नसत्याग्रह प्रारंभ हुए दो तीन दिन हो चुके थे। इन दो तीन दिनों में दिलीप ने अन्न का एक कण भी गले के नीचे न उतारा था। और मैं स्वादिष्ट भोजनका थाल सामने ले बैठी थी।

दूसरे दिन मैंने धीरे धीरे सारा हाल भगवन्तराव से मालूम कर लिया। दिलीप पर रियासत का पहले का वारंट था ही। वह उत्तर भारत में यहाँ वहाँ घूम रहा था इसलिये वारंट तामील न हो सका था। यहाँ से कोई काशी गया था। उसके मुँह उसे पिता की मृत्यु का हाल मालूम हुआ। वह अपनी माँ से मिलने के लिये यहाँ आया था। दो तीन दिन रह वापस जाने वाला था। पर उसकी बहन की लड़की, "हमारा मामा आया है! हमारा मामा आया है!" यही सब जगह चिल्लाती फिरी। पुलिस ने दिलीप के बहनोई के मकान पर दृष्टि रखी। माँसे मिलने आया हुआ दिलीप जेल का रास्ता काटने लगा।

जेल जाते ही उसने जेल के अन्न के विरुद्ध आवाज उठायी। दूसरे कैदी भी उसके आंदोलन में शामिल हुए। सब ने एक हो भूखहड़ताल ठान दी।

मेरा कहना था कि कैदियों की कुछ माँगें पूरी कर सत्याग्रह बंद कर देना चाहिये। भगवन्तराव हँसकर बोले, "कहा जाता है कि स्त्रियाँ राज का कारोबार नहीं कर सकतीं। वह बिलकुल झूठ नहीं है।"

मैंने उत्तर दिया, "क्या आप यह क़बूल नहीं करते कि कैदियों का भोजन बहुत खराब होता है ?"

"कैदी याने राजासाहब के मेहमान तो हैं नहीं ? उन्हें अच्छा भोजन देगा कौन ?"

"पर कैदी होनेपर भी तो वे मनुष्य ही हैं !"

"वाह वाह ! तुम भी उस दिनकर की तरह बोलने लगीं ! पगली हो सुलोचना तुम ! जेलखाने में ग़रीब मनुष्य नहीं आता। वहाँ आता है जंगली पशु !"

उस भूखहड़ताल में दिलीप न होता तो मैं चुप रहती। किन्तु मुझे रह रह कर दिलीप की याद आ रही थी। मैं उसका हठी स्वभाव अच्छी तरह जानती थी।

प्रेम का उपयोग मदिरा के समान हो सकता है यह मैंने उस रात जाना। शराबी शराब के नशे में चाहे जो मंज़ूर कर लेता है, उसी तरह पुरुष भी प्रेम के नशे में—

मैं बहुत प्रसन्न थी कि अन्नसत्याग्रह बंद होने वाला है। दिलीप का जीवन संकट से बाहर है यह कल्पना ही मेरे हर्ष का कारण थी। पर इस आनंद में एक दोष था। केवल मेरे लिये भगवन्तरावने यह सब क़बूल किया था। वह भी दिन में नहीं—मेरा युक्तिवाद मान्य कर नहीं—तो रात में—

आँधी पानी के डर से किसी टूटे फूटे मकान का आसरा लिया जाय। एक क्षण बिजली चमके और उस मकान में जहाँ तहाँ साँप के बिल ही बिल दिखाई पड़ें। क्या मेरी हालत इससे भिन्न थी ? मैंने एक समय एक लेखक का यह कथन पढ़ा था। ("वेश्या अपनी सुन्दरता की बिक्री फुटकर करती है। किन्तु कुलीन स्त्री विवाह के रूप में उसका थोक विक्रय करती है।") उस समय मुझे यह कथन विकृत सा मालूम पड़ा था।

किन्तु उस रात मुझे मालूम हो चुका था—(पुरुष को स्त्रीके मन की पर्वाह नहीं होती। उसका प्रेम उसकी आत्मा नहीं होता। उसे स्त्रीके शरीर से आसक्ति होती है।)

यह हलाहल भी मैं पी सकती थी। पर—दिलीप, संसार में यदि अमृत न होता तो क्या कोई विष को विष के नाम से पुकारता ?

* * * *

अखबारों ने मुक्तकंठ से भगवन्तराव की प्रशंसा की थी। इसलिये कि उन्होंने उदारतापूर्वक जेलका अन्नसत्याग्रह बंद कराने में मदद की थी। हमारे यहाँ आने वाले टाइम्स आफ् इंडिया के सिवा मैं और कोई अखबार न पढ़ती थी। पर इस समय जब मुझे पता पड़ता कि किसी अखबार में भगवन्तराव के बारे में कुछ लिखा गया है तो मैं उसे मँगवाती और पढ़ती।

प्रतिदिन सूरज ऊगता और डूबता। दिन बीते जा रहे थे। सामने तालाब में लहरें नाचती थीं। हमारे बगीचे में फूलों की बहार थी। शाम को मोटर में हम घूमने जाया करते थे। भगवन्तराव जब काम से लौट आते तो वही प्रेमालाप अब भी चलता था।

उन्हें देखकर मेरा सिर गर्व से उन्नत हो जाता था। विलायत से लौटे हुए भगवन्तराव। पर जब किसी अंगरेज की राजासाहब के यहाँ दावत होती तब भी वे पानी ही पीते थे। कभी कभी अत्याग्रह से सिगरेट अवश्य पी लेते थे। और जिस दिन सिगरेट पीते उस दिन मुझसे कहते, "आज कड़ी सजा है हमें।"

मैं पूछती, "किसलिये ?"

"सिगरेट पीयी है आज मैंने। पत्नीसे हजारों बातें छिपाई जा सकती हैं पर तम्बाकू की बास—"

जब कभी वह ऐसा कहते तब मैं उन्हें झूठा सिद्ध करने के हेतु—

खैर ! सुख की वे स्मृतियाँ ही अब मुझे दुःखदायी हो रही हैं। प्रकृति युवक-युवतियों को प्रेम के खिलौने दिया करती है। अपने सुंदर रंगों से वे खिलौने उनका मन मोह लेते हैं। पर जब खेलते खेलते वे खिलौने टूट जाते हैं तब उनका सत्य-स्वरूप प्रगट होता है। उन नयन मनोहर रंगों के अंदर फटे चीथड़ों के सिवा दूसरा कुछ नहीं होता।

हमारे भी प्रणय का वसंत खिल रहा था। प्रणय के उस उन्माद में मैं यह भी भूल गई कि दिलीप जेल में था। पर—

मैंने दर्जी के यहाँ कुछ ब्लाउज सीने दिये हुए थे। उन्हें लाने दर्जी के यहाँ गई हुई थी मैं। वे सुन्दर सुन्दर नई फेशन के कपड़े ले दर्जी मोटर तक दौड़ा आया। उसने मोटर का दरवाजा खोला। ठीक इतने ही में खन्-खन्-खन्-खन्-आवाज सुनाई दी। मैंने रास्ते की ओर देखा। कैदी काम समाप्त कर जेलखाने की ओर जा रहे थे। उन कैदियों में वह-वह—

हाँ दिलीप ही था वह—

उसके वे मोटे और भद्दे कपड़े—कुरता और जाँघिया—

मैं चुपचाप ब्लाउज ले गई। पर तीन चार दिन तक मैंने पहनकर भी न देखे।

कुछ ही दिन बाद हमारे स्त्रियों के क्लब का वार्षिकोत्सव हुआ।

एक सरकारी बगीचे में समारोह हुआ था। थोड़ी देर के लिये रानी साहब भी पधारी थीं। उस दिन तीसरे पहर हम तीन चार स्त्रियाँ योंही बगीचे में घूम रही थीं। सामने ही कुछ कैदी काम कर रहे थे। मैंने सोचा—आगे न जाना चाहिये। पर साथ की स्त्रियों से क्या कहती? मैं भी उनके साथ आगे बढ़ी। जहाँ वे कैदी काम कर रहे थे उसी रास्ते पर हम जा पहुँचे। मेरे अनजाने ही मेरी गति धीमी पड़ गई। मैं एक कैदी की ओर देखने लगी! उसने भी सिर ऊँचा कर मेरी तरफ़ देखा। मुझे देख वह हँस पड़ा। और तुरन्त ही गर्दन झुका काम करने लगा। जब हम आगे बढ़े तो एक बोली, "कैसे बदतमीज होते हैं ये लोग। तुमने देखा वह बेशऊर हमारी ओर देख कैसा हँसा!"

मुझे देवीजीपर अत्यंत क्रोध हो आया।

और मुझ पर भी! दिलीप के लिये मैंने क्या किया था? और क्या करनेवाली थी?

दिलीप के बारे के बिचारों ने एक भारी तूफ़ान खड़ा कर दिया था। यदि मन की यह आँधी और उग्र होती जाती तो—

पर प्रकृति की इच्छा इस के विपरीत थी। सबेरे उठते ही मेरा जी मचलाने लगता। कुछ ही दिनों में मुझे ज्ञात हुआ कि मैं माता होनेवाली हूँ।

उस कल्पना से ही मुझे पराकोटि का आनंद हुआ। मानो कि एक दूसरी ही सुलोचना जी उठी थी। मैं घंटों आँखे मूँद पड़ी रहती थी। लोग सोचते थे कि दोहद के दिनों की अस्वस्थता थी वह। उन्हें क्या पता था कि पेट के होनहार बच्चे से मैं संभाषण किया करती थी।

मेरा ही—हाँ केवल मेरा ही था वह बच्चा। मैं उससे पूछती—इतने दिन कहाँ था तू! क्या वहाँ दिन में भी तारे दिखाई पड़ते हैं? लताओं पर खिलने के पूर्व फूल दिखाई देते हैं?

किसके समान होनेवाले हो तुम? मेरे समान? सच? कब होगा तुम्हारा दर्शन? मैं तो अधीर हो गई हूँ तुम्हें देखने के लिये! पर अभी तो—

कितने ही दिन—

तुम्हारा नाम क्या रखा जाय ? दिलीप ? पर यह जाने बग़ैर कि तुम लड़की हो या लड़का तुम्हारा नामकरण कैसे करें ?

नौ मास की वह मधुर प्रतीक्षा ? एक ओर तो जान निकली जा रही थी। दूसरी ओर जीवन का मोह बढ़ता जा रहा था। इस तरह का खेल और कोई न होगा (विधाताने स्त्रीजाति को अनेकों शाप दिये हैं। इन क्रूर शापों को भुलाने के लिये ही शायद माता बनने का वरदान भी दिया है।)

उन महीनों में मैंने जिस काव्य का अनुभव किया उसकी उँचाई तक किसी महाकवि की कविता भी नहीं पहुँच सकती। झरनों का संगीत मैं सुन रही थी। अरुण भगवान् मेरी आँखों के सामने नाच रहे थे। लोहे को सोने में परिणत करने वाला पत्थर मुझे मिल गया। उसके सहारे मैं सोने की नई द्वारका बसा रही थी।

एक बार पिताजी आकर मेरी तबियत देख गये थे। मुझसी ढीठ लड़की—कितनी हाजिरजबाब ! हजारों बार मैंने कहना चाहा, "पिताजी अब अपना सितार सँभालिये।" किन्तु ओंठों तक आकर शब्द रुक जाते थे। मानों अंतर्हृदय से एक बालशब्द कह रहा था, "नहीं, माँ, इतने में नहीं।"

"तुम्हारी माँ होती तो मैं इससमय आग्रहपूर्वक तुम्हें मैके ले चलता" पिताजी के ये शब्द सुन मेरा मन खिन्न हो गया पर वह एक ही क्षण—

भूतकाल भूला जा रहा था। वर्तमान की मुझे पर्वाह न थी। मेरी आँखें तो भविष्य की ओर लगी हुई थीं। वह सुवर्ण-दिन कब ऊगेगा ? मेरे ओंठ उन कोमल कपोलों का आश्रय कब लेंगे ?

उकौने के कष्ट मुझे बहुत न हुए। पर भगवन्तराव जी तोड़ कर मेरी देखरेख कर रहे थे। यदि मुझे जरा सी तकलीफ़ होने लगती तो वे चंचल हो औषधियों की फ़ौज की फ़ौज खड़ी कर देते। मैं कहती, "यह सच है कि अज्ञान ही सुख है। यदि आप डाक्टर न होते तो दवाइयाँ पीने की सजा न भोगनी पड़ती मुझे।" उन दिनों मेरी प्रबल इच्छा खाने पीने की न थी। मैं छोटे छोटे बालक देखना चाहती थी। बिलकुल दूध पीते बच्चे से लेकर पाँच साल तक के बालक तक कोई शिशु देखते ही मैं चाहती कि उससे खेलती बैठूँ।

एक बार बुनने की सुईयाँ खरीदने मैं एक दूकान में गई थी। सामने ही एक साल डेढ़ सालका काला साँवला सा लड़का खेल रहा था। साबुन के चूरे की एक

थैली उसके सामने पड़ी हुई थी। उस पर हंस का चित्र निकाला हुआ था। पर वह लड़का कह रहा था 'काँव–काँव'। उसकी दृष्टि में हंस याने कौआ ही था। मकान लौटते तक वे 'काँव–काँव' शब्द मेरे कानों में गूँज रहे थे।

रात को भोजन के समय मैंने वह बात भगवन्तराव से कही तो वे कह उठे, "अरे बापरे!" मैंने आश्चर्यचकित हो पूछा, "क्या हुआ?" "अब इस उम्र में भाषा सीखने का नया प्रश्न उपस्थित हुआ है।"

"वह कैसे?"

"कैसे क्या? 'काँव' याने कौआ यह अर्थ जिस भाषा में होता है वह भाषा अब सीखनी पड़ेगी मुझे।"

एक समय मैं इंजीनियर साहब की पत्नी के यहाँ चाय पीने गई थी। वहाँ उनकी तीन चार साल की लड़की देख मेरी इच्छा हुई कि उसे चूम लूँ।

मैंने उससे कहा, "एक प्यार दो न।"

उसने नकारात्मक संकेत किया। उसके सिर हिलाते ही घुँघराले बालों में हिलोरें उठीं। मैंने पूछा, "मुझे प्यार क्यों नहीं देती?"

"मैं अब क्या नन्ही बच्ची हूँ? बड़े आदमियों का क्या कोई प्यार लेता है?"

धीमे स्वर का उसका वह प्यारा बोलना! कहते हैं कि कृष्ण–कन्हैया की मुरली गोकुल को मोह लेती थी। शायद वही मुरली उस बच्ची का रूप ले मेरे सामने खड़ी थी।

और उस 'बड़े आदमी' ने दूध पीते समय ही बड़प्पन दिखाया।

उसकी माँ ने दूध में शक्कर डाली थी। दूध उसे मीठा भी लग रहा था। पर उसकी एक शिकायत थी। "दूध में शक्कर नहीं है। कहाँ है बताओ।"

उसे समझाते समझाते नाक में दम हो गया।

जब मैं लौटी तो वही घटना आँख के सामने थी। मैं कह रही थी—मेरा बच्चा भी मुझे कहाँ दिखाई देता है? पर क्या इसी कारण मैं उसका अस्तित्व भूल सकती हूँ? दूध में शक्कर भी इसी तरह घुल जाती होगी!

यदि उन पाँच–छः मास का वर्णन करते बैठूँ तो एक बड़ा ग्रंथ ही लिखना पड़ेगा। उन में से हर बात में आनंद समाया था। पर आज—

वृक्ष की शोभा बढ़ाने वाले पत्ते यदि झड़ जाएँ तो क्या कोई उन्हें सानन्द देख सकता है।

कुछ ही दिन बाद मुझे रानीसाहब के यहाँ दावत दी गई। उस दिन मुझे इस बात पर बड़ा गर्व हुआ कि मैं भगवन्तराव की पत्नी हूँ। उस दावत में सारी प्रतिष्ठित स्त्रियाँ उपस्थित थीं। दावत समाप्त होने पर गपशप शुरू हुई। राजासाहब की साठवीं वर्षगाँठ जल्द ही होनेवाली थी। उस समारोह में महिला मंडल ने भी भाग लेना चाहिये यही सब स्त्रियों का मत था।

समारोह के दिन तक यह निश्चय था कि महिला मंडल की ओर से अभिनंदन का भाषण दीवानसाहब की पत्नी करेंगी। किन्तु उसी दिन सबेरे तीनचार महिलाएँ मेरे पास आईं और बोलीं, "आजका भाषण आप ही कीजिये।"

"यह क्यों?"

"दीवानसाहब की पत्नी को तो अभी तक पहला भाषण ही याद नहीं है। और अब तो उसमें नई नई बातोंका उल्लेख आवश्यक है।"

"नई बातें? वे क्या हैं?"

"आज ही सबेरे राजासाहब ने सारे राजनैतिक कैदी छोड़ देने का हुक्म दिया है। इसके लिये उनका अभिनंदन और—"

उनकी अगली बातें सुनने की सुध मुझे न थी। एक ही बात मेरी आँखों के सामने नाच रही थी। राजनैतिक कैदी छूट गये! याने दिलीप भी! अभी अभी जाकर उससे मिलना चाहिये! नहीं तो—क्या ठीक है? शाम तक बैरागी बन वह कहीं चल भी दे।

मैं दिलीप के यहाँ जाने की तैयारी कर रही थी। इतने में भगवन्तराव बाहर से आये। उन्हें भी ज्ञात हो चुका था कि आज के भाषण का भार मुझ पर सौंपा गया है। मेरे पास आकर वे बोले, "क्या आज आप हमसे बोलियेगा भी नहीं?"

मैंने मुँह बनाकर कहा, "नहीं!"

"क्यों?"

"मैं आज एक बड़ी पंडिता हो गई हूँ। दीवानसाहब की पत्नी का काम करने वाली हूँ!"

"सवाल तो यही है कि वह काम तुम कैसे कर सकोगी?"

मुझे उनपर बड़ा क्रोध आया! वे जानते थे कि मैं बड़े बड़े समूह में भी अच्छी तरह बोल सकती हूँ। फिर भी—

वे दूसरे ही क्षण बोले, " मैंने कहा, दीवानसाहब की पत्नी का काम करने के लिये पहले उनके समान मोटा बनना पड़ेगा आपको ! "

मेरा क्रोध नौ दो ग्यारह हो गया ।

भगवन्तराव ने सुझाया कि समूचा भाषण पहले लिख लेना अच्छा है। मैंने भी वह मान्य किया ।

उस भाषण के चक्कर में, मैं दिलीप की याद भी भूल गई ।

नदी की बाढ़ का पानी नदी के पात्र के बाहर दूरतक जिस प्रकार फैलता है उसी तरह शामको थियेटर के बाहर के सब रास्ते भीड़ से भर गये थे।

उस समारोह में सभी वक्ताओं ने राजासाहब की प्रशंसा की—उनकी न्यायप्रियता, उनकी उदारता, उनकी प्रजाहितदक्षता—

और दूसरे लोगों के साथ मैं भी तालियाँ पीट रही थी। किन्तु बीच बीच में यह भी सोचती जाती थी—यहाँ एकत्र हुए लोग स्वाभिमानी नागरिक हैं या चापलूसी करनेवाले भाट ? क्या यह आवश्यक है कि किसी की वर्षगाँठ मनाते समय उसे संसार के सारे गुणों की प्रतिमूर्ति समझ पूजें ?

शायद इस कारण कि मेरे मन में ऐसे विचारों ने आसन जमा रखा था, मेरा भाषण विशेष अच्छा नहीं हुआ।

अंतिम वक्ता ने तो बे सिर पैर की बातें कहीं। " राजासाहब की तबियत ठीक नहीं है। इसलिये उन्हें शीघ्रातिशीघ्र यूरप जाने का प्रबंध करना चाहिये। यदि इसके लिये किसी नये कर की आवश्यकता पड़े तो वह भी हम स्वेच्छा से देने को तैयार हैं। जो यह कर न दे वह राजद्रोही करार दिया जाए। " यह था वह भाषण।

भाषण समाप्त होते ही गगनभेदी करतलध्वनि हुई।

करतलध्वनि समाप्त होते ही सभास्थान के एक कोने से एक आवाज गूँज उठी, " मैं बोलना चाहता हूँ। "

सर्कस के पिंजरे से शेर यदि निकल भागे तो चारों ओर कुहराम मच जाता है। वही हाल सभा के प्रबंधकर्त्ताओं का हुआ। " सरदेसाई " " नहीं, नहीं " , " यह कैसे हो सकता है ? " इत्यादि शब्द मेरे कान पर पड़े ।

व्यासपीठ की ओर आने वाले उस मनुष्य को मैं देखने लगी। दिलीप ही था

नह। उसे रोकने के लिये कुछ लोग आगे बढ़े। किंतु राजासाहब के संकेत से वे रुक गये।

दिलीप कुल पाँच मिनट भी न बोला होगा। किंतु पाँच मिनट में ही हवाई जहाज से क्या कम बम बरसाये जा सकते हैं? उसका भाषण भी विलक्षण था।

"जिस प्रकार प्रजा ने राजद्रोह नहीं करना चाहिये उसी प्रकार राजा को भी प्रजाद्रोह शोभा नहीं देता। आखिर राजासाहब भी तो मनुष्य ही हैं! साठ साल के मनुष्य की तन्दुरुस्ती ठीक न होना स्वाभाविक ही है। फिर भी हिंदुस्थान में ही अच्छी अच्छी ठंडी आबहवा की जगहें हैं और धन्वन्तरि से स्पर्धा करनेवाले डाक्टर भी।"

"राजासाहब आज इकसठवें वर्ष में पदार्पण कर रहे हैं। हमारी पुरानी प्रथा के अनुसार वानप्रस्थ ग्रहण करने का यही समय है। मेरी प्रार्थना है कि शेष जीवन वे उसी दृष्टि से बिताएँ"

"यह मैं मान्य करता हूँ कि प्रजा राजा को पितृवत् माने और उसका आदर करे। किन्तु क्या किसी भी कुटुम्ब में आपने यह देखा है कि बच्चे भूखों मरते हों और पिता रबड़ी पूड़ी उड़ाता हो?"

इसी प्रकार और कुछ।

सारा थियेटर शान्त था। किन्तु वह मंदिर की शान्तता न थी। वह थी स्मशान की नीरवता। प्रौढ़ श्रोताओं के चेहरे पर भय का साम्राज फैला हुआ था। तरुण मुद्राएँ आदरमिश्रित आश्चर्य झलका रही थीं।

दस बीस विद्यार्थियों ने बीच ही में तालियाँ पीटकर अभिनंदन करना प्रारंभ किया। किन्तु पुलिस ने डाँटडूँट कर उन्हें चुप किया।

यह सब दिलीप का भाषण होते ही मैं देख रही थी। मुझे पता न था कि उस भाषण का क्या नतीजा होने वाला है। कदाचित् यहीं के यहीं उसे फिर जेल का रास्ता दिखाया जाय—कदाचित्—

दिलीप के भाषण का हर शब्द सच था। किन्तु मेरा मन कहा रहा था—कम से कम आज ऐसा न बोलना चाहिये था।

वह सबेरे ही जेल से छूटा और शाम को—

क्या उसका बर्ताव पिंजरे से छूट शिकारी के सामने नाचने वाले पक्षी के सदृश न था?

मैं एकदम चौंक उठी।

दिलीप का भाषण समाप्त हो चुका था। सब लोग यही जानने को उत्सुक थे कि अब राजासाहब क्या करेंगे।

दिलीप अपने स्थानपर वापस जाने वाला था। राजासाहब ने अपना हाथ बढ़ा दिया। वह विस्मित हो उनकी ओर देख रहा था।

श्रोताओं ने तालियाँ पीटीं। अब कहीं दिलीप के होश ठिकाने लगे। उसने राजासाहब का हाथ अपने हाथ में ले हस्तांदोलन किया।

'राजासाहब की जय' से सारा थियेटर गूँज उठा।

पर दिलीप का जयजयकार—

एक बार भी नहीं।

न किसी ने उसे उपाहार के लिये बुलाया।

चाय पीते समय सब लोग एक ही राग अलाप रहे थे–राजसाहब कितने उदार! कितने सहृदय!

और दिलीप? क्या वह शूर न था?

दिनकर सरदेसाई का नाम लिया गया—एक शूरवीर के नाते नहीं—एक मूर्ख के नाते। उसे आज की सभा में ऐसा भाषण न करना चाहिये था। प्रजा के दुःख राजासाहब को सुनाने के लिये वह एक प्रतिनिधि मंडल ले जा सकता था—

यह था उसपर मुख्य दोषारोप! एक अधिकारी तो इससे भी आगे बढ़ गये। वे हँसते हुए बोले, "दिनकर का बाप दारोगा था ना? उसी का साहस इसमें भी उतरा है।" एक क्षण ठहरेसे, फिर बोले, "बाप की शराब भी बेटे में उतरी सी मालूम पड़ती है। ऐसा बड़बड़ा रहा था मानों सन्निपात ही हो गया हो। उसने तो परले सिरे के शराबी को भी मात कर दिया।"

उन साहब की वाणी सुन सब लोग हँ हँ कर हँस दिये।

और दूसरों का हँसना मुझे इतना बुरा न मालूम होता। पर उस हँसी में भगवन्तरावको शामिल देख—

पागलों के अस्पताल में अपने परिचय का मनुष्य देख आदमी सन्न से रह जाता है! वही मेरा हाल था!

दिलीप का वह भाषण—एक साहस था। हो सकता है अविचार भी हो। किंतु

इन सारे सुखलोलुप किन्तु मन के दुर्बलों को क्या अधिकार प्राप्त था कि उसकी इस तरह खिल्ली उड़ाते ?

मैंने सोचा—रामगढ़ में बड़े गिने जाने वाले ये सारे लोग ढोंगी हैं। वे सच्चे देव के भक्त नहीं हैं। वे हैं नैवेद्य के लिये पत्थर के सामने भी हाथ बढ़ाने वाले पुजारी। ये धन की पूजा करेंगे, प्रतिष्ठा पर फूल चढ़ायेंगे, सत्ता की आरती उतारेंगे, सिंहासनारूढ़ खरगोश को भी सिंह पुकार उसके स्तुति-स्तोत्र गायेंगे—

और पिंजरे में जकड़े हुए सच्चे सिंह पर शूरता जता पत्थर बरसायेंगे।

इन्हें शूरता की कदर नहीं, न सत्य का आदर !

चाय पीते पीते मेरा मन कह रहा था—दिलीप को ले कहीं दूरदूर घूमने जाऊँ और उससे कहूँ तुम्हारा आजका भाषण मुझे बहुत पसंद आया। 'किन्तु ऐसा भाषण फिर यहाँ कभी न करना—मेरे गले की कसम है तुझे' ऐसा कह वह उससे कबूल कराऊँ—

पर दिलीप कभी का जा चुका था। इन अमीरों के जमघट में उसे स्थान कहाँ था ?

रात को सोते समय नित्यक्रम के अनुसार भगवन्तराव ने मेरा चुम्बन लिया—

एक विचार मेरे मन में दौड़ गया--दिलीप को हँसनेवाले ओंठ येही हैं !

नींद आने तक जले के ज़ख़्म की तरह उस चुम्बन ने मुझे अस्वस्थ कर दिया।

राजासाहब की वर्षगाँठ के निमित्त एक चित्रों की प्रदर्शनी का भी आयोजन हुआ था। वह देखने दूसरे दिन मैं भगवन्तराव के साथ गई। घर से निकलते ही हमने निश्चय किया था कि कोई सुन्दर चित्र अवश्य मोल लेंगे।

करीब करीब दो घंटे घूमकर और हरएक चित्र सूक्ष्मरीति से देखकर मैं तो ऊब गई। मेरे पैर तो टूटसे गये। किन्तु मोल लेने के चित्र के बारे में मेरा और उनका एकमत न होता था। उन्हें 'उमरखय्याम' का चित्र पसंद था तो मुझे 'क्रौंचवध' का ! पहले चित्र में जगत् को भूल शराब का प्याला और रसीली कविता इन में मग्न हो एक पेड़ के नीचे उमरखय्याम बैठा था। दूसरे में क्रौंचयुगल के नर का वध करने वाले निषाद को शाप देने वाले ऋषि थे। पास ही एक

युवती मृत पक्षी को गोदी में ले अश्रु बहा रही थी। कला की दृष्टि से दोनों चित्र उत्कृष्ट थे। पर—

मैं सोचती थी कि 'उमरखय्याम' में कुछ तो भी कम है। किन्तु दोष ठीक से मैं बता न सकती थी।

भगवन्तराव ने मेरा मजाक उड़ाना प्रारंभ किया।

अंत में 'कौनसा चित्र खरीदना है कल निश्चित करेंगे' यह कह हम दोनों जाने को निकले।

दरवाजे पर ही दिलीप किसीसे बातचीत कर रहा था। कितने कितने सालों के बाद उससे बोलने का मौका आया था!

मेरे पैर रुके। आँखें घूरकर उसे देखने लगीं। किन्तु मेरे मुँह से शब्द ही बाहर न निकलते थे। (क्या कोई यह जान सकता है कि नदी के जमे हुए पानी के नीचे गहरा पानी है?)

मैं घबराई। कहीं मेरे मौन का और कुछ अर्थ लगाकर यदि दिलीप चला गया तो?

किन्तु वह न गया। मुझे देखते ही वह आगे बढ़कर बोला, "पहचान है सुलोचना देवी?"

फिर वह भगवन्तराव को नमस्कार करते हुए शांत चित्तसे बोला, "नमस्ते डाक्टरसाहब!"

किसी नास्तिक को अनिच्छा से देवता को नमस्कार करना पड़े—यही हाल भगवन्तराव का था। उन्होंने भी बदले में दिलीप को नमस्कार किया। मानो किसी यांत्रिक गुड़िया ने ही दो हाथ ऊपर नीचे किये हों!

मैं कल के भाषण के लिये दिलीप का अभिनंदन करनेवाली थी। किन्तु पास ही में भगवन्तराव खड़े थे। शायद उन्हें यह पसंद न हो इसलिये मैंने दूसरा ही विषय प्रारंभ किया।

मैंने दिलीप से पूछा, "सब चित्र देख चुके?"

"हाँ, कुछ कुछ दो बार भी देखे।"

"मैं विश्वास नहीं करती।"

"क्यों?"

"देशभक्त भी इतने रसिक होते हैं?"

" इतने ? तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा—कल जेलसे छूटते ही मैंने कोने कोने पर सिनेमा के विज्ञापन देखे और निश्चय भी कर लिया।"

" क्या ? "

" सिनेमा में काम करूँगा ! "

" कब से ? "

" जिस दिन भारतवर्ष स्वतंत्र होगा उस दिन से ! "

" बहुत ही निकट भविष्य है ! " कह मैं उसका मजाक उड़ाने वाली थी। किन्तु भगवन्तराव के माथे पर क्रोध और उकतान की सिकुड़न दिखाई दे रही थी। इसलिये मैंने हँसते हुए पूछा,

" तुम्हें कौनसा चित्र पसंद है ? "

" क्रौंचवध ! "

मैंने विजयी मुद्रा से भगवन्तराव की ओर देखा और कहा, " बहुमत मेरी ओर है ! "

" बहुमत का मतलब अनेकों हाथ होता है अनेकों दिमाग नहीं ! " उन्होंने दिलीप की ओर देख कर उत्तर दिया।

उनके शब्दों का निषेध करने के लिये मैंने कहा, " मैं यही चित्र खरीदूँगी। "

" अवश्य खरीदो ! मैं इतना जंगली नहीं हूँ कि बी. ए. पास पत्नी पर अपनी पसंद लादूँ ! "

वे फिर क्लब चले गये।

दिलीप ने उस चित्र पर से मेरी खूब खिल्ली उड़ाई। मैं उससे मनखोल वार्तालाप करना चाहती थी। किन्तु वह तो वार्तालाप करने का स्थान न था। इसलिये मैंने उससे कहा, " रात को हमारे यहाँ खाना खाने आओगे ? "

" मैं तो तुम्हारे निमंत्रण की राह ही देख रहा था ! "

" क्या मतलब ? "

" मुझे यही चिंता थी कि आज खाना कहाँ खाऊँगा ? "

" बेकार बातें क्यों बना रहे हो ? "

" झूठ नहीं कहता। कल का मेरा व्याख्यान सुनकर मेरे बहनोईने आज सबेरे ही मुझे अर्धचन्द्र दे दिया। एक मित्र के यहाँ दोपहर को खाना खाया। गरीब क्लर्क है बेचारा। पर तीन चार बालबच्चे हैं। और घर में बीमार पत्नी। इसलिये—"

बीच ही में ठहर कर वह फिर बोला, "आज चाँदनी रात है। खाना खा कर तुम्हारे बँगले से शहर लौटने में बड़ा ही मज़ा आएगा।"

दिलीप हमारे यहाँ काफ़ी देर से आया। खाना खाते समय भगवन्तराव चुप्पी साधे हुए थे। मैं ही अकेली दिलीप से बोल रही थी। किन्तु हमारी सब बातचीत हमारे कालिज जीवन के बारे में थी।

भोजन होने पर मैंने भगवन्तराव से कहा, "दिलीप कविताएँ अच्छी तरह कहता है।"

उन्होंने कहा, "अच्छा!" किन्तु उन्होंने उसे कविता कहने को नहीं कहा। मैं तो 'कुछ न कुछ अवश्य कहो' यह कहती हुई उसके पीछे ही पड़ गयी। पहले अवश्य ही उसने आनाकानी की। पर सामने तालाब में चमकता हुआ पानी, बगीचे में हँसते हुए फूल और शुभ्र–स्वच्छ मसहरी के समान फैली हुई चाँदनी देख शायद उसे कविता कहने की इच्छा हुई।

वह कहने लगा।

गर्जा जयजयकार, क्रांतिचा गर्जा जयजयकार—[1]

धीरे धीरे उसका स्वर ऊँचा बढ़ने लगा।

दिलीप कह रहा था—

पदोपदीं पसरून निखारे आपुल्याच हातीं
होवोनिया बेहोष धांवलों ध्येयपथावरती
कधिं न थांबलों विश्रांतिस्तव पाहिलें न मागें
बांधुं न शकले प्रीतीचे वा कीर्तीचे धागे
एकच तारा समोर आणिक पायतळीं अंगार
होता पायतळीं अंगार
गर्जा जयजयकार, क्रांतिचा गर्जा जयजयकार।[2]

---

१ 'क्रांति की जय' की गर्जना करो।

२ पग पग पर मैंने अपने हाथों ही अंगार बिछा रखे थे। अपनी सुध बुध भूल मैं ध्येयमार्ग पर दौड़ रहा था। न मैं विश्राम के लिये रुका, न मैंने मुड़कर पीछे देखा। कीर्ति अथवा प्रीति के पाश मुझे न बाँध सके। मुझे तो केवल सामने का तारा दिखाई देता था और पैर तले अंगार का अनुभव होता था।

'क्रांति की जय' की गर्जना करो।

मैंने सोचा कि वह कविता उसी की लिखी हुई थी। वह अनुभूति उसी की थी। उस कविता की प्रेमरश्मि—

कविता समाप्त होते ही मैंने कहा, "इस कवि का नाम मैं जानती हूँ!"

"अच्छा बताओ!"

"दिनकर सरदेसाई!"

"नहीं, मैं इतना भाग्यवान् नहीं हूँ। यह कविता कवि कुसुमाग्रज ने लिखी है।"

कुसुमाग्रज? यह तो नाम भी मैंने कभी न सुना था!

भगवन्तराव बीच ही में बोल उठे, "यह सर्दी तुम्हें लग जाएगी सुलोचना। चलो अंदर चलें।"

यह दिलीप को जाने की सूचना ही थी।

मैं उसे पहुँचाने फाटक तक गई। जब वह चलने लगा तो मैंने कहा, "तुम्हें एक बात कहना तो मैं भूल ही गई!"

"क्या?"

"तुम्हारी नमक की पुड़िया अभी तक मेरे पास है।"

वह हँसकर बोला, "मैं भी एक बात बताना भूल गया।"

"क्या?"

"मैं फिर तुम्हारे यहाँ खाना खाने आने वाला हूँ।"

"कब"

"तुम्हारे बालक के नामकरण के दिन!"

इतना कह उसने कदम बढ़ाया। उसके घंटे दो घंटे के सहवास से मेरा मन प्रफुल्लित हो उठा था। कारावास, क्लेश, दुःख—ऐसी किसी—किसी भी बात का उल्लेख उसने मेरे पास न किया। मैं आश्चर्य कर रही थी कि स्थितप्रज्ञ की शक्ति उसने कहाँ प्राप्त की थी। ग़रीबी में भी मुँह पर हास्य की रेखा, कष्टों में भी जीवन-ध्येय की अमिट एवँ अविचल याद—यह तपश्चर्या—

मेरे अंदर आने पर भगवन्तराव बोले, "यह ठीक है कि दिनकर तुम्हारा बाल्यावस्था से मित्र है किन्तु—"

"किन्तु क्या?"

"वह शत्रु है!"

"शत्रु ? किसका ? उसने क्या बिगाड़ा है ?"

"सुना है राजासाहब के विरुद्ध किसानों को उकसाकर रियासत में उपद्रव मचाने वाला है। क्लब में दीवानसाहब कह रहे थे कि—"

दीवानसाहब का पांडित्य सुनने के लिये ठहरना मेरे लिये असंभव था। मैं शीघ्र ही जीना चढ़ ऊपर आई। मेरे पीछे पीछे भगवन्तराव भी आये। वे कोमल-स्वर में बोले, "सुलोचना, एक और बात—"

मैं सुनने लगी।

"तुम मेरी पत्नी हो!"

"इस बात पर मुझे गर्व है!"

"सच ?"

मैंने गर्दन हिल 'हाँ' कहा।

"फिर तुम ही बातओ—क्या ऐसे उपद्रवी मनुष्य से मित्रता रखने में हमारी इज्जत कुछ भी कम न होगी ?"

मैंने उत्तर ही न दिया। मेरा मन कह रहा था—इज्जत, आबरू, प्रतिष्ठा। मनुष्य ने कितने झूठे देव निर्माण कर रखे हैं। किसलिये ? उनकी पूजा का आडम्बर रचाकर भोले भाले लोगों को धोका देने के लिये ? अपढ़ लोगों को लूटने के लिये ? दुनिया में अपना थोथा बड़प्पन बनाये रखने के लिये!

शाम को खरीदा हुआ क्रौंचवध का चित्र सामने ही रखा था। न जाने क्यों भगवन्तराव की बातचीत और निषादने छोड़ा हुआ बाण, दोनों में मुझे बहुत साम्य दिखाई पड़ रहा था।

सोते सोते ही मैंने निश्चय किया कि मेरे बच्चे के नामकरण संस्कार के दिन दिलीप को अवश्य दावत में निमंत्रित करूँगी।

* * * *

प्रसूति के लिये मैंने ऊपर का ही कमरा पसंद किया।

महरी रह रह कर मुझसे कह रही थी, "वह कमरा ठीक नहीं है मालकिन्!"

लेकिन मैंने उसका कहा सुना अनसुना कर दिया।

जब मेरे पेट में दर्द शुरू हुआ तब मुझे आकाश पाताल एक सा मालूम पड़ा। किन्तु जब मेरा छुटकारा हुआ और "लड़का" यह नर्स का शब्द मेरे कान

पर पड़ा उस समय का मेरा आनंद और सुख—ब्रह्मानंद के भी परे था। मेरा सारा बदन टूटा सा जा रहा था। हाथ पैर लूले हुए जा रहे थे। मैंने सोचा—मैं बहुत ही निर्बल हो गई हूँ। न जाने एक बार आँख लगी तो फिर खुलेगी या नहीं। अभी ही बच्चे को आँख भर देख लूँ। फिर चाहे जो हो।

घंटे डेढ़ घंटे से भगवन्तराव आये। मैं, वे और बच्चा—यह त्रिकूट सुंदर क्यों है इसका मुझे तब अनुभव हुआ। उनकी ओर देख मेरी आँखें कह रही थीं—आज-कल मुझे यह डर सा लग रहा था कि मेरा तुम्हारा झगड़ा न हो जाय। वह डर अब जाता रहा। हमारा झगड़ा मिटाने के लिये परमात्मा ने एक बड़ा भारी न्यायाधीश भेज दिया है। (दो जीवों का विवाह-बंधन एक सरफूँद होती है। बच्चा होते ही वह अटूट हो जाता है।)

वे गहरी काली आँखें—वे नन्हे नन्हे ओंठ—

माँ के स्तन से दूध पीना उन ओंठों को सिखाना नहीं पड़ता। तीसरे ही दिन जब उस कोमल फूल को मैंने गोदी में लिया और जब वह दूध पीने लगा तो मेरा रोम रोम पुलकित हो गया।

प्रियतम पति के चुम्बन की अपेक्षा इस स्पर्श में अधिक अमृत भरा हुआ था। मेरे चहुँ ओर एक नया जग निर्मित हुआ। इस जग का मुख्य रस था वात्सल्य। और किसी रस को यहाँ स्थान न था। अब मैं एक बी. ए. पास विदुषी न थी! एक विद्वान् प्रोफेसर की कन्या न थी। न थी एक बड़े डाक्टर की पत्नी। दिलीप सदृश देशभक्त की मित्र भी न थी। मैं केवल एक माँ थी।

बच्चे को पास ले जब मैं सोती तो मेरा मन हवा में दौड़ने लगता। कभी मुझे उसके 'पायल की झनकार' सुनाई पड़ती। तो कभी ऐसा मालूम पड़ता कि वह दो दूनि चार, दो तिया छः इसप्रकार कुछ याद कर रहा है! कभी वह बल्ला ले क्रिकेट खेलने लगता और खेलने की खट्खट् ध्वनि मुझे स्पष्टतया सुनाई देती। 'मैं बड़ा बनूँगा' कहता हुआ वह मुझे वायुयान चलाते दिखाई पड़ता। मैं घबरा कर चिल्लाती, "यह क्या कर रहा है बच्चे?" वह कहता, "माँ, लड़ने जा रहा हूँ। मातृभूमि के लिये।" इस अंतिम चित्र से मेरा शरीर पसीने से तर हो जाता। फिर मैं आँख खोल बच्चे को पास ही सोया हुआ देखती और मुझे दिलासा मिलता। तब मेरा पानी पानी सा हृदय कुछ सँभलता।

उसे बार बार चूम मैं उसे हैरान कर देती और कहती, "हे ईश्वर, ऐसी कृपा कर कि जब मेरा बच्चा बड़ा हो तब लड़ाई संसार से हट ही जाय।"

ईश्वर में मेरा तनिक भी विश्वास न था। पर अब सोचती कि ईश्वर का होना आवश्यक है।

कभी आँख खोल वह बच्चा मेरी ओर देखने लगता तो वह नज़र परिचित सी जान पड़ती। उसे हृदय से लपेट मैं पूछती, "क्यों रे, कौन से जनम की पहचान है तेरी?"

चौथे या पाँचवें दिन दिलीप का एक कार्ड आया। उसमें इतना ही लिखा था, "यह ज्ञात हुआ कि तुम माँ हुई हो। मुझे बहुत आनंद हुआ। कहीं भी रहा तो भी नामकरण के दिन अवश्य आऊँगा। ब्राह्मणो भोजनप्रियः।"

मेरा विचार था कि दिलीप की माँ को भी निमंत्रण दूँ। पर—

मुझे विधाता की क्रूरता का अनुभव प्राप्त करना था। दसवें ही दिन, रात को—

मेरा नन्हा मुझे छोड़ चल दिया।

उसकी बीमारी पाँच छः घंटे की विचित्र बीमारी थी। एकदम दौरा सा आ गया। भगवन्तराव ने प्रयत्नों की पराकाष्ठा की। शहर के प्रायः सभी डाक्टर उपस्थित थे। पर—

मेरा छोटा सा तोता उड़ ही गया। उसका वह खाली पिंजरा देख—

उस खाली पलने को झुलाती हुई मैं रात भर रोती रही। रो रो कर मेरी आँखें सूज गईं। पर क्या काल किसी के आँसुओं की पर्वाह करता है?

मुझे समझाने का सभी ने प्रयत्न किया। भगवन्तराव का तार पहुँचते ही पिताजी भी आगये। किन्तु मेरी आँख का पानी रोके न रुकता था। रात को मेरी नींद खुल जाती। मैं बगल में हाथ से टटोलती। वहाँ बच्चा नहीं है यह देख—

आत्महत्या का विचार भी मेरे मन में आने लगा। सामने ही पानी से भरा हुआ तालाब था। एक क्षण—एक बार कूद जाऊँ—

किन्तु मुझे साहस न हुआ। इसी अन्यमनस्क स्थिति में मैंने बड़ी चाह से खरीदा हुआ क्रौंचवध का चित्र मेरे कमरे से निकलवा कर बैठके में लगवा दिया। उसमें के बाणाहत पक्षी को देखते ही मुझे मेरा बच्चा याद आता था। और फिर—

पहले चार पाँच दिन भगवन्तराव भी उदास थे। किन्तु धीरे धीरे वे पहले समान हिलने मिलने लगे। किन्तु मुझे किसी प्रकार चैन न आता था। किसी छोटे बच्चे का खिलौना खो जाय और उसके लिये वह रोता बैठे—वही हाल था मेरा।

यों ही ज़रा ज़रा सी बात पर उसकी याद आती थी और आँख से गंगा-जमना बहने लगतीं।

एक बार मैं 'स्त्री' का अंक पढ़ रही थी। मैंने अंतिम पन्ने पर चित्र देखने के लिये वह पृष्ठ खोला। उस पर दस-बारह नन्हे नन्हे बालकों की तसवीरें थीं। उन्हें देख मेरे बालक की याद हो मैं जोर से रो पड़ी।

उसी समय महरी मेज़की फूलदानी में फूल रखने के लिये आई। मैंने आँखें पोंछीं।

वह बोली, "मालकिन्, मैंने तो पहले ही कहा था कि इस कमरे में न सोइये। पर—"

वह हँसने का समय न था। फ़िर भी मैं हँसी न रोक सकी। मैंने मन में कहा- कितनी पगली है यह महरी। यदि मेरी प्रसूति दूसरे कमरे में होती तो क्या मेरे बच्चे को मार्कंडेय का आयुष्य मिल जाता?

'अब तो भी यह कमरा छोड़ दीजिये' यह कह महरी मेरे पीछे पड़ गई। उससे पिन्ड छुड़ाने के लिये मैंने कहा, "क्या इस कमरे में कोई भूत–ऊत रहता है?"

उसने भयभीत दृष्टि से यहाँ वहाँ देखा और फिर कहा, "जी!" अब तो उसका मज़ाक उड़ाने में मुझे मज़ा आने लगा।

मैंने पूछा, "किसका भूत है यहाँ?"

उसने काँपती हुई आवाज में कहा, "आक्कासाहब का।"

आक्कासाहब! राजासाहब की पहली लड़की। भगवन्तरावने स्वयं कहा था कि यह बँगला उन्हीं के लिये बनवाया था!

विरुत कुतूहल बिल में सोये हुए नाग की तरह होता है। उसे कोई छू भर ले। कि तुरन्त वह फन निकाल फुसकारने लगता है। आगे महरी क्या बताती है यह सुनने के लिये मैं अधीर हो उठी।

वह बोली, "आक्कासाहब यहीं—"

"क्या हुआ उन्हें?"

"अच्छी नवजवान लड़की! होता क्या? पर—" कुछ देर ठहर कर वह बोली, "सब लोगों ने मिलकर उसे मार डाला!"

उसका कहना मेरी समझ में कुछ भी न आया।

राजकुमारी को कौन मार सकता था? और सब लोगों ने मिलकर मार डाला इसका क्या मतलब? गद्दी के लिये एक रियासत में विषप्रयोग के बारे में मैंने पढ़ा था। किन्तु वह विषप्रयोग एक पुरुष पर हुआ था! आक्कासाहब को थोड़े ही रामगढ़ की गद्दी मिलनेवाली थी! फिर उन्हें मारने का कारण--

मुझे यहाँ आकर इतने दिन—दिन नहीं--साल हुए। किन्तु आक्कासाहब की मृत्यु का उल्लेख किसी ने भी न किया था! ऐसा क्यों?

महरी चली गयी! मैं कमरे की दीवारों की ओर देखने लगी (कहा जाता है कि दीवारों के भी कान होते हैं। यदि उन्हें मुँह भी होता तो—)

चोई में फँसने पर मनुष्य कितने भी पैर चलावे तैर नहीं सकता। वह डूबने लगता है। आक्कासाहब की मृत्यु के बारे की अनेक कुशंकाओं में मेरा मन ऐसा ही फँस गया। न जाने क्या क्या विचार मेरे मन में आने लगे।

कहीं भगवन्तराव का आक्कासाहबसे प्रेम तो न था? शायद इसीलिये उन्होंने यह कमरा बंद कर रखा था। इस कमरे में उन्हें आक्कासाहब की याद भी आती होगी! पहले पहल तो वे रात बेरात उठकर दरवाजे के पास आहट भी लिया करते थे। क्या उनका भी भूत-पिशाच पर विश्वास है?

जब वे दिल्ली से वापस लौटे तब उनके बक्से में एक भूतों की कहानियों की किताब भी थी—उस में जगह जगह किये हुए निशान—मानो वे किसी शास्त्रीय विषय की पढ़ाई ही कर रहे थे!

यदि भगवन्तराव का आक्कासाहबसे प्रेम था तो उन्होंने उनसे विवाह क्यों न किया?

समुद्र के तूफ़ान में बड़े बड़े जहाज़ भी डूब जाते हैं। मेरे मन के तूफ़ान में मेरी विचारशक्ति नष्ट-भ्रष्ट हो गई।

मैं रातभर परेशान रही। एक ही विचार—

भगवन्तरावने पूछा, "क्या तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है?"

मैंने कहा, "मुझे डर लगता है!"

उन्होंने सिरहाने की बत्ती जलाई और प्रेमभरी आवाज़ से पूछा, "डर काहे का?"

"मुझे एक युवती दिखाई देती है!"

उनकी मुद्रापर भय की लकीर मुझे स्पष्टतया दिखाई दी। उस रहस्य का पता पड़े बिना मुझे भी नींद आना अशक्यप्राय ही था।

मैंने ऐसी बातचीत प्रारंभ की कि सचमुच ही मुझे भूत दिखाई पड़ा था।

"वह लड़की मेरे पास आकर कहती है—मैं प्रतिशोध लूँगी—सच ने मिलकर मुझे मारा है—उसीका मैं बदला चुकाऊँगी—मैंने ही तेरा बच्चा छीन लिया है!"

यह सब मैं कैसे कह सकी यह मेरी ही समझ में न आया। किन्तु वह कहते हुए मेरा शरीर कुछ काँप अवश्य रहा था।

मैंने कहा, "वह आक्कासाहब ही होगी!"

उन्होंने मेरी ओर एक विचित्र दृष्टिक्षेप किया

"क्या वह यह कहती है कि सच ने मिलकर उसे मार डाला?" उन्होंने कर्णकठोर स्वर से पूछा, "उसे मारा नहीं! वह मर गई!"

"कैसे?"

दाँत से ओठ चबाते हुए, शून्यदृष्टि से भगवन्तराव यहाँ वहाँ देख रहे थे। अंत में उन्होंने कुछ निश्चय किया सा दिखाई दिया। मेरी ओर न देखते हुए वे बोले, "इसकी अपेक्षा कि कोई तुम्हें नमक मिर्च लगाकर वह बात बताए—" बीच ही में वे रुक गये। शायद वे सोच रहे थे कि बताएँ या नहीं। अब क्या सुनाई पड़ेगा इस कल्पना से मैं भी असमंजस में पड़ गई। उन्होंने कहना प्रारंभ किया। उनके स्वर में महदन्तर पड़ गया था।

"आक्कासाहब की मृत्यु इसी कमरे में हुई।"

"कैसे?"

"उनपर शस्त्रक्रिया की गई थी।"

"किसने की थी शस्त्रक्रिया?"

"मैंने!"

एक ही शब्द! किन्तु वह उन्होंने बहुत ही अस्पष्टतया कहा था। क्या उन्हें उस अयशस्वी शस्त्रक्रिया का अब भी दुःख था?

"क्या हुआ था उन्हें?"

" एक विचित्र रोग ? "

मैंने सोचा कि रोग का नाम बताने में वे टालमटोल कर रहे हैं इसलिये मैंने पूछा,

" उस रोग का नाम ? "

उनका चेहरा बहुत ही कठोर दिखाई दिया। उनके मुँहसे एक ही उद्‌गार बाहर पड़ा, " प्रेम ! " और कुछ बताने की उनकी इच्छा न थी। किन्तु मैं बिना पूछे कैसे रह सकती थी ? कड़वी दवाई का घूँट जिस तरह तुरन्त पी लिया जाता है उसी तरह उन्होंने केवल दस-बारह वाक्यों में वह कथा कह सुनाई।

आक्कासाहब को सौतेली माँ से बचाने के लिये राजासाहब ने यह कोठी खास तौर से उन्हीं के लिये बनवाई थी। उन्हें संगीत की शिक्षा देने के लिये एक अध्यापक नियुक्त थे। देखने में सुन्दर थे। उन दोनों का एक दूसरे से प्रेम हो गया। उन्होंने आगे यह किसी से न कहा कि वे गर्भवती हो चुकी थीं। तीन चार महीने बाद यह बात प्रकट हुई। आक्कासाहब उस संगीत शिक्षक से विवाहबद्ध होने को तैयार थीं। किन्तु—

राजासाहब की इज्जत ने रोड़ा अटकाया ! रियासत के राजा की लड़की एक गवैये से विवाह करे ? असंभव ! एक दिन मास्टरसाहब गायब हो गये !

उन्हें इसलिये जेल की कोठरी में बंद होना पड़ा कि कहीं सच्चा भेद खुल न जाए !

आक्कासाहब का गर्भभार दूर होते ही फिर कोई डर न रहता। पर दैववशात् वह न हो सका। शस्त्रक्रिया के उपरान्त अधिक रुधिरस्राव होने के कारण वे परलोक—

आगे मुझसे न सुना गया। एक नवयुवती की इसप्रकार हत्या—और वह भी भगवन्तरावद्वारा—मेरे पतिद्वारा हो ? मेरा सिर चकराने लगा। एक अपराधी की ओर देखते हैं उस तरह भगवन्तराव की ओर क्रोध से देखते हुए मैंने कहा, " यह करने के लिये तुम्हारे हाथ आगे बढ़े ही क्यों ? "

" मैं नौकर हूँ ! "

" नौकर याने गुलाम नहीं ! उसी क्षण आप नौकरी पर लात मार अलग हो सकते थे !

" वह असंभव था ! "

"क्यों ?"

"राजासाहब की छात्रवृत्ति के कारण ही मेरी शिक्षा पूरी हुई थी। मैं विलायत जा सका था!"

"कहीं दूसरी नौकरी कर आप वे पैसे अदा कर सकते थे! पर—"

मेरी तरफ़ घूर कर रुखाई से भगवन्तराव बोले, "यदि मैं वह करता तो तुम जैसी लड़की खुशी खुशी मुझसे विवाह कभी न करती। रहने को बँगला है—दरवाज़े पर मोटर है—दरबार-सर्जन की नौकरी को बाजार में कीमत है—इसलिये तुमने मुझसे विवाह किया।"

उनके शब्द सुनते सुनते ही मैं आपे से बाहर हो रही थी। मन में आया—तुरन्त ज़ीने से दौड़ती नीचे उतरूँ, बँगले से बाहर जाकर ज़ोरसे चिल्लाऊँ "तुम्हारा बँगला तुम्हें लखलाभ हो! मैं एक क्षण भी वहाँ रहना नहीं चाहती। स्त्रीहृदय पर विजय प्राप्त करनी होती है। वह बाज़ार में मोल नहीं मिलता।"

किन्तु—मैं अपनी जगह पर गड़ सी गई थी। उनका कहना कठोर प्रतीत होता था। किन्तु मुझे यह कहने का साहस न हुआ कि उनका कहना सत्य से परे है। क्या मैंने केवल प्रेम के कारण उनसे विवाह किया था? क्या यदि भगवन्तराव दिलीपसदृश दरिद्री होते तो मैं उनसे विवाह करने तैयार होती?

हम दोनों की वह रात कैसे बीती वह हम ही जानते हैं! मैं तो प्रतिक्षण यही सोच रही थी कि रात समाप्त ही न होगी। सच पूछो तो हम दोनों एक दूसरे से दो हाथ भी दूर न थे। किन्तु मेरे मन में बार बार यही विचार आ रहा था कि हम दोनों एक दूसरे से दो ध्रुवों की दूरी पर थे। हमारे प्रेमालाप सुनने की आदत पड़ी हुई वे दीवारें रह रह कर मुझसे पूछ रही थीं, "आज तुम मौन क्यों हो?" मेरी समझ में यही न आता था कि उनसे क्या कहूँ। रात बीती। किन्तु हम दोनों एक दूसरे से एक शब्द भी न बोले।

किसी का कथन है कि (मित्र की मृत्यु की अपेक्षा मित्रता की मृत्यु अधिक असह्य होती है)। मुझे हर क्षण इस कथन की सत्यता प्रतीत होने लगी। नौकर भी जान चुके थे कि हम दोनों में बोलचाल बंद सी है। किन्तु कारण कोई भी न समझ पाता था। और सच पूछा जाय तो जनदृष्टिसे भगवन्तराव को किस बात

की कमी थी ? मुझसे अधिक सुंदर और सुशिक्षित स्त्री उन्हें दुष्प्राप्य न थी। ऐसा होते हुए भी उन्होंने उस रात तक एक भी कटु शब्द से मेरा मन नहीं दुःखाया था। उनकी पत्नी होने के कारण स्वप्न में भी न देखा हुआ सुख और वैभव मैं उपभोग रही थी। मुझे उस सुख का ही शल्य दुःख पहुँचा रहा था। नहीं नहीं ! सुख—शल्य ! केवड़े की सुगंध से मस्त हो मनुष्य केतकीबन में प्रवेश करता है। किन्तु जब वहाँ साँप की हुंकार सुनता है तो ? क्या भगवन्तराव दुष्ट थे ? सारा शहर तो उनकी सज्जनता के गीत गाता था। राजासाहब की तबियत ठीक न होने के कारण वे सरकारी दवाखाने में अधिक बैठ न सकते थे। अन्यथा समय आने पर ग़रीब अपंगों के घर जाकर दवा देते किन्तु एक पैसा भी न लेते। उनमें सहृदयता थी, वे बुद्धिमान थे, सुशील थे—

पर—

आक्कासाहब की इच्छा के विरुद्ध शस्त्रक्रिया करने में उनका हाथ न होना चाहिये था। करीब करीब बचपन से ही आक्कासाहब नजरकैद में पलीं। आश्चर्य न था कि संगीत-शिक्षक से उनका प्रेम हो गया। श्रीमान् कन्या ने दरिद्री मनुष्य से प्रेम करना क्या अपराध है ? और यदि हो भी तो उसका प्रायश्चित दरिद्री जीवन के रूप में भोगने को आक्कासाहब तैयार थीं। किन्तु केवल इसी अपराध में पेट में बढ़ने और बड़े होने वाले उस निष्पाप जीव की हत्या—

उस समय आक्कासाहब का क्या हाल हुआ होगा ? मुझे मेरे नन्हे की याद हो आयी। मेरा और भगवन्तराव का मौन ज्यों का त्यों कायम रहा।

❧ ❧ ❧ ❧

किसी ने बताया कि शहर में दिलीप का व्याख्यान है। मैं व्याख्यान सुनने गई। मुझे देख वहाँ के सभी लोग आश्चर्यचकित से हो गये। वहाँ मुझे अधिकारी, उनकी स्त्रियाँ, शहर के गण्यमान नागरिक—कोई भी न दिखाई दिया। वह जगत ही निराला था।

श्रोताओं में अनेकों के मैले-कुचैले कपड़े देख मुझे तो उकाई आने लगी। किन्तु दिलीप के व्याख्यान की गंगा बहते ही मैं अपने आपको भूल गयी। वह कितने सुंदर और सरल उदाहरणों से जनता को समझा समझाकर बोल रहा था। 'आज समाज में धनदौलत के लिये स्थान है, मनुष्य के लिये नहीं!' उसके ये शब्द

सुनकर तो मेरी आँखें भर आईं। वे अश्रु कह रहे थे—(जीवन मानवता की एक पूजा है। आज समाज के पूजास्थानों में मानवता का स्थान है कहाँ ? सच्चे देवको फेंक हम तो पत्थरों को ही पूज रहे हैं।)

मेरे सामने एक चित्र खिंच गया। भगवन्तराव पीताम्बर पहिन पूजा कर रहे थे। सारा चौरंग फूलों से भर रहा था। बड़ी उत्कंठा से मैं आगे बढ़ी। उस अदृश्य मूर्ति के दर्शन के लिये मैंने फूल एक तरफ़ कर दिये। मैं आश्चर्य से सन्न रह गई। वहाँ राक्षस के समान दिखने वाला एक बेडौल बेढब पत्थर था।

व्याख्यान समाप्त होने पर दिलीप मेरे पास आकर बोला, "सुलोचना, आज ही मुझे मालूम हुआ कि तुम्हारा नन्हा नहीं रहा!"

मैंने सोचा कि वह सांत्वना के और कुछ शब्द कहेगा। किन्तु वह चुप रहा। ग़रमी में बिजली का पंखा पास हो, पर किसी तरह शुरू न हो। वही दशा मेरी हुई। थोड़ी देर से वह बोला, "एक बच्चे की मृत्यु पर माँ रोती नहीं बैठती। वह दूसरे बच्चों पर अधिक प्रेम करने लगती है।"

दूसरे बच्चे! दिलीप पाग़ल तो नहीं हो गया है ? मेरा तो इकलौता चल बसा। और यह पग़ला कहता है कि—

इतने में दो तीन लड़के हस्ताक्षर और संदेश लेने के लिये कापियाँ लेकर दिलीप के पास आये। पहली किताब में वह केवल हस्ताक्षर ही कर रहा था। पर वह लड़का अड़ ही गया। "संदेश दीजिये, अन्यथा सत्याग्रह करना पड़ेगा।" उस लड़के के शब्दों ने मुझे कुतूहल से भर दिया। दिलीप भी हँसते हँसते कुछ लिखने लगा। मुझे बड़ी इच्छा हुई कि देखूँ उसने क्या लिखा है। मैंने कापी लड़के के हाथ से क़रीब क़रीब छीन ही ली। दिलीप की 'आपलिखे–खुदा बाँचे' लिखावट शायद वह लड़का न पढ़ सकता। किन्तु मैं तो दिलीप की तीन चार साल शिष्या थी। मैंने तुरन्त पढ़ लिया—

'सोना न बनो। लोहा बनो!'

मैं आश्चर्य कर रही थी कि उसे यह वाक्य कहाँ से सूझा।

मैंने कहा, "किसका वाक्य है यह ?"

"एक बड़े मनुष्य का!"

"महात्मा गांधी ?"

"ऊँ हूँ!"

"फिर ?"

मैं जानती थी कि कालिज में, रशिया पर किताबें पढ़ने की उसे बड़ी धुन सवार थी। मैं एक के बाद एक नाम लेने लगी—लेनिन, स्टालिन, ट्राट्स्की—

वह एक ओर तो गर्दन हिला मुझे नहीं कहता जा रहा था दूसरी ओर और कापियों में संदेश लिख रहा था। लिखना समाप्त कर वह मुझसे बोला, "बताऊँ वह किसका वाक्य है ?"

"हाँ !"

"श्रीयुत दिलीप का।"

लड़के हँस पड़े। मैं भी उनके हँसने में शामिल हो गयी। दिलीप को नमस्कार कर लड़के जाने लगे। मैं भूल ही गयी थी। और दूसरे संदेश तो मैंने पढ़े ही न थे। दूसरे लड़के की नोटबुक ले मैंने देखा। महाशय जी ने अंगरेजी में संदेश लिखा था। (' *Men are not born, they are made* ' (मनुष्य जन्म लेता है किन्तु मानवता निर्माण करनी पड़ती है।))

वह क्या ही अच्छा वाक्य था ! दिलीप का मजाक उड़ाने के हेतु मैंने कहा, "बताऊँ यह वाक्य किसका है ? रामगढ़ रियासत के सुप्रसिद्ध नेता दिनकर सरदेसाई—"

"गलत, बिलकुल गलत !" वह बीच ही में बोल उठा।

मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखती रही ! वह हँसा और बोला, "रशिया के एक जगप्रसिद्ध वैज्ञानिक का वाक्य है यह। उसका बाप एक गरीब किसान था !" एक क्षण ठहर कर मेरी ओर देखता हुआ वह बोला, "जो आज रशिया में हुआ वह कल भारतवर्ष में भी होगा। तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

बिना समझे बूझे ही मैंने 'हाँ' कह दिया। नोटबुक के वाक्य की शक्ति दिलीप की वाणी में भी उत्तर आई थी इसमें कोई शक नहीं। मैं मन ही मन गुनगुना रही थी—*Men are not born, they are made.* (प्राणी जन्म लेता है। मानव की निर्मिति करनी पड़ती है।)

मैंने तीसरी कापी देखी। उसमें दिलीप ने लिखा था— 'यह सच है कि मनुष्य केवल रोटी के टुकड़ों पर नहीं जीता। किन्तु यह भी ठीक उतना ही सच है कि रोटी बिना वह जीवित नहीं रह सकता।' मैंने नोटबुक लौटा दी। लड़के हम दोनों को नमस्ते कर चले गये।

मैंने गंभीरता से दिनकर से कहा, "हाँ, मनुष्य रोटी बिना नहीं जी सकता।"

उसने भी उतनी ही गंभीर मुद्रा बनाकर पूछा,

"क्या तालियाँ पीटूँ ? रोटी खाने के पूर्व ही ?"

रुककर फिर बोला, "अच्छा नहीं ! रोटी खाने पर पीटूँगा। पर तुम्हारे पति ठहरे डाक्टर। यदि मैं खाना खाते खाते तालियाँ बजाने लगूँ तो वे समझ बैठेंगे कि मेरा दिमाग़ बिगड़ गया है। और फिर गाँव गाँव का दौरा मुझे पागलों के अस्पताल में समाप्त करना पड़ेगा।"

अभी अभी गंभीरता से मानवी जीवन का मूल्य कूतनेवाला दिलीप और अब एक छोटे लड़केसमान हँसी मज़ाक करने वाला दिलीप। मुझे प्रतीत हुआ, दिलीप दो हैं। एक गंभीर, एक हँसोड़ खिलाड़ी। भगवन्तराव ऐसे नहीं हैं इसीलिये तो उस रात की बातचीत से—यदि उनकी जगह दिलीप होता तो यह मौन चौबीस घंटे भी न टिकता।

उनकी जगह दिलीप होता तो !

काश मैं दिलीप की पत्नी होती !

तो—मुझे पैदल चलना पड़ता, मामूली सी साड़ी पहननी पड़ती, आये दिन बासी रोटी आँखों के आँसुओं से भिगोकर खाना पड़ती।

हाँ—पर—

मैं आज की अपेक्षा कहीं अधिक सुखी रही होती !

* * * *

दिलीप रात को खाना खाने आने वाला था। मैं याद करने लगी कि उसे क्या चीज़ अधिक पसंद है। जब वह कालिज में था—

मुझे याद आया। प्याज़ की पकौड़ी बहुत पसंद थीं। मैंने रसोइये को बढ़िया पकौड़ी बनाने की सूचना दी।

दिलीप नियत समय पर आया। किन्तु भगवन्तराव दोपहर से राजासाहब के यहाँ गये हुए थे वे अभी तक नहीं लौटे थे।

हम दोनों गच्च पर गप् शप् करते बैठे। मैंने एंबास की हुई एक छोटी सी नोटबुक उसके सामने रखी और कहा, "आप से नम्रतापूर्वक प्रार्थना है कि आप इस नोटबुक का उद्घाटन अपने हाथों करें !"

नोटबुक उलटफेर कर उसने देखी और पूछा, "कब खरीदी ?"

" शाम को व्याख्यान से लौटते समय।"

" मेरा आज का भाषण बिलकुल निष्फल दिखाई देता है! "

मैं उसकी ओर देखने लगी। वह मेरी तरफ़ देखते हुए शांततापूर्वक बोला, " यह विदेशी कागज़ है! "

मैं बहुत शर्मिंदा हुई। मैं इतनी सुशिक्षित! पर कोई भी वस्तु मोल लेने समय केवल यही देखती थी कि वह सुंदर है या नहीं। मेरी सौंदर्यदृष्टि के चोचले पूरे करते समय मुझे यह कभी याद न आया था कि मेरे ही देश के करोड़ों लोगों के पेट में भूख की ज्वाला दहक रही है! क्लास का अपराध किया हुआ कोई विद्यार्थी मास्टरसाहब से जिस तरह डरते डरते बोलता है उस तरह मैं बोली, " दिलीप, फिर ऐसा पाप मेरे हाथों न होगा! "

मेरी कलम लेकर वह लिखने लगा।

" देखो, अच्छा सा संदेश देना, हाँ।" शाम के उस बालक सरीखा मैंने अट्टाहास किया। उसने शीघ्र ही कुछ लिखकर कापी मेरे हाथ में लौटा दी। उसमें दो ही शब्द लिखे हुए थे—" माता बनो! "

नन्हे की याद हो मेरा तो दम घुट सा गया। दिलीप—मेरा बचपन से मित्र—इतना क्रूर संदेश दे सकता है? जिसका बच्चा काल ने हर लिया था उसे 'माता बनो।' यह उपदेश कर सकता है? " किसकी माँ बनूँ मैं? " मैंने कंपित स्वर से पूछा। मैंने सोचा था कि कमसे कम अब तो वह अपनी भूल सुधार लेगा। वह शांतभाव से बोला, " इसका उत्तर कल दूँगा! पर एक शर्त है। "

" क्या? "

" कल मेरे साथ— "

मोटर का हार्न बजा। उसका वाक्य अधूरा ही रह गया। मैंने गर्दन हिला दी और कहा 'अच्छा।'

दिलीप को देखने ही भगवन्तराव के चेहरे पर रुखाई छा गई। भोजन करते समय बहुत देर तक वे एक शब्द भी न बोले। दिलीप को मैं फिर फिर से पकौड़ी खाने का आग्रह करने लगी और वह मना करने लगा तब कहीं उन्होंने मुँह खोला, " सुलोच, गांधी के भक्त प्याज़ की पकौड़ी पसंद न करते होंगे! "

" मुझे तो बहुत पसंद हैं " वह हँसकर बोला।

" तो और लीजिये! यदि पेट में दर्द होने लगे तो डाक्टर पास है ही! "

"पेट में दर्द होने की चिंता नहीं है। मन रोकने का सवाल है। जबान की रुचि के अनुसार यदि मनुष्य चाहे जितना खाने लगे तो—

"तो क्या होगा ? मर जायगा ?"

"ऐसा ही नहीं ! डाक्टर उसे जीवित रख सकेंगे। किन्तु वह फिर मनुष्य कहाकर न जियेगा। एक प्राणी कहाकर !"

"यही तो गांधीजी की गलती है। एक तपस्वी समान विचारधारा दो हजार वर्ष पूर्व ठीक थी। मैं अनेक बार सोचता हूँ—गांधीजी एक असामान्य पुरुष हैं। किन्तु उनके जीवन में एक भूल हुई।"

"क्या !"

"उन्हें एक हजार वर्ष पूर्व जन्म लेना था !"

मैं सोचती थी कि भगवन्तराव का यह प्रहार दिलीप के लिये असह्य होगा। किंतु वह शांत रह बोला, "आपकी गणना बराबर है !"

"कौनसी गणना !"

"यही एक हजार वर्ष की ! केवल थोड़ीसी गलती है उसमें !"

"गलती !" भगवन्तराव के स्वर से उनका अहंकार स्पष्ट ज्ञात होता था।

दिलीप बोला, "हाँ, गलती ! आप समझते हैं कि उन्हें एक हजार वर्ष पूर्व जन्म लेना था। पर सच तो यह है कि योग्य समय के एक हजार वर्ष पहले उनका जन्म हुआ है। उनका जन्म भोग विलास की लत पड़े हुए देश में हुआ। उनका जन्म उपनिषदों की शिक्षा भूले हुए समाज में हुआ। जहाँ ऋषियों का रूपांतर याचकों में हुआ है, और शूर योद्धाओं की जगह गुलामों की भीड़ पड़ गई है, ऐसे देश में जन्म लिया, यह उनकी कितनी बड़ी भूल है ! जहाँ दलाली को छोड़ और व्यापार नहीं, झूठे सौंदर्य को छोड़ और किसी की उपासना नहीं, और नकशे में अपने देश का रंग देख जहाँ के मनुष्य का खून नहीं खौलता ऐसे पैंतीस करोड़ कायरों के देश में गांधीजी ने जन्म लिया ! कितना अक्षम्य अपराध है यह !"

उसके इस प्रभावशाली व्याख्यान का परिणाम भगवन्तराव पर केवल एक ही क्षण रहा। पर शीघ्र ही उत्तर देने के लिये उनके ओठ हिलने लगे। बातचीत बढ़ जाएगी इस डर से मैंने बीच में ही दिलीप से पूछा "क्या तुम मट्ठा लोगे ?"

उसने कहा, "हाँ।"

भगवन्तराव ने ताना कसा, " सुना है कि कुछ गांधी भक्तों का केवल गाय का ही दूध–दही खाने का नियम है ! "

दिलीप चुपचाप मट्ठा पी रहा था। अपना बाण व्यर्थ गया देख भगवन्तराव मेरी ओर मुड़कर बोले, " अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया था ! कल सबेरे मुझे राजासाहब के साथ जाना है ! "

" कहाँ ! दिल्ली ? "

" नहीं ! पहले बम्बई—फिर जहाँ आवश्यक हो वहाँ—आवश्यकता पड़े तो इंग्लैंड भी ! "

" ऐसी कौनसी राजनीति पक रही है ? " यह प्रश्न पूछने पर मुझे जान पड़ा कि न पूछना चाहिये था। दिलीप के सामने रियासती गुप्त मामले—

भगवन्तराव हँसकर बोले, " यह देखिये मिस्टर सरदेसाई ! आग बरसानेवाले व्याख्यानों के लिये एक नया विषय। राजासाहब का गोद लेने का इरादा है। "

" गोद ! " दिलीप ने पूछा।

" जी, हाँ ! "

" इतने लड़के होते हुए गोद लेने की क्या आवश्यकता ! "

" उन्हें तो केवल लड़कियाँ हैं। "

" लड़के भी तो हैं। "

मैं आश्चर्यचकित हो सुन रही थी। दिलीप बोला, " चार पाँच लाख लड़के तो हैं ! राजासाहब तो हर भाषण में कहते हैं कि प्रजा मुझे पेट के बच्चों समान है। अब हिसाब लगाकर देखिये। रामगढ़ रियासत की लोकसंख्या है कुल दस लाख। उसमेंसे पुरुष राजासाहब के पुत्र और स्त्रियाँ— "

भगवन्तराव इस मनःस्थिति में न थे कि उसका वह निष्ठुर विनोद सुनते बैठते। उन्होंने मुझसे कहा " पता नहीं कितने दिन बाहर रहना पड़े। काफ़ी लंबी यात्रा की तैयारी करनी है। अभी के अभी ! "

हाथ मुँह धोकर शीघ्र ही दिलीप विदा हुआ। जब वह दृष्टि से ओझल हुआ तो मैं विचार करने लगी—मेरे शरीर पर भगवन्तराव का हक़ है। पर मेरे मन पर ? पता नहीं ! पर वह दिलीप के पीछे दौड़ रहा था।

भगवन्तराव का होल्ड–आल, संदूक भरते समय एक बार भी मैंने यह न सोचा कि वे कहाँ जा रहे हैं। रह रहकर मैं यही कह रही थी, " न जाने कल दिलीप

कहाँ ले जाने वाला है ? किसी गाँव में ? क्या दिखाने के लिये ? 'माँ बनो' इस वाक्य का क्या अर्थ है ?"

❧ ❧ ❧ ❧

दूसरे दिन सबेरे नौ बजे दिलीप आया। भगवन्तराव प्रातःकाल की गाड़ी से ही चले गये थे। मैंने दिलीप से कहा, "क्या कहीं बहुत दूर जाना है ?"

"नहीं। यहीं रामगढ़ में।"

"रामगढ़ में क्या देखना बाकी है ? शंकरजी का बड़ा शिवाला मैंने देखा है, सिनेमा का थियेटर मालूम है, सब पाठशालाएँ देखी हैं।"

"हम इनमें से कुछ न देखेंगे। फिर तुम्हें कुछ कहना है ?"

बड़ी उत्कंठा और कुतूहल से मैं उसके साथ गई ! वह हफ़्ते के बाज़ार का दिन था। बाज़ार के दिन प्रायः मैं शहर में न जाती थी। और कभी जाती भी तो मोटर से। पैदल कभी न गयी थी। आज दिलीप के साथ चलते हुए, रास्ते, इमारतें, मनुष्य सभी कुछ भिन्न दिखाई पड़ रहा था। शहद के छत्ते में मधु-मक्खियाँ होती हैं न ! रास्ते की भीड़ उसी तरह की थी।

लकड़ी बेचने के लिये आए हुए कुछ गाड़ीवान दिलीप ने मुझे दिखलाये। उनमें से एक ने उसे रामराम किया। दूर दूर के अनेकों गाँवों से आये हुए थे वे सारे। दो दिन चलकर बैल थक गये थे। गाड़ीवानों के कपड़े और चेहरे धूल धूल हो रहे थे। वे सोच रहे थे कि आज ही लकड़ी बेचकर, गृहस्थी के लिये आवश्यक पेटपूजा का सामान ले घर लौटेगें। पर लकड़ी मोल लेनेवाले दलालों ने उन्हें रोक रखा था। वे कम भाव में लकड़ी खरीदना चाहते थे। उस भाव से गाड़ीवान तथा बैलों का खर्चा भी न निकलता था। यदि लकड़ी न बिकी तो उन्हें दो चार दिन और रुकना पड़ता। वह खर्चा करने की भी शक्ति उनमें न थी।

हम आगे बढ़े। पास ही मिरचों का बोझ लेकर आई हुई स्त्रियाँ, एक पेड़ के नीचे बैठे ब्यालू कर रही थीं। उनमें से एक ने दिलीप को देख कहा, "रामराम भैया !" मैं हैरान थी। मुझे पता ही न था कि दिलीप इतना जगमित्र कब बन गया है।

वह उस स्त्री से उसके गाँव के हालचाल पूछ रहा था। मैं उन स्त्रियों के फटे पुराने कपड़ों की ओर, और उनके सामने एक मैले कपड़े में जो रूखी सूखी रोटी

थी उसकी ओर देख रही थी। वहाँ से आगे बढ़ते समय दिलीप बोला, "जीवन के पाँचवें छठे साल से ये लोग कष्ट उठा रहे हैं। धूप में भुनते, बरसात में भींगते, सर्दी में ठिठुरते बेचारे बारह महीने काम करते हैं। किन्तु इन्हें न तो भरपेट अन्न मिलता है न शरीरभर कपड़ा!"

फिर हम दूसरी जगह गये। यह मिरचों का बाजार था। सब कहीं लाल ही लाल धूल उड़ रही थी। मैं सोच रही थी—कब वहाँ से बाहर पड़ूँ! मैं दिलीप से कहने भी वाली थी, "चलो यहाँ से जल्द बाहर निकलें।" पर सामने ही मैंने मिरचों के ढेर के पास बैठी हुई एक बुढ़िया देखी। उसके बालों का कपास हो चला था! शरीर की चमड़ी सूखकर लटकने लगी थी। आँखें गहरी हो चली थीं। शायद उसे दमा हो गया था। खाँक् खाँक् खाँस रही थी। मैंने सोचा—मैं यहाँ से शीघ्र भाग सकूँगी। पर इस बेचारी को तो यहीं बैठना पड़ेगा। शामतक मिरचा बेचना होगा। यदि बिका तो उसे रोटी मिलेगी। यदि मैं उसकी जगह होती तो—

एक के बाद एक सब बाजार उस दिन मैंने छान डाला। कष्ट करने के बाद भी मनुष्यों को कितनी दरिद्रता में सड़ना पड़ता है इसकी यथार्थ कल्पना मुझे हुई।

यहाँ से वहाँ तक सभी के कपड़े मैले और फटे हुए। ठीक ही है। कपड़े कोई मुफ़्त तो बिकते नहीं हैं? साबुन भी बिन पैसे का नहीं मिलता। सभी के चेहरे दुःखियारे। मानो, 'कल क्या होगा?' इस बड़े प्रश्न को छोड़ उनके जीवन में और किसी बात से उन्हें कोई वास्ता ही न था।

बँगले की ओर लौटते समय मैंने दिलीप से कहा, "उत्तररामचरितम् में ऐसा ही एक प्रसंग है न?"

"ऐसा?"

"ऐसा याने--रामचन्द्रजी सीताजी को गत जीवन का चित्रपट बता रहे हैं ऐसा।"

रामचंद्रजी सीताजी को चित्रपट बताते हैं। याने दिलीप राम और मैं सीता? नहीं, नहीं। कितनी विचित्र कल्पना है। पर उस क्षण मुझे बहुत ही मधुर-रम्य प्रतीत हुई।

"यह सब मैंने क्यों दिखाया है, जानती हो?" दिलीप ने पूछा।

"हाँ!"

"इसलिये कि कल का मेरा संदेश केवल नोटबुक में न रहे।"

कल का दिलीप का संदेश—" माँ बनो।"

इन दीन दुःखियों के लिये मेरा मन पानी पानी हो रहा था। वह वत्सलता का ही प्रवाह था। मैं मन से उनकी माँ बन चुकी थी। किन्तु मेरी कृति ? माँ अपने लाड़ले के लिये आँख का दीप बनाती है, हाथों का पलना झुलाती है, खून का दूध बहाती है। क्या मैं इनके लिये कुछ कर सकूँगी ?

मैं असमंजस में पड़ गयी। दिलीप मुझे पहुँचाकर लौट रहा था। वह कई दिनों तक गाँव गाँव में घूमनेवाला था। जाते जाते वह गुनगुना रहा था, " प्रीत का है क्या कहीं बाजार !"

कवि का कथन है कि प्रेम बाजार में नहीं मिलता। किन्तु मेरा अनुभव इसके विपरीत था। उस दिन से मैं दिलीप को अधिक चाहने लगी। जिन दीन दुःखियों पर दिलीप प्रेम करता था उन्हें भी मैं चाहने लगी। मुझे प्रेम का अनुभव बाजार में ही हुआ था !

महिलाओं के क्लब में जाना मैं टालने लगी। वहाँ की विविध वेशभूषा और केशरचना देख मैं सोचती—कहा जाता है कि सारी राजधानी जल कर खाक हो रही थी और रोम का सम्राट् नीरो सारंगी बजाता देख रहा था। हम सुशिक्षित एवँ संपन्न भारतीय, निर्दय नीरो से भिन्न नहीं हैं। जिनके जी पर हम जीते हैं उनका जीवन कितना कष्टमय है इसका हमें कुछ पता ही नहीं।

क्लब में नये नये विषयों की कभी कमी न होती थी। यदि कोई नयी फेशन की साड़ी पहनकर आती तो उसकी विस्तारपूर्वक समालोचना होती। यदि कोई अनुपस्थित होती तो उसके गृहछिद्रों पर मुँह खोल कर टीकास्त्र चलता। कोई सुरसता से इस बात का वर्णन करती कि शामको दफ्तर से आनेपर पतिराज को चाय पिलाने के समय वह उपस्थित न थी इस कारण 'वे' कैसे क्रोधित हुए। कोई यह बताती कि उसने पढ़ी हुई एक किताब कैसी अश्लील है। यह कहते हुए उदाहरणों की सहायता अवश्य ली जाती।

पहले भी मुझे ऐसी बातें विशेष पसंद न थीं। अब तो मैं उनसे ऊब चली थी। यह सब देख और सुन मैं सोचती—

हम सुखजीवी स्त्रियाँ केवल सिंगार की गुड़ियों के समान हैं। हम केवल पति का एक खिलौना बन कर जीवित रहती हैं। निज का ऐसा हमारा कोई ध्येय नहीं होता। अपढ़ और निर्धन स्त्रियाँ भी कुछ न कुछ समाजोपयोगी कार्य करती रहती

हैं। पर हम ? हम में और काँच के गमले में रखे हुए सुंदर पुष्पवृक्षों में क्या फ़र्क है ? हम गमले के बाहर जाना ही नहीं चाहतीं। हमारे क्लब, हमारी सभाएँ, हमारे आंदोलन, केवल दिखाऊ शोभा के फूल हैं।

जब इन विचारों से मैं खिन्न होती तो मन कहता—कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिये। दिलीप का वाक्य कानों में गूँजने लगता, "माँ बनो!"

मैं सोचती, यदि मैं दिलीप के साथ गाँव गाँव जाकर काम करने लगूँ तो क्या होगा ? नहीं! भगवन्तराव उसे पसन्द न करेंगे। उन जैसे बड़े अधिकारी की पत्नी यदि गरीब किसानों से हिल मिल काम करने लगे तो उनकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचेगा न ? और दिलीप का आंदोलन तो रियासती कारोबार पर टीका करने का ही था। राजासाहब से उसने एक प्रकार की लड़ाई ही मोल ली थी! मैं यदि इस लड़ाई में भाग लूँ तो—

भगवन्तराव कभी कभी बंबई से आ जाते थे। उनके आने पर दो-चार दिन मेरे मन का झगड़ा शान्त रहता। आक्कासाहब की मृत्यु पर से हुई हमारी लड़ाई मैं अभी भूली न थी। किन्तु उस जखम पर अब पपडी जम गई थी। अतिविचार से उड़ने वाली मेरी नींद उनके आने पर वापस आ जाती। रात के समय उनके बाहुपाश में मेरे मन का सब कोलाहल शान्त हो जाता। काँटों से भरी हुई पृथ्वी पर से चाँदनी से प्रफुल्ल आकाश में जाने के समान आभास था वह। किन्तु—

सबेरा होते ही वह मधुर स्वप्न न जाने कहाँ विलीन हो जाता था। जब दो-चार दिन रहकर वे बम्बई लौट जाते तो बीचमें मंदगतिसे चलनेवाला विचारचक्र फिर द्रुतगति से दौड़ने लगता।

किसान-आंदोलन के कार्य से समय निकाल दिलीप अपनी बीमार माँ से मिलने के लिये बीच बीच में आया करता था। वह मुझसे भी मिलता जाता था। जब वह आता तो मुझसे घंटों बातचीत करते बैठता। उसकी बातें भी बिलकूल मामूली होतीं; पर उनमें हृदय दहलाने की विलक्षण शक्ति थी। उसके मुँह में जब गाँवों की दरिद्रता का वर्णन सुनती तो सोचती कि विलायत जाकर गोद लेने की अनुमति प्राप्त करने के लिये लाखों रुपये खर्च करने का राजासाहब का इरादा, एक महत्पाप ही है। दिलीप चला जाता तब मेरा मन कहता—हमारे सब सुधार केवल जंगलीपन पर चढ़ाया हुआ मुलम्मा ही है!

* * * *

एक समय दिलीपने मुझसे पूछा, "क्या तुम अखबार पढ़ती हो ?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ, टाइम्स आफ इंडिया पढ़ती हूँ, मराठी के साप्ताहिक भी पढ़ लेती हूँ—"

"गत दो चार दिनकी क्या किसी खबर ने तुम्हें बेचैन किया है ?"

ऐसी कोई भी खबर मुझे याद न आई। लड़ाई जोर पकड़े हुए थी यह सच था पर—

"अखबार केवल आँखों से नहीं पढ़े जाते !" वह बोला। मैंने मजाक में पूछा, "तो क्या कानों से ?"

"नहीं, हृदयसे !"

उसने अपनी कमीज़ की जेब में रखी हुई अखबार की एक तह निकाली। उसमें एक तरफ़ की एक खबर पर लाल पेंसिल से निशान बनाया हुआ था। मैंने वह वार्ता पढ़ी—"रामगढ़ रियासत के किसी गाँव में एक स्त्रीने अपने तीन बच्चों सहित एक कुएँ में आत्महत्त्या की थी!" मेरे मनने कहा—यह माँ कैसी ! राक्षसी ही होगी वह स्त्री !

काल ने प्राण हरे हुए मेरे नन्हे की याद मैं अभीतक नहीं भुला सकती ! और यह स्त्री अपने ही हाथों अपने बच्चों को मृत्युके द्वार तक ले जाती है।

मैंने अखबार लौटाते हुए कहा, "तीन बच्चे लेकर कुएँ तक जाने का साहस भी कैसे कर सकी वह ? क्या ही भयंकर स्त्री होगी !"

वह बोला, "तुम्हारा भयंकर शब्द ठीक है। परन्तु प्रश्न यही है कि भयंकर कौन है !"

"याने ?"

"उसने इसलिये आत्महत्त्या नहीं की कि कुएँ में कूदने में मजा आता है जीवित रहना असंभव हो गया होगा—भूख से तड़पनेवाले बच्चों की ओर देखना असह्य होकर ही—"

उसकी आवाज़ में कंप था। भावनावश हो वह बोला, "यह आत्महत्या नहीं है, सुलोच। यह खून है !"

"खून ?"

"हाँ, खून ! समाज ने दिनदहाड़े किया हुआ खून ! सुखचैन से रहने वाले रियासतके सब लोगोंपर इसका उत्तरदायित्व है। एक क्षण भी काम न कर भोग-

विलास करनेवाले सारे धनिकों पर है— " थोड़ी देर रुककर वह बोला, " सुलोच, तुमपर भी कुछ उत्तरदायित्व अवश्य है। "

उस क्षण मुझे उसपर बहुत क्रोध आया। पर फिर मैंने सोचा—दिलीप का कहना सत्य से परे नहीं है। आक्कासाहब की मृत्यु का विवरण सुनकर मेरे मनमें भगवन्तरावके प्रति एक प्रकारका तिरस्कार उत्पन्न हो गया है न? यदि दिलीप भी मेरा तिरस्कार करता हो तो क्या आश्चर्य है?

एक समय उसने मुझे खलील गिब्रान की '*Madman*' (पगला) यह पुस्तक खासकर पढ़ने को दी। पहली बार मैं उसे ठीक ठीक समझ न सकी। किन्तु दो तीन बार पढ़ने पर वह मुझे बहुत पसंद आई। पहले ही पृष्ठपरके वे शब्द—

'*I woke from a deep sleep and found my masks stolen. ......For the first time the sun kissed my own naked face and my soul was inflamed with love for the sun and I wanted my masks no more.*'

मानो वे मेरे ही शब्द थे! मेरे ही अनुभव मैं उन शब्दों में कह रही थी। जहाँ देखो वहाँ ढोंग का राज, चेहरों का बाजार! शारीरिक सुख की लालसा पर प्रेम का चेहरा, कष्ट किये सिवा चैन करने की इच्छापर संस्कृति का मुलम्मा, यहाँ धर्म का मुलम्मा, वहाँ प्रतिष्ठा का मुलम्मा, इन विभिन्न मुलम्मों के नीचे छिपाया हुआ जीवन का सत्य स्वरूप एक साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है? दिलीपने मेरे जीवनमें प्रवेश किया, उसने बेडर हो मेरा ऊपरी चेहरा फेंक दिया। अब—

क्या वह मनुष्य जिसे चेहरा पहिनकर आईने में देखने की आदत पड़ी हुई है, अपना सच्चा रूप शीशे में देखने का साहस कर सकता है?

मैंने वह साहस किया। मेरे सामने अनेकों प्रश्न आ खड़े हुए—

मनुष्य क्यों जीवित रहता है? क्या केवल अपने ही लिये? नहीं न? थोड़ासा समाजके लिये भी? यह सच है न? फिर मेरे समाज के लिये, चहुँ ओर के सहस्रों दुर्दैवी मनुष्यों के लिये मैंने क्या किया है? दादा के पास मैंने यह सीखा कि आकाश में ईश्वर नहीं है। स्त्रियों को भी पुरुषों समान पढ़ने का अधिकार है यह मान मैंने उसपर अमल किया। बूढ़ी नानी का बटुवा और गांधीजी का चरखा

इनमें कोई भेद नहीं यह समझ मैंने देशके राजकीय आंदोलनों की ओर ध्यान न दिया। पर यह सब कर, मैंने क्या प्राप्त किया ?

मैं किसलिये जी रही हूँ ?

दीमक खंभे को खोखला बना देती है। उसी प्रकार इस प्रश्न ने मेरे मन को खा लिया होता।

पर—

रामगढ़में हैजा शुरू हो गया। इस साल धूप भी वैसी ही कड़ी थी। सामने के तालाब का पानी पहले किसी गरमी में इतना न सूखा था। हैजा शुरू होने की ख़बर पाते ही दिलीप आया। उसने एक स्वयंसेवक-दल तैयार किया। भगवन्तराव बंबई में थे। मेरी इच्छा थी कि उनकी अनुमति लेकर मैं भी दल में शामिल होऊँ। किन्तु फिर मेरा सुशिक्षित स्त्री का अभिमान जागृत हुआ। भगवन्तराव कहाँ सारी बातें मेरी अनुमति लेकर करते हैं ? फिर मुझे ही इस बारे में आज्ञा लेते बैठने की क्या आवश्यकता थी ?

प्रारंभ में स्वयंसेविका का काम करने के बाद शरीर थक सा जाता किन्तु मन अधिकाधिक प्रफुल्ल होता था। मैं दूसरों के लिये कष्ट सहन कर रही हूँ—इस भावना का आनंद कुछ और ही होता है। माँ होने का आनंद होता है न ? ठीक उसी जैसा।

हैजा काबू में आया। उसी समय भगवन्तराव भी बंबई से लौटे। रातको अकेले में हमारी भेंट होने तक वे मुझसे एक शब्द भी न बोले। मेरी समझ में ही न आया, वे क्यों न बोले थे। रात को उनका प्रथम प्रश्न था, "सुना है तुम स्वयंसेविका बनी थीं ?"

मैंने हँसकर उत्तर दिया, "हाँ।"

"क्यों ?"

मैं कहने वाली थी, "सेवा क्यों की जाती है ? अपने ही समाधान के लिये।"

किन्तु यह उत्तर मेरे मुँह से न निकला।

मैंने कहा, "मैं बदले में काम कर रही थी।"

"बदले में ? किसके ?"

"आपके ! आप यहाँ के मुख्य डाक्टर। किन्तु शहर में भयंकर हैजा फैलने पर भी आप दत्तक पुत्र की चर्चा करते बम्बई में थे। लोग आपकी निंदा न करें इसलिये—"

"मैं जनता का नौकर नहीं हूँ। राजासाहब का सेवक हूँ। और बताऊँ तुम स्वयंसेविका क्यों बनीं? इसलिये नहीं कि तुम्हें लोगों के प्रति सहानुभूति हो। पर इसलिये कि दिनकर के साथ—"

तेज़ दौड़नेवाली मोटर को एकदम ब्रेक लगे उस प्रकार वे रुक गये।

मैं गुस्से से लाल हो गयी। पर भगवन्तराव शांततापूर्वक बोले, "काफ़ी तमाशा हो चुका है। मैं यहाँ प्रतिष्ठा से रहना चाहता हूँ। कल से तुम्हारा सार्वजनिक कार्य बंद, उस दिनकर से मेलजोल बंद! समझीं!"

इतना कह उन्होंने झट सिरहाने की बती बुझा दी। मेरे मन में तीव्र इच्छा हुई कि उस कमरे में से, उस बँगले में से, भगवन्तराव के जीवन में से उसी क्षण निकलकर जहाँ दिलीप रहता है वहाँ चली जाऊँ। किन्तु मेरा शरीर न हिला, न डुला। कितनी ही देर तक मन भीतर ही भीतर सिसक सिसक कर कह रहा था, "मैं स्वतंत्र हूँ। मैं स्वतंत्र हूँ!"

वे सो गये थे। पर मुझे नींद न आयी।

भगवन्तराव अधिक खर्राटे न भरते थे। पर बीच बीच में होने वाली खर्राटे की वह मंद विचित्र कर्णकटु ध्वनि—

बचपन में सुनी हुई एक बात मुझे याद आयी। शेर अपना शिकार पकड़नेपर तुरन्त नहीं मारता। उसे जीता ही मुँह में पकड़ वह गुफा में ले जाता है और फिर आरामसे सो जाता है। पर भयभीत हो वह प्राणी शेर के खर्राटे सुनता वहीं पड़ा रहता है। शेर सोता रहता है। फिर भी वह वहाँ से भागने का साहस नहीं करता।

आधीरात गये मेरी आँख लगी। मैं एक स्वप्न देख रही थी। दिलीप मुझे एक संदेश लिख दे रहा था। "माँ बनो।"

मैं दचककर जाग उठी। मेरे हाथ पर कुछ—

वह भगवन्तराव का ही हाथ था। उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में जोर से दबाया। उस स्पर्श में उनका प्रेम स्पष्टतया व्यक्त हो रहा था।

मैंने सोचा कि उनका हाथ झटक दूँ। पर मुझे धीरज ही न हुआ।

बहुत देर तक मुझे नींद न आयी। मेरा मन उनके विरुद्ध विप्लव पुकार रहा था। किन्तु मेरा शरीर—

अँधेरे में मैं गच्चपर गयी। अँधियारी रात में तालाब बिलकुल भरा सा दिखाई दे

रहा था। सबेरे तक मैं वहीं आरामकुरसी पर सो रहा। अरुण के शीत समीर से मेरी आँख खुली। मैंने सामने देखा। पौ फटने लगी थी।

और तालाब ? नहीं ! अँधेरे में मुझे झूठा आभास ही हुआ था कि वह भरा हुआ है। पानी कम हो जाने के कारण इतस्ततः चट्टानें खुली पड़ी हुई थीं। वे खुले हुए भयंकर कुरूप पत्थर ! क्या वे इसी सुंदर तालाब में छिपे हुए थे ? मुझे विश्वास ही न होता था !

भगवन्तराव फिर बम्बई गये। महायुद्ध चल रहा था। फिर भी राजासाहब विलायत जाना सोच रहे थे। और भगवन्तराव का तो उनके साथ रहना आवश्यक ही था।

दिन पर दिन मेरा मन उदास हो रहा था। कभी सोचती—मायके जाकर सारा हाल दादासे कह सुनाऊँ।

फिर सोचती—बुढ़ापे में अपनी लड़की सुखी नहीं है यह सुनकर उन्हें कष्ट ही होगा। और वे भगवन्तराव से कह ही क्या सकते हैं ? समाज की दृष्टि से देखा जाए तो भगवन्तराव ने मेरा क्या बिगाड़ा था ! शरीर के जखम दिखाये जा सकते हैं। किन्तु मन के घाव ? और फिर यह तो जखम भी न था। केवल मुँदी चोट ही थी !

एक के बाद एक दिन जा रहे थे। एक दिन मैं दिलीप की माँ की तबियत देखने गयी। बेचारी बिलकुल अस्थिपंजर हो रही थी। उसे रक्तक्षय हो गया था ! उसी में उसे दिलीप की चिंता थी। नमकमिर्च लगाकर खबरें सुनानेवालों की जीभ को माँ की चिंता का क्या पता था ? कोई कहता—दिलीप ने परसों राजासाहब के विरुद्ध एक भयंकर भाषण दिया है। अब वह जेल गये बग़ैर न रहेगा। कोई सुनाता—उसने राजद्रोह किया है। अवश्य ही उसे कालेपानी की सजा होगी।

बेचारी माँ का हृदय लड़के के लिये तिलतिल टूट रहा था। किंतु चिंता करने के सिवाय वह और कर ही क्या सकती थी ? मेरे जाते ही वह बोली, " बच्ची, हाथ जोड़कर ईश्वर से एक ही प्रार्थना है। मुझे ले चल और मेरा शेष जीवन दिनकर को दे ! पर ईश्वर ने अभीतक मेरी प्रार्थना सुनी ही नहीं। "

शीघ्र ही उसने मुझसे पूछा, " दिनू की तबियत कैसी है ? "

मुझे तो पता भी न था कि वह बीमार है। मैंने आश्चर्य से पूछा, "कहाँ है वह ?"

रामगढ़ के पास ही एक ओढ़ें नामका गाँव था। कोई चार मील दूर। वहीं वह दस बारह दिन से बीमार है ऐसा कोई माँ से कह गया था। वह बोली, "आज चार मील चारसौ कोस हो गये हैं मेरे लिये। और फिर बरसात के दिन। उस गाँव के पास का नाला भी बड़ा भयंकर है। कब बहिया आ जाय कुछ ठीक नहीं। दिनूको मैं बभूत भेजनेवाली थी। पर—"

मैंने उसके पाससे बभूत माँग ली। मेरा विचार था कि किसी नौकरके हाथ भिजवा दूँगी। पर घर पहुँचनेपर सोचने लगी—दिलीप इतने दिनों से बीमार है। यही अच्छा है कि मैं स्वयं ही उसे देख आऊँ।

दो बज चुकनेपर मैं अकेली पैदल ही निकली। कई जगह रास्ता पूछना पड़ा। रामगढ़ से निकलने पर दो–ढ़ाई मीलपर ही एक नाला था। उस नालेमें घुटने तक भी पानी न था। किन्तु मैं गाँव की मेड़ तक पँहुची भी न थी कि पानी की बूँदें आने लगीं। मैं छतरी खोलकर चलने लगी। मैं यही कल्पनाचित्र देख रही थी कि मुझे देखकर दिलीपको कितना आश्चर्य होगा। वह पूछेगा, "बरसातमें क्यों आई!"

मैं कहूँगी, "वसंतसेना भी बरसात में ही—"

नहीं! क्या यह कहना ठीक होगा!

वह वाक्य मैं मनके मनमें भी पूरा न कर सकी।

दिलीप को ढूँढ़ते ढूँढ़ते मेरी नाक में दम हो गया। क़रीब क़रीब सारा गाँव मैंने छान डाला। गाँव में मैंने कई भिन्न भिन्न दृश्य देखे। एक चाय की दूकानमें कितने ही मनुष्य ज़मीनपर ही भेड़ियाधसान से बैठे थे। बिनकान के प्यालों से चाय पी रहे थे। पास ही एक ताड़ी की दूकान थी। वहाँ के लोग! सड़कपर औंधेसीधे कुत्ते पड़े रहते हैं न? वैसे पड़े हुए थे। आगे चलकर एक मकान में बालों के जटाजूट बनी हुई एक बुढ़िया किसी को गालियाँ दे रही थी। वे शब्द सुनना भी मुझे असह्य हो उठा। पास ही एक खेतमें दो मनुष्य हाथ में लाठियाँ ले एकदूसरे पर चलाने के लिये तैयार थे। मैंने सोचा कि ऐसे मनुष्यों के साथ रहना याने एक सज़ा काटना ही है। दिलीपकी झोंपड़ीमें पैर रखतें ही मैंने उससे कहा भी। उसनें हँसकर उत्तर दिया, "*Men are not born; they are made.*"

उसने अपनी पाठशाला मुझे दिखाई। वहाँ सब के सब किसानों के ही लड़के थे।

लेकिन बड़े समझदार मालूम होते थे। उनमें के पाँच छः लड़कोंने मुझे 'वह देख महात्मा आया' गीत कह सुनाया। वह गीत सुनते ही प्रारंभमें देखे हुए सारे दृश्य मैं भूल ही गई।

सच है, मनुष्यता का निर्माण ही करना पड़ता है।

सांघिक रीतिसे एक बगिया तैयार की गई थी।

उसे दिखाने दिलीप मुझे ले गया। मैं 'नहीं' 'नहीं' ही कह रही थी। उसे चलने का कष्ट न हो इसलिये मैंने कहा, "तुम्हें बुखार आता था न?"

"जूड़ीबुखार भी कोई डरने की बात है?" वह बोला।

"पर—"

"सुलोच, तुम नहीं जानतीं! हमारी रियासतों के हजारों गाँव जूड़ीबुखार से पीड़ित हैं। बुखार की कँपकँपी होने पर भी वहाँ के मनुष्य काम करते रहते हैं। बारहों महीने!"

मैं सोचने लगी—दत्तक लेनेके लिये लाखों रुपये खर्च करनेवाले राजासाहब क्या इस बुखारकी जड़ काटनेके लिये कुछ भी नहीं कर सकते?

दिलीप बोला, "मैं भूल ही गया हूँ कि मैं बीमार हूँ।"

"क्या मेरे आने से?"

"नहीं। मेरा सारा चित्त कल होनेवाली सभाकी ओर है। कल शामको हमने रामगढ़में एक बड़ी सभाका आयोजन किया है। आसपासके पच्चीस तीस गाँवोंसे किसान जमा होने वाले हैं। हमारी माँग है कि किसानों को छूट देनेके लिये राजासाहब अपना इंग्लैंड़ जानेका इरादा रद्द कर दें।"

"तो इसमें चिंता की क्या बात है?"

"बहुत कुछ। हमारा आंदोलन शुरू होते ही बहुतसे लोग उसमें शामिल हुए हैं। पीछे जब मैं उत्तरभारत गया हुआ था तब यहाँ कुछ विद्यार्थियोंको सजा हुई थी। वे—और यहाँ की आक्कासाहब का संगीत-शिक्षक—वह अभी हाल ही जेलसे छूटकर आया है—ऐसी आग उगलता है कि कुछ न पूछो!"

बगिया देखनेपर मेरी सारी थकान जाती रही। सजीव-कविता ही थी वह।

झोंपड़ी में लौटनेपर मैंने दिलीपकी माँने दी हुई बभूतकी पुड़िया उसे दी। उसने उसे खोल माथे पर बभूत लगा ली।

मैंने मजाक में पूछा, "क्या तुम्हारा भी ईश्वर में विश्वास है?"

"नहीं!"

"फिर यह बभूत क्यों लगाई?"

"इसलिये कि मेरा मनुष्य में विश्वास है। माँने यह बभूत भेजी। इतने जतनसे तुम ले आयीं। इसलिये—"

उसने मेरे लिये चाय तैयार की। अब शाम हो चली थी। मुझे घर लौटना ही चाहिये था। जब हम दोनों झोंपड़ीसे बाहर निकले उस समय आकाश में बादल घिरे हुए दिखाई दिये। सामने पहाड़पर मूसलधार वर्षा हो रही थी। यहाँ भी बादल फट पड़ने के चिन्ह देख दिलीप बोला, "यदि तुम कल सबेरे चली जाओ तो न चलेगा?"

"ना बाबा! अभी ही चली जाती हूँ।" अपने मन का डर मैं उससे न कह सकी। कुछ ठीक न था कब भगवन्तराव बंबई से आ जाएँ।

नालेपर तक मुझे पहुँचानेके लिये दिलीप भी मेरे साथ आ रहा था। चलते चलते अनेकों बार मैंने पीछे मुड़ उस झोंपड़ीकी ओर देखा। मैं सोच रही थी कि भगवन्तरावके बँगलेकी अपेक्षा उस झोंपड़ीमें अवश्य ही कुछ न कुछ अधिक है। मन बार बार रह रह कर कह रहा था—यदि तुम इस झोंपड़ी की स्वामिनी बनतीं तो अधिक सुखी होतीं।

बीमार होनेपर भी दिलीप जल्द चल रहा था। मेरे पैर ही न उठते थे। उस झोंपड़ी का आकर्षण मुझे आगे ही न बढ़ने देता था।

नालेके किनारे पहुँचते ही वह बोला, "सुलोच, देखो नाले में पानी बढ़ रहा है। जरा सँभलकर चलना!"

मैंने देखा। पहले की अपेक्षा पानी बहुत ही चढ़ चुका था।

"तुम्हें पल्लीपार पहुँचाकर मुझे फिर लौटना चाहिये। पुल नीचेकी ओर कोई डेढ़ मीलपर है। इसलिये—"

वह पानी में उतर चुका था। पहले जहाँ थोड़ा ही पानी था वहाँ अब घुटना भी आसानी से डूब रहा था। धीरे धीरे मैंने भी पानीमें उतरने का साहस किया। किन्तु मेरा मन एक विचित्र उदासतासे भारी हो रहा था। शरीर बधिर सा हुआ जा रहा था। जल्द आगे जाना मैं चाहती ही न थी। बीच ही में एक छोटा सा पत्थर था। मैं उसपर खड़ी रही। पानीकी ओर देखा। झूमता हुआ पानी बह रहा था।

बहिया चढ़ रही थी। पल्लीपार पहुँचकर दिलीपने पीछे देखा। मुझे बीचमें ही खड़ीं देख वह चिल्लाया, "सुलोच, चलो, जल्दी पैर बढ़ाओ।"

न जाने मुझे क्या हो गया था। मैं अपनी जगह से न हिली। दिलीप पागल की तरह चिल्ला उठा, "भागो, भागो, पानी का जोर का बहाव आ रहा है।"

मनुष्यके जीवन में एक क्षण ऐसा अवश्य आता है जब वह मृत्युकी तृणवत् पर्वाह करता है। यदि उस समय मैं बोल सकती तो मैं दिलीपसे कहती, "तुम कहाँ अपने प्राणोंकी पर्वाह करते आये हो। तुम्हारी ही शिष्या हूँ मैं!"

सामने फिर दिलीप पानीमें उतरता हुआ दिखाई दिया। जंगली सुअरकी तरह पानीके बहावने मुझे धक्का दिया वह मैं जान सकी। उसके बाद क्या हुआ मुझे पता नहीं।

मैंने जब आँखें खोलीं तब मेरा कलेजा धड़क रहा था। मेरी समझमें न आता था कि मैं कहाँ थी। स्वर्ग में? हाँ, मैं स्वर्गमें ही थी। मेरा सिर जाँघपर लिये दिलीप बैठा था। मैंने फिर आँखें बंद कर लीं। मैं मृत्यु को हँस रही थी। "चलो मैं तुम्हारे साथ आनेको तैयार हूँ। बिलकुल एक पैर पर।" किन्तु निमंत्रित मेहमान बन मौत कभी नहीं आती। संसार की अव्वल दर्जे की बिनबुलाई मेहमान है, वह। हमेशा न बुलाये, जब आवश्यकता न हो तब अवश्य उपस्थित होती है।

दिलीप की उष्ण साँस मेरे गालों ने अनुभव की। क्या उसके ओंठ मेरे ओंठों की ओर आ रहे थे? क्या उसे मेरा चुंबन लेने का मोह हो गया था?

मनुष्य के विचार कितने विचित्र होते हैं। मेरे ओंठ दिलीपके चुंबनके लिये आतुर हो रहे थे। किन्तु मेरी आत्मा कह रही थी—नहीं, दिलीप इस मोहके आधीन न होगा। मेरा दिलीप—

दिलीप के ओंठ मेरे कपोलों तक न आये। उनका स्पर्श मेरे कानकी किनारको ही हुआ था। मेरा मन एक ही समय उत्कट आनंद और तीव्र दुःखसे भर गया। दिलीपने धीरेसे पुकारा, "सुलोच!"

मैंने आँखें खोल दीं। वह हँसकर बोला, "अब मेरे जी में जी आया। आज तुम्हें क्या हो गया था? मैं इतना पुकार रहा था फिर भी तुम पागलसमान नाले में ही खड़ी रहीं! बिलकुल मरते मरते बची हो!"

मैंने पूछा, " किसने बचाया मुझे ? "

" ईश्वरने ! एक बड़ा चमत्कार हुआ। कड़कड़ की आवाज हुई और नाला एकदम सूख गया ! 'तुकाराम' चित्रपटमें ऐसा चमत्कार देख मैं हँसा करता था। पर आज मुझे विश्वास हो गया कि— "

" संसार में ईश्वर है ! "

" हाँ, है तो। " वह गंभीरता से बोला। मैंने भी उसी गंभीरता से उसकी जाँघपर ही करवट बदलकर कहा, " उसकी जाँघपर सिर रखनेपर इतनी अच्छी नींद आती है कि— "

मैंने फिर आँखें बंद कर लीं। किसीको तो भी पुकारकर दिलीपने दूध मँगाया। एक नन्हेसे बच्चे की तरह मैंने उसके हाथों दूध पीया। दूध पीने पर मैंने ताजगी अनुभव की।

दो कंबलों पर एक खादी की चादर बिछी हुई थी। ओढ़ने के लिये भी एक कंबल ही था। यह था मेरा बिछौना। किन्तु मुझे वह भगवन्तराव के बँगले में के शीशम के पलंग पर के हाथ हाथ ऊँचे गद्दों से भी अधिक सुखकर मालूम हो रहा था। पास ही में एक चटाई पर कंबल बिछाते दिलीप बोला, " छोटे बच्चे की तरह अभी दूध पी रही थीं न ? "

" हाँ ! "

" वैसी ही सो जाओ। बेकार सोच में पड़ने की कोई जरूरत नहीं। "

" किन्तु छोटा बच्चा तो गाना सुने सिवाय सोता ही नहीं। "

मेरे बहुत आग्रह करने पर वह एक कविता कहने को तैयार हुआ। मैंने कहा, " पर इतनी दया करना कि कोई क्रांति या खून बहाने की कविता न कहना। "

" फिर क्या कहूँ ? सोजा मेरे लाल ? "

" कोई प्रेम-गीत सुनाओ ! "

" सुलोच तुम पागल हो। प्रीति क्रांति का ही दूसरा नाम है ? "

उसके इस वाक्य का अर्थ ही मेरी समझ में न आया। मैं मन ही मन कहती थी कि प्रीति एक अप्सरा है। किन्तु क्रांति ? नहीं ! वह तो कालीमाई का साक्षात् रूप है ! प्रेम याने फूला हुआ गुलाब। क्रांति याने यज्ञकुंड के अंगार। न जाने दिलीप को क्यों इन दोनों में समता दिखाई देती है।

' यह पृथ्वी का प्रेमगीत है ! ' यह कह वह गाने लगा।

युगामागुनी चालली रे युगें हीं
करावी किती भास्करा वंचना
किती काळ कक्षेंत धांवू तुझ्या मी
कितीदां करूं प्रीतिची याचना ![1]

ये पंक्तियाँ मैंने सुनी ही थीं कि मैं सोचने लगी—दिलीप को मेरे मन की वेदना ज्ञात हो गई है इसीलिये वह यह कविता कहा रहा है। हमारी पहचान को—उसके आकर्षण को भी बारह साल होते आये हैं। बीच में ही वह दूर गया—मैंने सोचा कि मैं उसकी कक्षा से छूट गई हूँ। किंतु वह लौट आने पर मेरा मन फिर उसके चारों ओर प्रदक्षिणा लगाने लगा।

'*कितीदां करूं प्रीतिची याचना ?*'

नहीं ! कवि की यहाँ कुछ भूल हुई है ! प्रेम की याचना इतनी सरल नहीं होती। वह ओठों तक आती है। किन्तु ओंठों के बाहर ? अँ हँ ! और इसी कारण यातनाएँ—

दिलीप गा रहा था—

'*न जाणें, न नेणें कुठें चाललें मी*
कळे तूं पुढें आणि मी मागुती !'[2]

ऐसा प्रतीत होता था कि यह मेरा ही वर्णन है। उस दिन बाजार में घूमना, वह नाले में चलना !

दिमाखांत सारे नटोनी थटोनी
शिरीं टाकिती दिव्य उल्काफुलें[3]

---

१. हे भास्कर, युग के बाद युग बीत रहे हैं। और तू मेरा छल कर रहा है। न जाने कितने समय तक मुझे तेरी कक्षा में दौड़ना पड़ेगा और कितनी बार तेरे प्रेम की याचना ही करनी पड़ेगी !

२. न जाने मैं कहाँ जा रही हूँ। मैं केवल यही जानती हूँ कि मैं तुम्हारे पीछे दौड़ी जा रही हूँ।

३. चहुँ ओर सारे ग्रह सजधज के साथ घूम रहे हैं। और बीच बीच में उल्का रूपी फूल बरसा मेरे प्रेम की याचना कर रहे हैं।

भगवन्तराव—उनका ठाठ बाट—वह सुंदर बँगला—वह शानदार मोटर—निमिषार्ध में ये सब चित्र मेरी आँखों के सामने झलक गये।

'नको क्षुद्र शृंगार तो दुर्बळांचा !
तुझी दूरता त्याहुनी साहवे !' [1]

क्या मेरे हृदय का भी यही शल्य था ?

कविता की अंतिम पंक्तियाँ सुनते सुनते मैं अपनी सुध बुध भूल गयी।

'गमे कीं तुझ्या रुद्र रूपांत जावें
मिळोनी गळा घालुनिया गळा
तुझ्या लाल ओठांतली आग प्यावी
मिठीनें तुझ्या तीव्र व्हाव्या कळा' ! [2]

दिलीप ठहर गया। झोंपड़ी में एक मंद मंद दिया जल रहा था। किन्तु मुझे आभास हुआ—मैं बिजली से जगमगाते हुए राजमहल में सो रही हूँ। मैं सोच रही थी कि यह पृथ्वी का प्रेमगीत नहीं है। मुझ जैसी अनेकों युवतियों का हृदयगीत है। आज घर घर सुशिक्षित तरुणियों का यही आक्रंदन है।

बहुत देर तक मैं विचार कर रही थी। मैं इतनी पढ़ी लिखी ! बुद्धिवादी बाप की इकलौती लाड़ली बेटी। फिर भी मेरा प्रेम सफल क्यों न हुआ ? शरीर का प्रेम एक मनुष्य से और मन का ? दूसरे से ! यह कितनी दुरवस्था है !

दुरवस्था क्या, जीवन की विडंबना ही है। जब भगवन्तराव ने मेरे प्रेम की याचना की उसी समय मैंने नकार क्यों न दिया ?

दिलीप कहाँ था यह मुझे मालूम न था—मुझे यह भी पता न था कि वह मेरा स्वीकार करेगा या नहीं।

---

१. किन्तु इन सब छोटे मोटे ग्रहों की यह सजधज मुझे कदापि पसंद नहीं आती। तेरे लिये तिल तिल टूटना ही मेरा आनंद है।

२. जी चाहता है—

तेरे रुद्ररूप में समरस हो मिल जाऊँ। तेरे गले में गला डाल तेरे लाल ओंठों की आग पी जाऊँ। तेरे आलिंगन से हृदय की वेदना तीव्रतम करना ही मेरी एकमेव आकांक्षा है।

भगवन्तराव के प्रति मेरा प्रेम—क्या वह शारीरिक, सुख की भूख का मायावी रूप था ?

काश् ! मैंने दादा से कहा होता कि मेरा दिलीप से प्रेम है ! क्या उन्होंने मेरी गणना पागलों में की होती ? बुद्धिवादी दादा की यही इच्छा थी कि अपनी सुलेच को धनवान् पति मिले । वे धन को ही सुख समझते थे । नहीं तो—

दादा, धन से मनुष्य के शरीर को सुख मिल सकता है । किन्तु उसके मन को ! सम्पत्ति के वैभव में वे ही मनुष्य आनंद से जी सकते हैं जिनके मन मर चुके हैं । मैं उस प्रकार जीवित न रह सकी । मैं तुम्हारे संस्कारों में पली थी, दिलीप के सहवास में बड़ी हुई थी । एक निरपराध पक्षी की हत्या देखते ही बाल्मीकि समान ऋषि अपनी सारी तपस्या पर तिलांजलि दे शाप देने को तैयार हो जाता है, यह मैं बचपन से सुनती आई थी । मैं भगवन्तराव के जीवन से एकरूप न हो सकी । मुझे इस बात पर खेद होने लगा कि उन जैसा बुद्धिमान् मनुष्य राजदरबार की सनक पर नाचे और अपने आप को बाजारू चीज की तरह बेचे ।

झोंपड़ी में और झोंपड़ी के बाहर सर्वत्र सन्नाटा छाया हुआ था । उस सन्नाटे में मुझे प्रतीत हुआ कि कोई मेरे मन के ही विचार जोर से कह सुना रहा था । मैंने सोचा—उन्हें सुन दिलीप जाग तो न पड़ेगा ?

मैं बिस्तरे पर उठ बैठी । उस मंद प्रकाश में दिलीप का धुँधला चेहरा दिखाई दे रहा था । कितनी गहरी नींद सो रहा था वह ! उसका जूड़ीबुखार—मुझे बचाने के लिये पानी में कूदना—दूसरे दिन की सभा—उसे किसी बात की पर्वाह न थी । एक क्षण मैं सोचने लगी—पानी के प्रवाह के साथ हम दोनों बहते ही चले जाते तो ? बुखार से दुर्बल बना हुआ दिलीप यदि पानी न काट सकता तो ?

तो ?

दिलीप के बाहुपाश में मरने में मेरा आनंद पराकोटि तक पहुँच जाता !

किन्तु मेरे साथ—मेरे लिये दिलीप की मृत्यु ! नहीं ! दिलीप को अभी जीवित रहना चाहिये । खूब वर्षों तक जीवित रहना चाहिये ! मुझ जैसी एक लता मृत्यु के झोंके से टूट गिरने पर संसार की कोई हानि न होगी । पर दिलीपसा आम्रवृक्ष—

अब मुझे दिलीप स्पष्ट दिखाई पड़ रहा था । मुझे वह रात याद आयी जब मैं उसकी कोई याददाश्त अपने पास रखने के हेतु, उसका चुम्बन लेने के लिये उसके

कमरे में गई थी। वही सुप्त अतृप्त इच्छा कितनी तीव्रता से फिर उमड़ कर ऊपर आ रही थी। मानों मेघों से बाहर निकल चमकने वाली बिजली!

एक बार—केवल एक ही बार—

माँ लोरी कह बच्चे को सुलाती है यह मेरे कहते ही उसने मेरा आग्रह पूरा करने के लिये कविता कही थी।

उसी तरह, एक ही बार—क्या एक ही बार वह मेरी यह इच्छा पूरी न करेगा?

बच्चा जब बहुत रोने लगता है तब माँ उसे चूम कर चुमकार कर चुप करने का प्रयत्न करती है?

उसी तरह—

जब दिलीप जाग रहा था उस समय मैंने यह हठ क्यों न किया? क्या मेरी इस इच्छा में पाप है?

इच्छा धुआँधार अग्नि की तरह होती है। उसके धुएँ से मन भरते ही विचार को आँखें बंद कर लेनी पड़ती हैं।

मेरा शरीर काँप रह था। उत्कंठासे और डर से!

किन्तु वह धीरे धीरे आगे भी बढ़ रहा था।

मैं दिलीप के अत्यंत निकट पहुँची।

एक बार, केवल एक ही बार मैं उसका चुम्बन लेने वाली थी। उसकी याद कहकर—इसलिये कि मैं एकान्त में अभिमान से यह कह सकूँ कि वह मेरा है—

तितली फूल पर बैठती है न? उसी तरह केवल एक बार उसके ओंठों पर ओंठ टेक कर झट दूर हो जाऊँ। अन्यथा वह जाग पड़ेगा और फिर—

नहीं, इस चुम्बन का पता दिलीप को भी पड़ना ठीक नहीं है।

मैं नीचे झुकी। मेरे और उसके ओंठों के बीच बहुत ही थोड़ा अंतर रह गया था।

किन्तु—

सहसा दिलीप ने करवट बदली। करवट बदलते समय वह बड़बड़ाया, "सुलोच, भागो, भागो।"

मैं दचककर पीछे हटी। उसे मेरे मोहवश होने का पता कैसे चला?

नहीं, शायद वह नाले में का दृश्य स्वप्न में देख रहा था।

मुझे साहस न हुआ कि उसका चुंबन ले सकूँ।

मैंने धीरे से उसके चरणों पर मस्तक रख दिया। ओंठों का अमृत मैंने वहीं प्राप्त किया। मेरे मन ने शांति अनुभव की।

* * * *

सबेरे जब मैं उठी तब झोंपड़ी के दरवाजे में से सूर्योदय बहुत ही रमणीय दृग्गोचर हो रहा था। दिलीप ने रात को कही हुई कविता का मुझे स्मरण हुआ। पृथ्वी का प्रेमगीत! मैंने दिलीप से कहा कि मैं वह कविता याद करना चाहती हूँ। उसने एक देवदारी पेटी में से एक कापी निकाली। वह चाय बनाने लगा। मैंने उस कापी में से वह कविता उतार ली।

चाय तैयार होने पर दिलीप बोला, "थोड़ा लंबा रास्ता पड़ा तो भी कोई हर्ज नहीं। हम पुल पर से ही चलेंगे। नहीं तो तुम फिर नाले में ही रुक जाओगी—फिर बढ़िया आएगी—किन्तु मुझ में अब इतनी शक्ति नहीं कि फिर तुम्हें बाहर खींच लाऊँ?"

झोंपड़ी से बाहर निकलने से पहले मैंने दिलीप से कहा, "मुझे तुम्हारी एक फोटो चाहिये।"

"अच्छा यह लो मैं फोटो के लिये खड़ा हूँ!"

"पर मेरे पास केमरा कहाँ है?"

"तो मैं क्या करूँ?"

"तुम्हारे पास एक भी फोटो नहीं है?"

"देवीजी, इन महाशयजी की एक भी फोटो आजतक खिंची ही नहीं है! फोटो जानती हो किस की खिंचती है? रेस के घोड़ों की, सिनेमा की नटियों की, विलायत के चक्कर काटनेवाले राजामहाराजाओं की—"

शायद मेरे चेहरे पर की निराशा उससे छिप न सकी। वह शीघ्र बोला, "निरा बच्ची हो तुम! सच पूछो तो बच्चों को क्या—कोई भी तसवीर उन्हें संतुष्ट कर सकती है।"

उसने उसी पेटी में से एक तसवीर निकाल कर मेरे हाथ में दी। वह महात्माजी की तसवीर थी। मुश्किल से घुटनों तक पहुँचने वाली धोती और बदन पर लपेटी हुई एक शुभ्र स्वच्छ खादी की चद्दर को छोड़ और कुछ भी उनके बदन पर न था। हरद्वार से देखी हुई हिमालय की ऊँची ऊँची पर्वतश्रेणियों की मुझे सहसा

याद हो पड़ी। उस चित्र में गांधीजी की प्रसन्न मुसकान ठीक हिमाचल से बह निकलने वाली गंगा की तरह थी।

दिलीप बोला, "यह चित्र देखकर एक छोटे बच्चे ने मुझे कुछ प्रश्न पूछे थे। मैं अभी तक उनके ठीक ठीक उत्तर नहीं सोच सका हूँ। देखो यदि तुम कुछ सोच सको तो। पहला प्रश्न—क्या गांधी महाराज बूढ़े हैं? दूसरा—वे क्यों हँस रहे हैं? तीसरा—क्या उनका अपना बगीचा है? चौथा उन्होंने कुरता क्यों नहीं पहना है?"

बँगले पर पहुँचने तक वही प्रश्न मेरे मन में गूँज रहे थे।

दिलीप अपने बहनोई के यहाँ गया। बीमार माँ के पास थोड़ी देर बैठ, शाम की सभा की तैयारी में वह जुटने वाला था।

मैंने बँगले में पैर रखा ही! मेरे तो हाथ-पाँव फूल गये!

भगवन्तराव बंबई से वापस आये थे।

उन्होंने मेरा स्वागत किया, "रात को कहाँ थीं?"

"ओढ़ें नाम का एक गाँव है पास ही। वहाँ गई थी।"

"किसलिये!"

"दिनकर बहुत बीमार था!"

उनकी मुद्रा पर वहम की घटाएँ छा रही थीं। वे तीव्र स्वर से बोले, "बीमारी का बहाना सुनने को मैं तैयार नहीं हूँ। उसका बे सिर पैर का आंदोलन—राजासाहब के विरुद्ध उसका जनता को उभाड़ना—हर रोज बंबई यही रिपोर्ट पहुँचती थी। राजासाहब के क्रोध का कोई ठिकाना ही नहीं है। उधर दत्तक के मामले में सरकार बखेड़ा कर रही है इधर यह दिनकर—"

अब कहीं उनका ध्यान इस ओर गया कि मैं एक फोटो छाती से लगाये खड़ी हूँ!

वे ताव से बोले, "उसी की फोटो होगी यह! मेरे घर में तुम उसकी पूजा—"

वे सहसा रुक गये। उन्होंने खर्र से फोटो मेरे हाथ से छीन कर बाहर बगीचे में फेंक दी। मैं दौड़ती ही बगीचे में गई। तसवीर का काँच टुकड़े टुकड़े हो गया था। किन्तु अंदर की गांधीजी की मूर्ति मुसकरा ही रही थी।

आँचल के पल्ले से तसवीर पोंछकर मैंने उन्हें दिखाई। लज्जित हो उन्होंने मुँह फेर लिया।

पर उनके मुँह से " मेरी भूल हुई ! " ये शब्द न निकले !

दोहपर को खाना खाने बैठने की मुझे इच्छा ही न थी। मैंने सोचा कि सबेरे के स्वागत के कारण ही मेरा मन उदास था। पर—

यह मन की शिकायत न थी, शरीर की थी। मुझे मेरे नन्हे के समय की याद हो पड़ी।

मैं बिलकुल बेचैन थी ! मैं फिर माँ बनने वाली थी ! कितने आनंद की बात थी !

किन्तु—

मेरे पेट में बड़ा होने वाला बच्चा—वह भगवन्तराव का था। जिन भगवन्तराव ने वहम से चूर हो गांधीजी की फोटो फेंक दी थी उन्हीं का बच्चा—

पूरी दुपरिया भर मैं दिलीपने दिये हुए गांधीजी के उस चित्र की ओर देखती रही। मैं बराबर प्रयत्न कर रही थी कि उसके उन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ निकालूँ।

पर—

अंत में थक कर मैं अपने आपही कह उठी, " इससे तो बी. ए. की परीक्षा के प्रश्न सरल थे ! "

चार बजे चाय पीते हुए भगवन्तराव बोले,

" आज की सभा में तुम भी जाओगी ही ? "

" कौन सी सभा ? " मैंने बहाना बनाते हुए पूछा।

" उस दिनकर ने बीस पच्चीस गाँवों के किसान एकत्रित किये हैं ! सुनते हैं कि आज उनकी प्रचंड सभा होने वाली है ! "

" मेरी तबियत ठीक नहीं है। नहीं तो अवश्य जाती ! "

" मैं तुम से कहने वाला था कि जाने का इरादा हो तो भी न जाना ! "

" क्यों ? "

" इसलिये कि कोई भी पति यह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी को गोली लग कर वह मरे ! "

" क्या मतलब ? "

मेरे प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही वे चले गये।

उनके उस वाक्य का अर्थ ?

अर्थ क्या होता ? सभा में कुछ अनर्थ होकर रहेगा यह स्पष्ट था।

शायद अधिकारियों का दाँव होगा कि गोली चला कर सभा को तितर बितर कर दें ! भगवन्तराव ने कहा था, " कोई भी पति यह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी को गोली लग कर वह मरे ! " उन्होंने यह क्यों कहा ? और उन्होंने यह क्यों मान लिया कि यदि मैं सभा में जाऊँ तो गोली मुझे ही लगेगी ? सभा में मैं दिनकर के ही पास बैठूँगी ! मुझे गोली लगने की संभावना याने—

नहीं, नहीं !

पुलिस केवल सभा को तितर-बितर करना नहीं चाहती ! वह दिलीप को संसार से ही लंबा करना चाहती है।

जहाँ केवल थोथी प्रतिष्ठा के नाम पर एक रियासत के राजा की कन्या का बलिदान होता है वहाँ दिलीप जैसे ' बैरी ' के प्राणों की पर्वाह कौन करता ?

मैं पागल की नाईं घड़ी की ओर देखने लगी। मुझे आभास हो रहा था कि घड़ी के काँटे तेजी से भाग रहे हैं। साढ़े चार—पौने पाँच—पाँच ! अरी मैया री !

सभा छः बजे होने वाली थी। केवल एक ही घंटा बाकी था। साठ मिनट—उनसठ मिनट—जी चाहता था कि ऐसी ही दौड़ती जाऊँ और दिलीप को कहीं दूर—बहुत दूर छिपा कर रख दूँ !

पर क्या दिलीप मेरी बात मानेगा ? लड़ाई पर जाने वाले सैनिक को किसी के भी अश्रु नहीं रोक सकते। स्वयं बीमार होने पर भी उसने आज की सभा का आयोजन किया था। यदि मैं उससे कहने जाऊँ, " आज सभा में अनुपस्थित रहो " तो वह मेरी खिल्ली उड़ाये बग़ैर न रहेगा। कहेगा, "चाहे जितनी पढ़ी लिखी स्त्री क्यों न हो, स्त्रीकी भीरुता नहीं जाती।" और हँसते हँसते मेरे सामने ही दौड़कर सभा की ओर निकल जायेगा !

मेरा तो दिमाग़ काम न करता था !

मैंने घड़ी की ओर देखा। अब सवा पाँच बज चुका था।

मैंने गांधीका चित्र देखा। उनकी वह मुसकान ! उसका क्या मतलब हो सकता है ?

एकदम मुझे एक कल्पना सूझी ! मैंने जल्दी जल्दी से एक पत्र घसीटा—

" दिलीप,

मैं बिस्तरे से बँधी पड़ी हूँ। वापस आने के समय से मेरे हृदय में दर्द हो रहा है। मुझे एक घड़ी का भी विश्वास नहीं है! अंतिम इच्छा है कि एक बार तुम्हें देख लूँ! क्या अभी के अभी पाँच मिनट का समय निकालकर आ सकोगे? अभी आ सको तो ही—

आओगे?

मैं तुम्हारी राह की ओर आँख लगाये पड़ी हूँ!"

पत्र लेकर, नौकर को मैंने शीघ्र साइकिल पर से सभा की जगह जाने को कहा।

साढ़े पाँच बजा।

पाँच-पैंतीस—पाँच-चालीस—पलपल पर मेरा दम घुटा सा जा रहा था।

मानों मैं पानी में ही डूब रही थी। एक मिनट बीता—और एक गोता।

तरह तरह की आशंकाओं ने मेरे मन को घेर रखा था।

क्या नौकर की दिलीप से मुलाकात होगी? क्या इस धाँधली में दिलीप पत्र पढ़ेगा? या बिना पढ़े ही जेब में रख लेगा? कदाचित् पढ़कर फाड़ भी डालेगा।

और फिर? छः बजे सभा प्रारंभ होगी। तुरन्त—

बाहर साइकिल की घंटी बजी। मेरी पीठ से तो मानों चमक निकल रही थी। फिर भी मैं दौड़कर आगे बढ़ी।

मैंने पूछा, "अरे चिट्ठी दी?"

"जो साब।"

"कहाँ थे वे?"

"उनकी माँ बहुत बीमार थीं। मकान ही पर थे।"

दिलीप की माँ बीमार है यह सुनकर मुझे बहुत आनंद हुआ। अब उसे माँ के पास ही बैठा रहना पड़ेगा—और वह किसी भी तरह सभा में न जा सकेगा—

छिः!

कितनी पागल थी मैं! दिलीप का मन गढ़ते समय विधाता ने अपने पास केवल फूल की टोकरियाँ ही नहीं रखी थीं। उसने पहाड़ पर की पत्थर की चट्टानों का भी उपयोग किया था!

दिलीप का अपनी माँ से प्रेम था—अत्यंत उत्कट प्रेम था यह सच है।

किन्तु मातृभूमि पर उसकी भक्ति अधिक थी। उसकी कर्त्तव्य में अधिक श्रद्धा थी। मुझे तनिक भी संदेह न था कि माँ पल दो पल की मेहमान होने पर भी

वह ठीक छः बजे सभा की जगह पहुँचेगा। यदि किसी ने पूछा ही, तो वह हँसकर कहेगा, " मनुष्य की अमर माँ एक ही होती है—मातृभूमि ! "

घड़ी में पौने छः बज चुका था। मेरी छाती धड़कने लगी।

क्या दिलीप ने मेरे पत्र के टुकड़े टुकड़े कर हवा में बिखेर दिये होंगे ?

नहीं !

सुलोचना बहुत बीमार है इसलिये उससे मिलने के लिये वह हवा की तरह इस ओर दौड़ रहा होगा !

मैंने घड़ी में देखा—पाँच-सैंतालीस। धीरे धीरे आगे बढ़ने वाला वह क्रूर मिनट का काँटा ! मानों कराल काल का कदम ही था।

मैं न घड़ी की ओर देख सकती थी, न एक जगह बैठ सकती थी, न कुछ सोच ही सकती थी।

अस्वस्थ हो दीवानखाने में यहाँ वहाँ चक्कर काटने लगी।

एकदम मेरे रोंगटें खड़े हो गये। चक्कर काटते हुए मेरी दृष्टि एक चित्र पर पड़ी। वही क्रौंचवध का चित्र ! कितनी चाह से मैंने उसे खरीदा था ! नन्हे की मृत्यु के बाद वह मेरी दृष्टि में खटकता था इसलिये मैंने उसे दीवानखाने में टँगवा दिया था।

चित्र में की वह हताश तरुणी—खून से लथ पथ उस निर्जीव पक्षी को गोद में ले उस पर आँसू बहाने वाली वह असहाय बाला—उसमें मुझे मेरी ही झलक दिखाई पड़ी।

अब छः बजे किसानों की सभा शुरू होगी। कोई न कोई खुराफ़ात निकाल कर पुलिस गोली चला देगी। कोई विशेष राजभक्त अधिकारी खास तौर से दिलीप का निशाना पकड़—

मैं उस चित्र की ओर न देख सकी। उस खून से लथ पथ पक्षी की जगह मुझे दिलीप दिखाई देने लगा।

भयभीत हो मैंने मुँह फेर लिया। पर उस ओर वह दुष्ट घड़ी थी।

छः बजने में अब दस ही मिनट की देरी थी। किसी राक्षस के विकराल जबड़े की तरह वह घड़ी मुझे प्रतीत होने लगी। मेरा रोआँ रोआँ खड़ा हो गया। मैंने आँखें बंद कर लीं।

अब घड़ी केवल टिक् टिक् ही नहीं कर रही थी। उसमें से अब गोलियाँ बरस रही थीं–धाँय्–धाँय्— !

मैंने दोनों कान उँगलियों से बंद कर लिये।

मेरा शरीर पसीने से तराबोर हो रहा था। गला सूख रहा था। पैर काँप रहे थे।

क्या बजा है यह देखने के लिये मैंने आँखें खोलीं। किन्तु घड़ी की ओर देखना ही असंभव था।

मैं दीवानखाने के एक कोने की ओर देखने लगी। वहाँ सितार रखा हुआ था। विवाह के बाद मेरे बिना कहे ही भगवन्तराव यह बढ़िया सितार खास तौर से ले आये थे। उनकी इच्छा थी कि मैं कभी कभी उसे बजाया करूँ। किन्तु मैंने उसे एक बार भी न छुआ था। एक समय उनके बहुत आग्रह करने पर मैंने कहा था, "आज नहीं बजाऊँगी मैं !"

"फिर कब ?" उन्होंने हँसकर पूछा था।

"आपकी और मेरी खूब लड़ाई होगी तब— !"

"मतलब यह है कि तुम उसे कभी भी न बजाओगी !"

उनके प्रेम का वह आत्मविश्वास देख कर मैंने भी मन में कहा था, "सचमुच ! हम दोनों में कभी भी लड़ाई न होगी ! और फिर सितार बजाने का समय आयेगा ही क्यों ?"

किन्तु उनका मुँह बंद करने के लिये मैंने कहा था, "यह कोई जरूरी नहीं है ! अपना नन्हा बड़ा होकर डाक्टर बन कहीं दूर जाएगा। अपनी लाड़ली बिटिया का ब्याह हो, वह हमें छोड़ ससुराल जाएगी। फिर तुम और मैं–केवल दोनों ही घर में रहेंगे। उस समय मैं सितार हाथ में लूँगी !"

स्वप्न में स्वप्न देखा जाए उस तरह मेरी वह बातचीत थी।

कितने मीठे स्वप्न थे वे ! न जाने कहाँ हवा हो गये हैं ? फूल की महक जाती है, वहाँ ? संगीत के स्वर विलीन होते हैं, वहाँ ?

मेरे दिमाग़ में तूफ़ान मच गया। पास ही धाँय्—धाँय्–की आवाज़ निकल ही रही थी। वह सब का सब भूलने के लिये—

मैंने सितार निकाला। मेरी कल्पना थी कि सितार के तार मिलाते मिलाते मेरे मन की अस्वस्थता जाती रहेगी

किन्तु मेरा हाथ अब मेरा न रहा था।

तड़ से एक तार टूट गया। उस तार के करुण क्रंदन की प्रतिध्वनि मेरे मन में भी उतनी ही तीव्रता से उठी।

कुछ देर पूर्व दिलीप के यहाँ भेजा हुआ नौकर दौड़कर दरवाज़े में आया और बोला, "साहब आए हैं!"

साहब आए हैं?

बीच ही में भगवन्तराव कैसे आए? दिलीप को गोली लगी है यह बताने?

मैंने तुरन्त ही आगे बढ़ कर देखा।

फाटक के पास साइकिल रख दिलीप शीघ्रता से बँगले में प्रवेश कर रहा था।

आनन्द के हिंडोले पर बैठ मैं मन ही मन बहुत ऊँचे ऊँचे झूल रही थी। पर–दूसरे ही क्षण मेरा हिंडोला टूट गया। मेरा मन एक खाई में जा गिरा।

मैंने दिलीप को संदेसा भेजा था कि मैं बहुत बीमार हूँ। जिसके हृदय में बहुत दर्द हो रहा हो वह मनुष्य दीवानखाने में चक्कर काटता होगा या बिस्तरे पर पड़ा होगा?

दौड़ती ही मैं ऊपर मेरे कमरे में गई। यदि मेरी बीमारी का नाटक दिलीप को ज्ञात हुआ तो—

आए पाँव ही वह लौट जाएगा।

कुछ न कुछ कर घड़ी दो घड़ी उसे मेरे पास बिठाना ही होगा!

जल्दी जल्दी से कमरे का दरवाज़ा लगा मैं बिस्तरे पर जा गिरी।

धीरे से दरवाज़ा खोलकर दिलीप अंदर आया। वह दरवाज़ा खुला ही छोड़ रहा था। मैंने कराह कर कहा, "मुझे उजियाले से तकलीफ़ होती है। दरवाज़ा लगा दो!"

दरवाजा लगाकर वह आगे आया—ठीक मेरे पास।

मैंने आँखें बंद कर लीं।

कुछ काँपते हुए स्वर से उसने पुकारा, "सुलोच—"

उसके स्वर का कंप प्रतीत होते ही मेरा शरीर पुलकित हो उठा। वह कंप उसके हृदय के तारों का था। मानो भय से व्याकुल होकर प्रेम ही उन तारों से अपना मनोगत व्यक्त कर रहा था।

'सुलोच' एक छोटासा मामूली शब्द! बचपन से लाखों बार मैंने उसे सुना था। किन्तु उसमें कितनी माधुरी भरी हुई है यह अनुभव मैंने अभी ही किया।

मन कहता था कि आँखें खोल, दिलीप को गाढ़ आलिंगन दे, जी भर कर रोऊँ।

किन्तु आँखें खोलने पर यह संभव था कि मेरी कलई खुल जाए। बीमार की आँखें कुछ और ही दिखाई देती हैं। मेरी आँखें उस तरह कैसी दिखाई दे सकती थीं?

और फिर—मैं बीमार नहीं हूँ यह समझ यदि क्रोध से दिलीप चला जाता तो?

नहीं वह—

मैं निश्चेष्ट ही बिस्तरे पर पड़ी रही।

मेरे दाहिने गाल पर एकदम दो उष्ण बूंदें आ टपकीं।

दिलीप की आँखों में आँसू!

और वे मेरे गालों पर गिर रहे हैं।

नहीं! शायद मैं स्वप्न देख रही हूँ।

बड़े कष्ट से हाथ ऊँचा कर मैंने दायें गाल की ओर बढ़ाया।

आँसू ही थे वे!

और दिलीप के!

मेरे लिये उसकी आँखों में आँसू! उन्हें हृदय में जतन कर ही रखना चाहिये। कहते हैं कि स्वाती नक्षत्र की वर्षा के समय समुद्र की सीपों के मुँह खुल जाते हैं। उसी प्रकार मेरी सब भावनाएँ—

मैंने शीघ्र आँखें खोल दीं।

* * * *

दिलीप व्याकुल हो मेरी ओर देख रहा था। नन्हे से बच्चे को माँ की याद हो, और माँ उसे कहीं न दिखाई पड़े! ऐसी स्थिति में उसकी आँखों में जो असहाय करुणभाव दिखाई देता है वही दिलीप की दृष्टि में भी—

उसकी वे आँखें ठीक जैसी की तैसी आज भी मैं देख सकती हूँ। चित्रपट में मनुष्य का चेहरा चाहे जितना बड़ा दिखाई दे सकता है। उसी प्रकार उसकी वह अश्रुपूर्ण मुद्रा मुझे आज भी दिखाई देती है।

किन्तु उस समय का वर्णन—

मैं जब उसे लिखने लगती हूँ तो हाथ रुक जाता है!

कभी कभी खूब गरमी पड़ती है। आकाश मेघों से घिर अँधियारी छा जाती है। किन्तु किसी भी प्रकार पानी नहीं बरसता ! वही हाल मेरा हो रहा है। दिमाग़ में विचारों की बदली छाई हुई है, हृदय में भावनाओं का तूफ़ान मचा हुआ है। पर—

जब मैं रामगढ़ से यहाँ आई थी तब सोचती थी कि अपनी कहानी लिखना उपन्यास लिखने समान ही सहज है। किन्तु लिखते लिखते एक बात मैं अच्छी तरह जान चुकी हूँ—मनुष्य सौ सुंदर उपन्यास लिख सकता है। किन्तु आत्मचरित्र एक बार भी लिखना बड़ा दुशवार है।

(सौंदर्य की उपासना के सदृश सत्य की उपासना सुगम नहीं है।)

(हर मनुष्य का आत्मचरित्र एक उपन्यास ही होता है। किन्तु यह उपन्यास जिसका वही नहीं लिख सकता—और, दूसरा कोई, उसमें की कई बातें जान ही नहीं सकता।)

कितनी कितनी तैयारियाँ कर मैं लिखने बैठी थी। स्त्री–जीवन–विषयक कितने ही सुप्रसिद्ध उपन्यास मेरे सामने पड़े हुए हैं। 'पण लक्षांत कोण घेतो', 'मायेचा बाजार', 'सुशीलेचा देव', 'दौलत', 'विधवा कुमारी', 'मुकलेलें फूल', 'उल्का', 'भंगलेलें देऊळ'—

इन सारे उपन्यासों की नायिकाएँ पहले पहल मुझे निकट की मालूम होती थीं। मेरी कल्पना थी कि मुझ में और उनमें बहुत सी समान बातें हैं। यमुना, पद्मा, सुशीला, निर्मला, मथुरा, कृष्णा, उल्का, अनू—मेरे समान ये सब भी पिंजरे में बंद थीं। हो सकता है कोई पिंजरा बड़ा हो कोई छोटा। किसी का द्वार रूढ़ी ने बंद किया हो, किसी के पिंजरे का रास्ता व्यसनी पति ने रोक रखा हो, और किसी पिंजरे को विपरीत परिस्थिति ने बंद कर रखा हो। किन्तु इन सभी के कष्ट, सभी का सिर पटकना, केवल एक ही बात के लिये था। अपने अपने पिंजरे से बाहर निकलने के लिये !

अभी अभी तक मैं भी यही सोचती थी कि उनके समान मैं भी पिंजरे में ही हूँ। मेरी कल्पना थी कि मेरी कहानी भी उन जैसी ही है। किन्तु आज—

आज मैं स्पष्ट देख रही हूँ! मैं स्वतंत्र हूँ, पिंजरे के बाहर हूँ। फिर भी—

मेरा विवाह कुछ वैदिक रीति से नहीं हुआ है। दिलीप से मुझे प्रेम है यह कह मुझे भगवन्तराव से तलाक़ मिल सकता है। उस दिन सभा के समय लोगों

को उभाड़ने के लिये दिलीप सभा में ही न था, उस समय वह हमारे बँगले में, मेरे कमरे में, मेरे बाहुपाश में था, यह सच बात बता कर मैं उसे छुड़ा सकती हूँ—

पर क्या मैं यह साहस कर सकती हूँ?

यह सच है कि मैं पिंजरे के बाहर हूँ। पर मैं बाहर पिंजरे के पास ही गिरी पड़ी हूँ। मेरे पंख कटे हुए हैं। उड़ना चाहती हूँ, पर उड़ नहीं सकती। आकाश का नीला रंग मुझे पुकार रहा है, वाटिका की हरियाली लहरा लहरा कर मुझे बुला रही है। पर—

मेरे पंख कटे हुए हैं।

मैं यह नहीं जानती कि उन्हें किसने काट डाला है, न मुझे यही याद है कि वे कब काटे गये हैं।

किन्तु मैं उड़ नहीं सकती—पंख भी फड़फड़ा नहीं सकती।

दिलीप, तू आसमान में स्वच्छंद विचरने वाला गरूड़ है। पंख कटी हुई मेरी जैसी पक्षिणी से प्रेम करने का तुझे क्या अधिकार है?

क्या कहा? "कटे हुए पंख फिर आ जाते हैं!"

यह प्रो. फड़के का "दौलत"—यह खांडेकर का "हिरवा चाफा"—यह—

मैं सोचती थी कि इन सब उपन्यासों का मुझे उपयोग हो सकेगा। लिखते समय मैंने किसी की भाषा, किसी के अलंकार, किसी की और किसी बात का अनुकरण किया होगा। पर—

ये सब उपन्यास यह अंतिम दृश्य लिखते समय मुझे झूठे मालूम हो रहे हैं। प्रो. फड़के की निर्मला—खांडेकर की सुलभा—

उनका प्रेम सफल हुआ था। मेरे जैसा विचित्र अनुभव उनके जीवन में आया ही न था!

श्रीमान् धनंजय को छोड़ अविनाश की ओर आकृष्ट होनेवाली निर्मला और एक जागीर के उत्तराधिकारी होने वाले विजय को झझकार निर्धन मुकुंद से एकनिष्ठ प्रेम करने वाली सुलभा—क्या ये घर घर दिखाई देने वाली लड़कियाँ हैं?

यदि ऐसा होता तो मैं भी भगवन्तराव की याचना को नकार दे दिलीप को

ढूँढ़ने उत्तर-भारत में अवश्य निकल जाती। बहुत सुंदर उपन्यास बनता वह! फिर उसमें काश्मीर का सृष्टि-सौंदर्य वर्णन करने के लिये पर्याप्त जगह मिलती!

पर—

दिलीप का आकर्षण होते हुए भी मैंने भगवन्तराव से विवाह किया। मैं दिलीप को चाहती थी—पर उसकी दरिद्रता मुझे पसंद न थी—उसका अनिश्चित जीवन मुझे सम्मत न था।

और इस समय?—आज?

मैं भगवन्तराव को चाहती हूँ। पर उनकी गुलामी वृत्ति से मुझे घृणा है! अपनी बुद्धिमानी का संसार के बाज़ार में नीलाम पुकारने वाला मनुष्य! छिः! वह मनुष्य कहाने योग्य ही नहीं है!

समाज की दृष्टि से मैं भगवन्तराव की हूँ, मन से दिलीप की।

नहीं, मैं केवल भगवन्तराव की नहीं हूँ, न अकेले दिलीप की ही। मुझ पर मेरे बालक का अधिकार है!

दिलीप को छुटकारा मिलने के लिये यदि मैं अभी के अभी दौड़ कर रामगढ़ जाऊँ और उस दिन का सच्चा हाल राजासाहब को कह सुनाऊँ तो—

समाज की दृष्टि-से मुझे कलंक का टीका लगेगा। भगवन्तराव फिर मेरा मुँह भी न देखेंगे। कल मेरे पेट से जन्मने वाले बच्चे को जब यह कलंक मालूम होगा तो वह क्या सोचेगा?

नहीं, नहीं!

मेरे बच्चे का अस्तित्व किसी को भी ज्ञात नहीं है। किन्तु केवल उसी के लिये मुझे चुप रहना चाहिये। यह आवश्यक है कि मैं समाज में भगवन्तराव की पत्नी के नाते ही जीवित रहूँ।

और यदि मैं चुप रहूँ तो दिलीप को कौन बचा सकता है? इस बारे में भगवन्तराव ने भी मौन धारण कर रखा है। और दिलीप ने तो अदालत में यह तक नहीं बताया कि सभा के समय वह दूसरी जगह था।

दिलीप, मेरी इज्ज़त के लिये तुम हँसते हँसते अपना बलिदान करोगे? नहीं, नहीं, दिलीप! तुमने अदालत में यह क्यों नहीं बताया कि उस समय तुम कहाँ थे? इज्ज़त—प्रतिष्ठा—समाज क्या कहेगा—इन सब बातोंसे डरकर क्या मैं दिलीप को बलि चढ़ने दूँ? हे ईश्वर—

मेरी समझ में उल्का एक दुर्बल मनोवृत्ति की स्त्री थी। किन्तु मेरी परीक्षा का समय आते ही मैं उससे भी अधिक दुर्बल सिद्ध हो रही हूँ। मैं दिलीप को चाहती हूँ। पर यह खुली तौर से क़बूल करने को मैं तैयार नहीं हूँ कि मुझे दिलीप से प्रेम है!

क्या मुझ जैसी ढोंगी और कोई हो सकती है?

क्या ईश्वर ने स्त्री-जाति को दुर्बलता का शाप ही दे रखा है?

कोई भी स्त्री अपना सच्चा सच्चा आत्मचरित्र नहीं लिख सकती, यही सच है। उसका शरीर एक का होता है, मन से वह दूसरे की ही ओर आकृष्ट होती है। क्या प्रकृति का यही विधान है कि स्त्रीका अंतःकरण अनेकों द्वंद्वों के रुधिर से सिंचित हो? शारीरिक प्रेम और मानसिक प्रेम, प्रेम और व्यक्तिमत्ता, वात्सल्य तथा ध्येयवाद, सुन्दरता और सत्य, सुख और त्याग—

कोई मनुष्य नदी के प्रवाह में गिरे। वहाँ बड़े बड़े भँवर देख कर ही उसके हाथ पैरों की ताक़त जाती रहे! वही, ठीक वही हाल हो रहा है मेरा!

* * * *

गत जीवन का यह चित्रपट मैं क़रीब एक मास से लिख रही हूँ। पर एक बार लिख चुकने पर फिर पढ़ने का साहस मुझे नहीं होता। बुखार बहुत बढ़ने पर सन्निपात में मनुष्य न जाने क्या क्या बड़बड़ाने लगता है! पता नहीं मैं भी ऐसी ही कुछ लिख रही थी क्या!

बस अब चित्रपट यहीं बंद कर दूँ। सोचती हूँ लिखा हुआ सब फाड़कर फेंक दूँ।

पर—

वह अंतिम दृश्य तो अधूरा ही है!

दिलीप की आँखों से कुछ आँसू मेरे गालों पर गिरे और मैंने आँखें खोलीं।

वह केवल एकक्षण मुझसे मिलने के हेतु आया था। उन्हें इस बात का पता था कि सभामें गोली चलने वाली है। इसीलिये मेरे बीमार होते हुए भी भगवन्तराव बाहर कैसे गये इसी बात पर उसे आश्चर्य हो रहा था। वह मुझे धीरज बँधा रहा था। कह रहा था कि सभा समाप्त होने पर फिर से आएगा। पूछ रहा था कि क्या

डा. भगवन्तराव को बुलावा भेजा जाय । मैं केवल इसी में व्यग्र थी कि 'हाँ' 'नहीं' के सिवाय और कोई शब्द मेरे मुँह से न निकलें ।

कर्र—कर्र—कर्रर्र—

एकाएक बाहर मोटर आ खड़ी हुई । मुझे विश्वास था कि दिलीप के मित्र जल्दी जल्दी उसे सभामें ले चलने के लिये आए होंगे । दिलीप भी यही समझा था ।

ज़ीने पर पैरों की आहट सुनाई पड़ी । मेरे हृदय की धड़कन बढ़ने लगी । मैंने अपने मन में निश्चय कर रखा था कि चाहे जो हो दिलीप को न जाने दूँगी ।

पैरों की आहट पास पास आने लगी ।

' अरी मैया री ' कह, दोनों हाथ छाती पर रख—मानो मैं हृदय को पकड़ रखना चाहती थी, मैं आर्त स्वर से चिल्ला उठी ।

दिलीप एकदम मेरी ओर मुड़ा ।

मैंने तीव्र वेदनाओं से व्याकुल होने का ढोंग रचा रखा था । इसलिये कि दिलीप कुछ देर ठहर जाय । मैंने उसके दोनों हाथ मेरे हाथों में जकड़ रखे ।

सहसा दरवाज़ा खुला ।

भगवन्तराव दरवाज़े में खड़े थे ! ' हे भगवान् ' मानो किसी ने मेरा गला घोंट दिया हो ऐसे विचित्र स्वर से मैं ज़ोरसे चीख पड़ी और दिलीप के गले से लिपट गई ।

मुझे पता नहीं उसके बाद क्या हुआ ।

मेरी आँख खुली तब दिलीप मेरे पास बैठा हुआ था । उसकी घड़ी में साढ़े छः बज चुके थे । दरवाज़ा बंद कर भगवन्तराव कब के जा चुके थे ।

जब मैं होश में आई तो अपना मुँह दोनों हाथों में छिपा, दिलीप सद्गदित कंठ से कह रहा था, " सुलोच, मैंने कई बार किताबों में पढ़ा है कि (प्रणय और कर्त्तव्य की प्रायः दुष्मनी होती है।) किन्तु इन शब्दों का अर्थ आज मैं स्वानुभव से समझा । "

उसका हाथ मेरे हाथ में था । तुरन्त उसे छुड़ाता हुआ वह बोला, " सुलोच, तुमने ग़ज़ब कर दिया ! "

ঌ ঌ ঌ ঌ

अचानक काँच का टुकड़ा जिस तरह पैर में घुस जाता है उसी तरह उसके शब्द मेरा हृदय काटते हुए प्रतीत हुए।

पर वे अक्षरशः सच थे।

मेरे सामने पड़ा हुआ यह तार—नहीं तार के वे शब्द मैं फिर से पढ़ ही नहीं सकती! इतनी हिम्मत कहाँ से लाऊँ?

पर अशुभ न पढ़ने से होनहार टलता थोड़े ही है!

दिलीप को फाँसी की सज़ा हुई थी।

अंधकार—अंधकार—अंधकार

इस अँधेरे में एक ही आशा का दीप! पर वह भी टिमटिमाता हुआ! कहते हैं कि राजासाहब दिलीप का बयान फिर सुनने वाले हैं। किन्तु दिलीप ने तो एक ही वाक्य रट रखा था। उसे ही वह इन दिनों जप रहा था। "मैं निर्दोष हूँ।" अब राजासाहब के सामने दिलीप क्या कोई नई कैफ़ियत पेश करेगा? कल ही सबेरे अखबारों में राजासाहब की न्यायप्रियता की प्रशंसा में तारीफ़ के पुल बँध जाएँगे।

और एक दिन सबेरे—रामगढ़ के जेलखाने में—मेरा दिलीप—

और क्या लिखूँ?

आँखें डबडबा आती हैं। अँधियारी छा जाती है। लिखने को कागज़ ही नहीं दिखाई देता।

दिलीप, हो सकता है प्रेम पातकी है। पर भूलकर भी उससे सर्वनाश नहीं हो सकता। तुम्हारी दी हुई नमक की पुड़िया! अभी तक मेरे पास है। तुमने दी हुई महात्माजी की तसवीर आज भी मेरे सामने हँस रही है। उस तसवीर के बारे में उस लड़के ने तुमसे बहुत से प्रश्न किये थे। उनके उत्तर मुझे अभी तक नहीं सूझे हैं? किन्तु—

पिताजी सितार बजा रहे हैं। उनका प्रिय भजन—'इस तन धन की कौन बड़ाई'

आज पिताजी इतने बेसुरे क्यों बजा रहे हैं? क्या इसलिये वे अब बूढ़े हो चले हैं? या—

दिलीप ने दी हुई यह खलील गिब्रान की किताब—'पागल'!

यह इकसठवाँ पन्ना। एक वाक्य के नीचे दिलीप ने लाल पेंसिल की रेखा खींची है।

" *Then we left that sea to seek the Greater Sea.* " "यह संकुचित समुद्र छोड़ फिर हम महासमुद्र की खोज में निकले।"

दिलीप, तुम महासागर की ओर जा रहे हो!

और मैं?

३

और मैं ?

उस प्रश्नार्थक चिह्न के पास ही स्याही का एक बड़ासा धब्बा पड़ा हुआ था।

और आगे ?

दादासाहब ने शीघ्रता से अगले अनेकों पन्ने उलट देखे। सब कोरे के कोरे ही थे। सुलोच ने 'और मैं ?' के आगे एक शब्द भी न लिखा था।

कितनी ही देर तक दादासाहब उस प्रश्नार्थक चिह्न की ओर देखते ही रहे। सिनेमा में पहले छोटी दिखने वाली आकृति पास पास आते ही जैसे बढ़ती जाती है ठीक उसी तरह वह प्रश्न चिह्न विशाल सा बनता हुआ उन्हें प्रतीत हुआ। हँसिये सदृश वह आकृति वे न देख सके। उन्होंने आँखें बंद कर लीं।

उनकी बन्द आँखों के सामने एक नई समस्या उपस्थित हुई। —सुलोच कहाँ गई होगी ?

रामगढ़ ?

किसलिये ? दिनकर को छुड़ाने ? पर उसे छुड़ाते छुड़ाते वह आपना ही गला फँसा लेगी। क्या वह यह स्पष्टतया क़बूल कर सकती थी कि सभा के समय वह दिनकर के साथ अकेली ही वार्तालाप कर रही थी ? ऐसा करना उसके सांसारिक सुख का नाश करना ही था।

नहीं ? यदि वह इतने अविचार से काम लेने लगी तो उसे बचाना क्या मेरा कर्त्तव्य नहीं है ?

अविचार ?

(एक निर्दोष व्यक्ति के प्राण बचाने के लिये सत्य-कथन अविचार है या सुविचार ?)

दादासाहब का बुद्धिवादी मन ऐसा करने को अविचार कैसे कह सकता था ?

पर वे मन ही मन खीझ रहे थे और कह रहे थे—यदि सुलोचना दिनकर से प्रेम ही न करती तो इस झंझट से अवश्य बच जाती।

दूसरे ही क्षण वही मन कहता—किसी से प्रेम करना न करना यह अपने हाथ की बात थोड़े ही होती है। प्रेम और कविता दोनों एकसे ही हैं। दोनों ही निश्चय और तैयारी से नहीं बनते। बारह से सत्रह वर्ष की अवस्था तक सुलोचना दिनकर के ही सहवास में थी। उस सहवास का संस्कार एक दूसरे के मन पर गहरा हुआ हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? यदि दिनकर ने फिर सुलोचना के जीवन में प्रवेश न किया होता तो शायद उसे उसकी याद भी न आती। और आती भी तो शैशव की मुग्धावस्था का एक मधुर स्वप्न इससे अधिक महत्त्व उस स्मृति को सुलोचना ने न दिया होता।

क्या हुआ होता इसकी अपेक्षा क्या होनेवाला है इसका विचार पहले करना चाहिये, ऐसा मन ही मन कहते, खिन्नहृदय दादासाहब कुरसी से उठ बैठे। पर उनका पैर आगे न बढ़ता था। प्रायः गतप्राण से उनके गात्र निर्बल एवँ निश्चल हो गये थे।

उन्होंने घड़ी देखी। कालिज जाने का समय हो रहा था। अब कहीं उन्हें स्मरण हुआ कि उन्होंने सबेरे दूसरी बार चाय भी न ली थी। "शायद बाबूलाल साढ़े आठ बजे चाय लेकर आया होगा। पर मुझे पढ़ने में मग्न देख चुपचाप लौट गया होगा।"

मेजपर सुलोच की वह मोटी से कापी पड़ी हुई थी। उसमें का वह प्रश्नार्थक चिन्ह घूर घूर कर दादासाहब की ओर देख रहा था।

उन्होंने एक विचित्र दृष्टि से कापी की ओर देखा। उनकी दृष्टि ऐसी थी मानो उनकी स्मृति ही नष्ट हो गई हो। उस कापी के पन्नों में से बोलनेवाली वह सुलोचना ! छिः ! वे उसे पहचान भी न पाते थे। जो बातें सच समझ सुलोचना उन्हें बता रही थी वे उन्हें कपोलकल्पित उपन्यास की तरह प्रतीत हो रही थीं। उनके हाथ के नीचे पलकर बड़ी हुई सुलोचना, जिससे वे पच्चीस साल से परिचित थे

वह बुद्धिवादी सुलोचना, कापी की इस सुलोचना से बिलकुल भिन्न थी। उसके दिमाग़ में कभी ऐसा पागलपन प्रवेश करेगा यह—

हवा के झोंके से नोटबुक के पन्ने फड़फड़ाने लगे। शायद सुलोचना ही कह रही थी—पिताजी ज्वालामुखी पर्वत के ऊपरी धरातल पर यद्यपि अंगूर के बगीचे हों फिर भी अंतस्तल में आग धधकती रहती है। मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। बाहरी संसार को पता भी नहीं ऐसे अनन्त सुख, मधुरतम स्वप्न, और आशाएँ उसके अंतरुद्यान में फूलती रहती हैं और उन्हीं के साथ हृदय में असंख्य दुःख और निराशाएँ दहकती रहती हैं।

नोटबुक के पन्नों की वह फड़फड़ाहट दादासाहब को अत्यंत कर्णकठोर प्रतीत हुई। जैसे कौओं की काँव काँव ही।

वे कुछ नीचे झुके और उन्होंने नोटबुक बंद कर दी।

नोटबुक के पास ही मेज़ पर वह नमक की पुड़िया खुली पड़ी थी। उसी पर उनकी नज़र रुकी हुई थी। बारह वर्ष पूर्व शिरोड़ा से दिनकर वह पुड़िया भर नमक लाया था! पर सुलोचना ने प्राण से भी प्यारा समझ उसे सँभाला था। नमक के कण चमक रहे थे। क्या कह रहे थे वे ?

दादासाहब को मालूम हुआ कि मानो वे कण बुद्धिवाद की डींग हाँकनेवाले उनके मन की ओर उपहासपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं।

सहसा उन्हें सुलोचना के लिखे एक वाक्य की याद हो उठी। उसने दिनकर को बचन दिया था कि यह नमक जन्मभर जतन कर रखेगी। फिर यह पुड़िया यहाँ छोड़ वह कहाँ चली गई ? क्या आत्महत्या का विचार निश्चित कर तो वह—

दरवाज़े की घंटी बजी। उनका जी न चाहता था की कमरा छोड़ कहीं जायँ।

बाबूलाल तार का एक लिफ़ाफ़ा ले अंदर आया। पर दादासाहब को दस्तख़त करने का नम्बर ही जल्दी न मिलता था। किसी तरह दस्तखत कर उन्होंने कागज़ बाबूलाल के हवाले किया। उसे लेकर बाबूलाल बाहर चला गया।

कुछ क्षण इसी उधेड़बुन में बीते कि तार खोलें या न खोलें। उनके उदास चेहरे पर चिन्ता की भी रेखाएँ खिंच गईं। अंत में कँपकँपी भरे हाथों से उन्होंने तार खोला।

तार भगवन्तराव का था। उन्होंने लिखा था—"सुलोचना अभी तक नहीं आई। मैं बहुत बीमार हूँ। उसे लेकर तुरन्त आइये।"

ज़ख्म में धक्का लगने से जिस तरह फिर से खून बह निकलता है वही हाल दादासाहब का था। उन्हें कुछ भी–न सूझता था।

भगवन्तराव बीमार हैं। मुझे अभी के अभी रामगढ़ जाना चाहिये। पर सुलोचना के बग़ैर मैं वहाँ जाकर क्या करूँगा? जब भगवन्तराव पूछेंगे कि वह कहाँ है तब मैं क्या जवाब दे सकूँगा?

भगवन्तराव की बीमारी क्या है? इतने दिनों तक उन्होंने बीमार होने की वार्त्ता मुझे या सुलोचना को क्यों नहीं लिखी?

क्या पता, सुलोचना को लिखा भी हो? और उस पगली ने मुझ से छुपा रखा हो?

मेज़ पर पड़ी हुई कापी में का वह अंतिम दृश्य दादासाहब की आँखों के सामने आ झलका। सभा के समय बीमारी का स्वाँग भर सुलोचना ने दिनकर को अपने बँगले पर बुलाया। जब बँगले के बाहर एकदम एक मोटर ठहरी तब वह समझी कि दिनकर को लेने उसके साथ के कार्यकर्त्ता आए होंगे। जब भगवन्तराव ने दरवाज़ा खोला तब उसने दिनकर के दोनों हाथ अपने हाथों में जकड़ रखे थे। और भगवन्तराव को देखते ही वह घबराकर दिनकर के गले से लिपट गई।

छिः छिः!

वह चित्रपट देखना उन्हें असह्य हो उठा। उनके क्रोध का ठिकाना न रहा।

बचपन में उन्होंने सुलोचना को कभी पीटा न था। एक समय एक महत्त्व के लेखपर स्याही गिरा देने के कारण उन्होंने ज़रा ज़ोर से एक चपत उसके गालपर जमा दी थी। फिर कई बार स्वप्नमें उस कोमल गाल पर उपटी हुई पाँचों अंगुलियाँ उन्हें दिखाई देती रहीं। ख़ूनी को अपना ही ख़ून भरा हाथ बार बार दिखाई देता है। वही आभास दादासाहब को भी हुआ करता था। उसके बाद उन्होंने उसे मारने के हेतु कभी हाथ नहीं उठाया।

किन्तु इस समय वे मारे गुस्से के सुध बुध सी भूले जा रहे थे। उनका मन कह रहा था—सुलोचना इस समय सामने होती तो दो चार तमाचे ज़रूर जमा देता। अपना पेट काट कोई माँ अपनी बच्ची को बढ़िया जार्जेट की साड़ी खरीद दे और बच्ची बेसुध तौर से आग से खेल तुरन्त उसमें छेद कर ले। ठीक इसी तरह सुलोचना का व्यवहार था। एक बेमाँ की बच्ची है इसलिये कितनी चिंता और लाड़ से मैंने उसे पाला। जिस दिन भगवन्तराव से उसका विवाह होना निश्चित

हुआ उस दिन मेरी एक आँख में वियोग–दुःख के और दूसरी आँख में आनन्द के आँसू बह रहे थे। सुलोच—मेरी बच्ची सुख में है केवल इसी कल्पना के बल पर मैंने अपना अकेलापन, और बुढ़ापे की छाया के कारण आनेवाला दुबलापन—दोनों को भूलना सीखा।

किन्तु—

मेरे सुख की वह अट्टालिका, वह प्रासाद—जिसे मैं संगमरमरी समझता था—आज–आज मुझे वह ताशों का एक बँगला प्रतीत हो रहा था।

भगवन्तराव ने इस बारे में मुझसे भूलकर भी कुछ कैसे नहीं कहा? वह बेचारा क्या कहता?

दिनकर के गले पड़ने वाली सुलोचना को देखकर भगवन्तराव ने क्या सोचा होगा? इस बात से उनके हृदय को गहरी चोट पहुँची होगी! उनकी बीमारी भी शायद इसी प्राण–घातक आघात से उत्पन्न हुई हो!

वहाँ भगवन्तराव इतने बीमार थे। और यहाँ यह कुलच्छनी अपने जीवन की कहानी लिखती बैठी थी—दिनकर के चुम्बन का उसे कितना मोह हुआ था इसका वर्णन नमकमिर्च लगाकर कर रही थी!

छिः! इस लड़की ने तो मेरे मुँह में कालिख ही लगा दी। आज तक मैं दरिद्रता, संकट, मृत्यु, और अपढ़ एवँ निर्बुद्ध दुनिया—सब से झगड़ता आया—और हमेशा मेरा मस्तक उन्नत ही रहा। वही मस्तक अब मुझे झुका देना पड़ेगा। दिनकर को बचाने के लिये ही सुलोचना गई होगी। इस नोटबुक में लिखी हुई सारी की सारी बातें कल वह खुले आम राजासाहब से कहेगी—वे बातें सारे संसार में प्रकाशित होंगी और फिर सारा संसार कौए की नजर से मेरी ओर देखेगा।

इन सब विचारों ने दादासाहब को अस्वस्थ बना दिया। उन्होंने निश्चय किया कि सुलोच नाम की मेरी लड़की है यह भूल जाऊँ और शांत चित्त से नित्यप्रति के कार्य में लग जाऊँ। इस निश्चय से वे कमरे से बाहर आये।

अपने कमरे में आकर उन्होंने प्रिंसिपल साहब को लिखा, "आज मुझे कालिज आने में देरी होगी।" वह चिठ्ठी कालिज में दे आने के लिये उन्होंने बाबूलाल को भेज दिया।

जब बाबूलाल चिठ्ठी देने चला गया तब दरवाजे से मुड़कर उन्होंनें क्या बजा है

यह देखने के लिये दीवार की घड़ी की ओर देखा। पर उनकी दृष्टि घड़ी के बजाय पास ही की पत्नी की तसवीर पर पड़ी। पत्नी के ओंठ—

उनका मन बोल उठा—सुलोचना के ओंठ भी इसी ढंग के हैं। उसकी मुस्कान भी माँ जैसी ही है।

कमरे के सारे दरवाजे बंद करने पर भी दरवाजे के सूराख में से कुछ ठंढ़ी हवा आ ही जाती है। सुलोचना के बारे का यह विचार उसी तरह था। उसे भूलने का फिरसे निश्चय कर ने मेज़ के पास आए।

वे सोचने लगे—आज का कालिज का काम—उन्होंने उत्तरराम उठा लिया। निशान लगा हुआ पन्ना खोल उन्होंने झट पढ़ना प्रारंभ किया।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्

—वही क्रौंचवधवाला श्लोक!

उन्होंने हाथ में ली हुई किताब बंद कर दूर फेंक दी। यह सच था कि वही श्लोक उन्हें एक कक्षा में पढ़ाना था। किन्तु श्लोक देखते ही उनके सामने दिनकर और सुलोचना की मूर्तियाँ खड़ी हुई।

मानो करुणदृष्टि से सुलोचना कह रही थी—'दादा, दादा, मेरे दिलीप पर कोई दुष्ट मनुष्य बाण छोड़ रहा है। दिलीप को बचाइये—उस दुष्ट को रोकिये—धनुष पर का उसका हाथ हटाइये—'

यह क्या? फिर सुलोचना की याद! वह तो परछाई बन उनके पीछे ही लगी थी।

दादासाहब कुछ चिढ़ से गये। कमरे की छत में किसी एक कोनटे में चिड़ियों न घोंसला बनाया हो। हवा के झोंके से उसमें से सूखी हुई घास, कपास, कूड़ा इत्यादि किसी के सिरपर गिरने से मनुष्य झुँझला उठता है ना? बस उसी तरह।

जीवन में कई बार उन्होंने मनोवेदना का पटल दूर करने के हेतु श्रीमद्भगवद्गीता का सहारा लिया था। विद्यार्थीजीवन में अधपेट रह पढ़ाई करने के समय गीता के श्लोकों के गुनगुनाने ने ही उन्हें धीरज दिया था। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् गीता के श्लोकों ने ही उनके शोकावेग को रोका था। आज भी वही गीता मन की चंचलता को दूर हटाएगी। इस विचार से उन्होंने हाथ बढ़ा कर अलमारी में से एक बड़ा सा ग्रंथ उठाया।

श्रीमद्भगवद्गीता ही थी वह। इस ग्रंथ का संपादन उन्होंने स्वयं किया था। उनकी विद्वत्ता का गौरव किसी धनिक गुजराती सेठ तक पहुँचा था। उसने ही उन्हें यथोचित पुरस्कार दे उनसे यह काम कराया था।

गीता के पन्ने उलटते उलटते भी उन्हें अनेक बातें याद आईं। उषा के पूर्व अँधेरे में धीरे धीरे प्रकाश प्रवेश करता है—बस वैसे ही।

जिस दिन वे गुजराती सेठजी प्रथम मुझसे मिलने आये थे उसी दिन दिनकर हमारे यहाँ रहने आने वाला था। किन्तु उस दिन वह न आ सका। उसे एक दिन की देर हुई। उसकी माँ बीमार थी—

दिनकर—सुलोचना का दिलीप—सुलोचना—

फिर सुलोचना ?

गीता अलमारी में रख वे जल्दीसे अपने सितार की ओर मुड़े। शराबी अपने मन का बोझ हलका करने के लिये मदिरा का आश्रय लेता है। उसी तरह दादा-साहबने निश्चय किया कि स्वरलहरों का जी भर आस्वाद लें और नादब्रह्म में अपने आप को भूल जाएँ।

सितार के तारोंपर उनकी अंगुलियाँ क्रीड़ा करने लगीं—दिड्—दिड्—दिड्—

हठात् उनकी दृष्टि दरवाज़े की ओर गई। सितार के स्वर कानपर आते ही सुलोचना इसी दरवाज़े से अपने नन्हे नन्हे पैरों से दौड़कर आती थी। जब वह चूमा न देती थी तो उसे फँसाकर प्यार लेने के लिये वे यहीं सितार बजाते—

जिस दिन सुलोचना से विवाह करने की इच्छा भगवन्तराव ने प्रदर्शित की थी उस दिन का दृश्य उनके सामने आ खड़ा हुआ।

भगवन्तराव ने कहा था "सुलोचना के ससुराल जाने पर आपको कुछ दिन चैन न आएगा।"

मैंने कहा था, "मेरी एक और भी तो कन्या है?"

"कौनसी?" उन्होंने हँसते हुए पूछा था।

मैंने कुछ न बोल, चुपके से सितार उठा, उसे बजाना प्रारंभ कर दिया था।

उन स्मृतियों के कारण उनकी आँखों में आँसू आ गये। दुःखी अंतःकरण से उनकी भारी अंगुलियाँ सितार पर गिरने लगीं। कौन से स्वर बज रहे हैं इसका पता उन्हें भी न था। एक के बाद एक करुण स्वरों की माला सी गुँथ रही थी। मानों आक्रोश कर सितार कह रहा था, "मेरी बहन कहाँ है मुझे बताइये? यहाँ

क्या बैठे हैं आप ? चलिये उसे ढूँढ़ निकालिये। उसके आने पर मैं मधुरतम स्वरों की समा बाँध दूँगी। उसके पहिले नहीं।"

अंत में उन्होंने सितार नीचे रख दिया। अभी उन्होंने स्नान भी न किया था। आज मालिक की तबियत ठीक नहीं है यह समझ रसोइये ने अभीतक यह भी नहीं बताया था कि खाना तैयार है।

फिर उन्होंने तसवीर की ओर देखा। पत्नी भी कह रही थी, "सुलोचना को खोज निकालिये। मृत्युपूर्व की बीमारी में मेरे प्राण सुलोचना के लिये अटके से जाते थे। उस समय आपने मुझे दिलासा दिया था। आपने मुझे वचन दिया है कि सुलोचना के सारे अपराध क्षमा करूँगा। चलिये सुलोचना को ढूँढ़िये!"

दादासाहब फिर सुलोचना के कमरे में गये। सुलोचना की उस मोटी सी किताब के पास ही भगवन्तराव का तार पड़ा हुआ था। उन्होंने उसे उठाकर फिरसे पढ़ा।

वे सहम से गये।

भगवन्तराव बीमार हैं। सुलोचना उनके पास नहीं है। इस समय उनकी पूछताँछ करने के लिये जाना नितान्त आवश्यक है। दोपहर को दो बजे की गाड़ी है। वह साढ़े नौ बजे रामगढ़ पहुँचती है। पहुँचने दो। इसी गाड़ी से चलना चाहिये। सुलोचना की यह 'कहानी' भी साथ रहने दो। शायद भगवन्तराव को दिखाना पड़े।

मेज़पर से नोटबुक उठाते समय उन्हें पास ही का गांधीजी का चित्र दिखाई पड़ा। चित्र में की उनकी मुसकान—मानो गांधीजी हँसकर उनसे कह रहे थे—"प्रोफेसरसाहब, शोक करना वृथा है। थोड़ी प्रार्थना कीजिये। हाँ कहिये—'वैष्णव जन तो'—"

दादासाहब ने गांधीजी को कभी नहीं देखा था। हाँ, उनके सविनय-अवज्ञा के आंदोलनों–के समय चरखा, असहयोग और तत्सम आंदोलनों पर खूब जी भर कर आलोचना की थी।

किन्तु इस समय चित्र देखते देखते उन्होंने सोचा, "गांधीजी की मनोहर मुसकान में अवश्य एक जादू है। कम से कम एक बार अवश्य उनसे मिलना चाहिये! कुछ देर उनसे वार्तालाप करना चाहिये।"

सुलोचना की किताब में के वे चार प्रश्न—एक निर्बोध बालक ने गांधीजी के बारे में दिनकर से पूछे हुए—वे उन्हें ज्यों के त्यों याद आये।

क्या गांधी बाबा बूढ़े हैं ?

वे क्यों हँस रहे हैं ?

क्या उनका कोई बगीचा है ?

उनके बदन पर कमीज़ क्यों नहीं है ?

दादासाहब हँसकर अपने आपसे बोले, " ठीक महाभारत के यक्षने पूछे हुए प्रश्नोंसमान हैं ये प्रश्न । "

दादासाहब जब कालिज पहुँचे उस समय प्रिंसिपल साहब अपने कमरे में ही थे। दादासाहब को देख वे बोले, " आज के दिन आपने आराम किया होता तो अच्छा होता।"

प्रिंसिपल साहब यह समझ बैठे थे कि तबियत खराब होने के कारण दादासाहब ने चिट्ठी भेज दी थी और कुछ आराम होते ही वे कालिज आ पहुँचे थे । भला दादासाहब इस बात से पुलकित क्यों न होते ? वे दिल खोल कर हँसे ।

प्रिंसिपलसाहब आदर से उनकी ओर देखते हुए बोले, " दादासाहब, आप जैसे सहकारियों की सामर्थ्य पर ही पिछले बीस वर्षों में कालिज को गौरव और मान का स्थान प्राप्त हुआ है। कई लोगों का आक्षेप है कि लोकमान्य तिलक के पश्चात् महाराष्ट्र पिछड़ गया है । शायद ऐसे लोगों ने हमारा कालिज नहीं देखा है । और दादासाहब दातार को तो बिलकुल नहीं । सच है ना ? "

यह स्तुति सुनकर दादासाहब कुछ लजा गये । अभी ही माता बनी हुई युवती एक ओर तो आपना बालक सबको बताना चाहती है और दूसरी ओर कुछ शर्माती भी है । स्तुति के बारे में सबोध मनुष्यों का भी यही हाल होता है ।

प्रिंसिपल साहबकी मेज़ के पेपरवेट में के फूलों की ओर देखते हुए दादासाहब बोले,

" मेरी तबियत ठीक थी । "

" क्या कोई मेहमान आये थे ? "

" नहीं ! रामगढ़ जाने की तैयारी कर रहा था । "

" रामगढ़ ? "

" जी हाँ ! भगवन्तराव बहुत बीमार हैं । "

प्रिंसिपल साहब ने सहानुभूतिपूर्वक पूछा, " क्या बीमारी है ? "

" तार में तो केवल बहुत बीमार हूँ इतना ही लिखा है उन्होंने ! "

" सुलोचना वहीं गई होगी ? कल और आज कहीं टेनिस–कोर्ट पर दिखाई नहीं पड़ी ! "

दादासाहब सिर झुकाकर छुट्टी की अर्ज़ी लिख रहे थे।

प्रिंसिपलसाहब बोले, " भगवन्तराव अच्छे होनेतक आप चाहे जितने दिन तक रामगढ़ रह सकते हैं। कालिज के काम की कोई चिन्ता न करें। "

अर्ज़ी प्रिंसिपलसाहब के हाथ में देते हुए दादासाहब जाने के लिये कुरसी से उठे। प्रिंसिपलसाहब दरवाजे तक उन्हें पहुँचाने के लिये आये। दरवाजे पर पहुँचते ही वे धीरे से बोले, " मैं भी रामगढ़ आने का सोच रहा हूँ। "

दादासाहब ने आश्चर्य से पूछा, " कब ? "

" हो सका तो आज रात को। नहीं तो कभी नहीं। "

प्रिंसिपल ने कुछ रुखाई से उत्तर दिया।

फिर उन्होंने स्वर बदल कर कहा, " दिनकर देसाई के बारे में राजासाहब से प्रार्थना करना कहाँ तक उचित— "

राहगीर अचानक साँप को देख जैसे ठिठक जाता है उस प्रकार वे एक क्षण रुके। बाद में बोले, " उस दिनकर ने आपके बारे में क्या ही सुंदर लेख लिखा है ! "

" कहाँ "

" आप इसी साल अवकाश प्राप्त करने वाले हैं। इसलिये हमने कालिज पत्रिका का विशेषांक निकालने का आयोजन किया है। कालिज के भूतपूर्व विद्यार्थियों से लेख भेजने के लिये हमने प्रार्थना की थी। कल रात को मैंने आये हुए सब लेख पढ़ देखे। दिनकर ने आपके बारे में इतना सुन्दर लिखा है कि— "

दादासाहब को प्रतीत हुआ कि कोई उनका कलेजा नोंच रहा है।

प्रिंसिपल खाँसकर बोले, " इस दिनकर से हमें कितनी आशाएँ थीं ! किन्तु आज—आज मैं सोच रहा हूँ कि रियासती मामले के बखेड़े में हाथ डालना ठीक है या नहीं। दिनकर उस सभा में उपस्थित न था यह बात रामगढ़ में बहुतेरे लोग जानते हैं। आज ही रामगढ़ के एक अध्यापक आये हुए थे और मुझसे कह रहे थे। पर पुलिस के डर से सच सच कहने के लिये कोई आगे नहीं बढ़ता। दिनकर तो ' मैं निर्दोष हूँ ' इसके सिवा कुछ कहने को ही तैयार नहीं है। ऐसा बुद्धिमान् होनहार नवयुवक बेकार में ही मौत के मुँह— "

प्रिंसिपलसाहब बीच में ही दूसरी ओर देखने लगे।

थोड़ी देर से फिर बोले, "मेरा मन आगे पीछे दौड़ रहा है। मैं दिनकर की ओर से प्रार्थना करने गया और कहीं गुस्सा हो राजासाहब ने हमारी संस्था के उपसभापति पद से त्यागपत्र दे दिया तो—उन्होंने त्यागपत्र दिया तो सरकारी ग्रेंट भी—"

उन्होंने योंही पीछे देखा। दादासाहब की दृष्टि भी उसी ओर आकर्षित हुई। दीवार पर एक केलेंडर टँगा हुआ था। उस केलेंडर पर का चित्र—

एक खाली पिंजरा—उस पिंजरे के बाहर एक पक्षी! दूरदूर तक दिखाई देने वाला नीला आकाश और हरे भरे पेड़—

उन पेड़ों की ओर पीठ कर वह पक्षी फिर पिंजरे में घुस रहा था। अंदर रखे हुए फल के टुकड़ों की ओर वह बुभुक्षित की नाईं देख रहा था।

उस पक्षी के पंख कटे हुए थे।

दोनों ने एक दूसरे की ओर क्षणार्ध के लिये देखा। फिर दोनों की दृष्टि जमीन की ओर झुक गई।

शाम की ठंढ़ी ठंढ़ी बयार बह रही थी। किन्तु दादासाहब को खिड़की बंद करने की सुध ही न थी।

धीरे धीरे अँधेरा हो चला था।

किन्तु दादासाहब डिब्बे में की बत्ती जलाने भी न उठे।

उनके ड्योढ़े दर्जे में दो तीन और मुसाफिर थे। पर वे कभी के उतर चुके थे। अब उन्हें छोड़ डिब्बे में और कोई न था।

अँधेरे में गाड़ी दौड़ी चली जा रही थी। उनका मन भी अंधकारमय भविष्य में दौड़ लगा रहा था।

दोपहर में प्रिंसिपलसाहब से बातचीत के समय से उनका मन एकसा दिनकर के बारे में ही विचार कर रहा था। उसे फाँसी की सजा सुनाने वाला रामगढ़ का न्यायासन! राजासाहब के केवल नेत्रकटाक्ष पर ही जिसकी तनख्वाह अवलंबित थी ऐसा न्यायाधीश और दूसरी सज़ा दे ही कैसे सकता था?

"कायदा गदहे की भाँति होता है" यह अंगरेजी कहावत उन्हें याद आई। उन्होंने सोचा केवल गदहा ही नहीं—कभी कभी उसमें भेड़िये का भी संचार हो जाता है।

उनका मन तिल तिल टूटकर कह रहा था—निर्दोष होते हुए भी दिनकर फाँसीपर चढ़ेगा—उसे बचाने की इच्छा होकर भी प्रिंसिपलसाहब की इतनी हिम्मत न होगी कि राजासाहब से कुछ कहें। सत्य की अपेक्षा संस्था की कीमत उनकी दृष्टि में अधिक थी। इसमें उनका क्या दोष है?

वे गुलाम हैं! मैं भी गुलाम हूँ! एक गुलाम दूसरों को कैसे छुटकारा दे सकता है? पर सुलोचना? वह भी तो गुलाम है। उसका बर्ताव नीति और पतिव्रताधर्म की प्रचलित कल्पनाओं के विरुद्ध हुआ है। इन कल्पनाओं के प्रति उसका विद्रोह निसर्ग-प्रणीत हो सकता है। पर यदि वह विद्रोह सब लोगों पर जाहिर हुआ तो आजन्म उसे मुँह दिखाने को भी जगह न मिलेगी। व्यभिचारिणी और कलंकिता इन्हीं शब्दों से उसकी निर्भर्त्सना होगी। मानवता दयालु है; पर लोग निर्दय होते हैं। कवींद्र रवींद्र का यह कथन ऐसे मौके पर कितना सच मालूम होता है!

सच पूछो तो सुलोचना के बर्ताव में विचित्रता एवँ असंबद्धता थी कहाँ? जिस दिन संसार में स्त्री के व्यक्तिमत्ता की जागृति हुई उसी दिन पतिव्रता के धर्म की पुराणकल्पित कल्पनाएँ पिछड़ गई थीं। जिस प्रकार पुरुष केवल स्त्री के सौंदर्य से जन्मभर प्रेम नहीं कर सकता उसी तरह स्त्री भी केवल पराक्रम पर लुब्ध नहीं रह सकती। अब, पतिपत्नी के मनों का मिलन हुए बग़ैर, जीवनरस का आस्वाद लेने की उनकी दृष्टि एक हुए बग़ैर, जीवन सुखी नहीं हो सकता।

किन्तु मन के मिलन में भी शारीरिक सुख की तृष्णा होती ही है। सुलोचना को बार बार इच्छा हुई कि दिनकर का एक बार चुम्बन लूँ। क्या वह इच्छा बेछूट कामुक वृत्ति का प्रतीक थी?

कोई भी ऐसा न कह सकेगा। बड़ेबूढ़े भी इतना मनोनिग्रह नहीं कर सकते कि जिस व्यक्ति से प्रेम करते हों उसे एकान्त में भी स्पर्श न करें। फिर सुलोचना तो यौवन के द्वार पर खड़ी एक तरुणी ही थी!

राम और सीता का पौराणिक काल एक अत्यंत सरल समय था। उस काल के पराक्रम भी सीधे सादे होते थे। राम को राक्षसों से लड़ना पड़ा था। आज तो मनुष्य को मनुष्य से लड़ना पड़ता है! उन दिनों प्रेम के मार्ग भी सीधे होते थे।

सीता के जीवनमार्ग में केवल रावण की बाधा उत्पन्न हुई। यदि रावण की जगह राम से अधिक सद्गुणी कोई और दूसरा पुरुष आता तो ?

छिः। इन सुधारों ने मनुष्य का जीवन दंद फंद और झमेलों से पूर्ण बना दिया है। किसी ओढ़ने के वस्त्र पर गाँठ पर गाँठ लगाने से वह शीत से रक्षा नहीं कर सकता। वही गत आज मानव समाज की हुई है।

रामगढ़ आने तक दादासाहब के दिमाग़ में ऐसे ही विचारों ने आसन जमा रखा था। अंत में दुःख से उन्होंने मन ही मन कहा, "कालिदास ने कहा है कि जीवन एक विकृति है। उसमें कितना गहरा अर्थ भरा हुआ है।"

स्टेशनपर उन्हें लेने के लिये भगवन्तराव की गाड़ी नहीं आई थी। वे सोचते थे कि तार मिलते ही मैं निकलूँगा इस विश्वास से भगवन्तराव अवश्य गाड़ी भेजेंगे। इस कारण जब स्टेशनपर उतरते ही उन्हें गाड़ी न दिखाई दी तो एक क्षण वे किंकर्त्तव्यमूढ़ से खड़े रहे।

दूसरे ही क्षण उन्होंने सोचा, "भगवन्तराव बीमारी से बिस्तर से बँधे होंगे। गाड़ी भेजने की सूझ आना और नौकरों से काम करवाना—ऐसी बातों के लिये मनुष्य स्वस्थचित्त होना चाहिये।"

ताँगेमें से भगवन्तराव के बँगले तक जाते हुए दादासाहब उनकी बीमारी का ही विचार कर रहे थे। मनुष्य को एकाएक होने वाले कई रोग उन्हें याद आये। कालिज के साइन्स के प्रोफेसर की लड़की को घटसर्प हो गया था उसका उन्हें स्मरण हुआ। बच्ची के मुँह में छाले आ गये होंगे इस कारण कोई चीज़ गले नहीं उतरती, यह सोच उसकी माँ ने तुरन्त कोई इलाज नहीं कराया—किन्तु परिणाम—हाथों हाथ कराल काल ने उस अबोध बालिका को अपना लिया।

काल ?

उस शब्द की कल्पना से ही दादासाहब के रोंगटे खड़े हो गये।

एक और विचित्र कल्पना-चित्र वे देखने लगे। जीवन याने दूसरा कुछ नहीं है—मनुष्य का मृत्यु से चला हुआ लुका-छिपौव्वल है। मनुष्य की सारी शक्ति इसी में खर्च होती है कि मृत्यु के हाथ न लगे। और अंत में—मृत्यु के सहस्रों नेत्र होते हैं। वह झट देख लेती है कि कौन कहाँ छिपा हुआ है। निमिषमात्र में

वह जिसे चाहती है ढूँढ़ निकालती है। यदि ऐसा न होता तो दिनकर, भगवन्तराव और सुलोचना, इनपर इतनी तरुण अवस्था में मृत्यु की छाया क्यों पड़ती? भगवन्तराव बहुत बीमार हैं, दिनकर फाँसीपर चढ़ने वाला है, और न जाने सुलोचना ने आत्महत्त्या कर ली हो—

कदाचित् भगवन्तराव के बँगले के पास वाले तालाब में उसका—

इसी समय ताँगा भगवन्तराव के बँगले के सामने आ पहुँचा यह अच्छा हुआ। नहीं तो इन उदास विचारों के कारण दादासाहब की अस्वस्थता का ठिकाना ही न रहता।

ताँगा ठहरने की आवाज होते ही बँगले के बरामदे में बिजली जली। नौकर दौड़ता ही बाहर आया।

ताँगेवाले के पैसे दे दादासाहब बँगले में घुसे। भगवन्तराव की कहीं कोई आहट नहीं दिखाई दे रही थी। उन्होंने सोचा कि वे अपने सोने के कमरे में तीसरी मंजिल पर लेटे होंगे। किन्तु बैठक के पास आते ही—

उनके पैर अपनी ही जगह रुक गये। उन्हें चूड़ियों का स्वर सुनाई पड़ा था!

हर्ष के मारे वे फूले न समाये। सोचने लगे—भगवन्तराव के मुझे तार करने के बाद सुलोचना आई होगी। उनके मन का एक बड़ा भारी बोझ हलका हो गया।

अब वे बैठके की खिड़की के पास पहुँच चुके थे। अंदर के नीले से मंद प्रकाश में एक तरुणी की धुँधली सी आकृति उन्हें दिखाई दी। उसकी पीठ खिड़की की तरफ़ थी और वह भगवन्तराव का माथा दबा रही थी।

उनका मन प्रफुल्लित हो बोला—सुलोचना ही है वह। इतने प्रेम से दूसरी कौन उनकी शुश्रूषा करेगी?

दूसरे ही क्षण वे कुछ आश्चर्यचकित से हुए। वे मन ही मन कह रहे थे—सुलोचना ऊँची पूरी है। यह स्त्री उँचाई में कम मालूम पड़ती है। हाँ, हाँ—माथा दबाने के लिये झुकने के कारण ही वह कुछ ठिंगनी दिख रही होगी।

हँसते हुए वे आगे बढ़े। उनकी आहट पाते ही] भगवन्तराव ने हाथ बढ़ा कर कमरे का दूसरा दिया जलाया। उजियाला चारों ओर फैल गया।

वह तरुणी हटकर दूर खड़ी हुई। उसने मुड़कर दरवाजे की ओर देखा।

दादासाहब को ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने मनों बरफ़ उनकी खुली छाती पर रख दिया हो। वह सुलोचना न थी। दूसरी ही कोई विधवा तरुणी—

भगवन्तराव को बहन तो नहीं ?

नहीं, नहीं। वे तो संसार में अकेले ही थे। नाते-रिश्ते का भी कोई उन्हें न था। इतने बरसों में न तो वे किसी रिश्तेदार के यहाँ गये थे न कोई रिश्तेदार ही उनके यहाँ आया था।

फिर यह युवती कौन थी? बिलकुल घर के समान वर्ताव करनेवाली और बहन या पत्नी के सदृश इतने पास रहने वाली—

शायद कोई परिचारिका हो!

किन्तु इतना गहराई का बर्ताव—

विषवृक्ष बोये नहीं जाते। अपने आप ही ऊगते और बढ़ते हैं। संशय भी उसी मालिका में है। दादासाहब विचार करने लगे।

उनकी ओर रूखी नजरों से देखते हुए वह युवती अंदर चली गई। 'आइये' कहकर भगवन्तराव ने उनका स्वागत किया। किन्तु उनके शब्दों में हमेशा जैसा उत्साह न था।

किसी चित्र के रंग एकदम फीके पड़ जाएँ उसी तरह भगवन्तराव के स्वर का उत्साह और चेहरे का तेज लुप्त हो गया था।

दादासाहब उनके सामने ही एक सोफ़े पर बैठ गये। ' सुलोचना कहाँ है ?" यह प्रश्न अब भगवन्तराव पूछेंगे। उसका क्या उत्तर दूँगा इसी उधेडबुन में वे पड़े थे। किन्तु कितनी ही देर एक निर्जीव प्रतिमा की तरह भगवन्तराव निश्चल थे। अब दादासाहब को अपने आप ही बातचीत छेड़नी पड़ी।

उन्होंने पूछा, "आपको क्या हो रहा है ?"

"कुछ नहीं, !" भगवन्तराव ने उसाँस भर कर कहा। अपना उत्तर दादासाहब को न समझा देख वे बोले, "हम डाक्टर लोग समझ बैठते हैं कि रोग शारीरिक ही होते हैं। किन्तु—"

वे एकदम रुक गये। दादासाहब निश्चय न कर सके कि क्या कहें। उन्होंने सोचा कि दीवार पर के चित्र देखने का ढोंग रचाना ही अच्छा रहेगा।

वह चित्र क्रौंचवध का था। निषाद ने शिकार किये हुए पक्षी को अपनी गोद में लिये, आँसू बहाने वाली वह युवती—

भगवन्तराव ठीक उसी चित्र के नीचे लेटे हुए थे यह संकेत—

दादासाहब प्रयत्नपूर्वक दूसरी ओर देखने लगे। एक कोने में उन्हें सितार दिखाई पड़ा। कुछ बोलना अच्छा है यह समझ उन्होंने पूछा,

"सितार कौन बजाता है?"

"कोई नहीं!"

"फिर?"

"मैं बड़े हौसले से इसे मोल लाया था कि सुलोचना इसे बजाएगी! किन्तु उसने एक दिन भी उसे नहीं छुआ। वह हमेशा मजाक से कहती कि जिस दिन हमारा तुम्हारा खूब झगड़ा होगा उस दिन बजाऊँगी। हमारी खूब लड़ाई हुई। किन्तु सितार को हाथ न लगाये ही वह कहीं निकल गई।"

बोलते हुए भगवन्तराव कोशिश कर रहे कि उनकी आवाज की आर्तता प्रगट न हो। पर जख्मी मनुष्य कितना ही शूर क्यों न हो वेदनाओं का कोई न कोई चिह्न चेहरे पर आ ही जाता है। भगवन्तराव के स्वर में अंतःकरण के दुःख की झलक इसी तरह प्रगट हो रही थी।

अंदर गई हुई तरुणी जब खाना खाने के लिये बुलाने आयी तब कहीं उस दुःसह बातचीत से दादासाहब को छुटकारा मिला। जब से वे कमरे में आये थे वे यही अनुभव कर रहे थे कि दो मनुष्यों के झगड़े के बजाय उनका मौन ही अधिक असह्य होता है। इतनी देर उन्हें यही प्रतीत हो रहा था कि वे किसी फंदे में फँस गये हैं।

भोजन के समय भी भगवन्तराव मौन धारण किये रहे।

दादासाहब अब उस युवती को ग़ौर से देख सके। उसमें दोष केवल यही था कि उसके माँग में सिंदूर न था। अन्यथा—

वह बेलबूटे की सुन्दर सी साड़ी पहने थी। बिन बाहों का ब्लाउज पहन उसमें से निकले हुए गौर वर्ण हाथों को यों ही बार बार देख रही थी। उसके साजसिंगार में कोई कमी न थी यह बात कुछ आश्चर्यजनक अवश्य थी।

दादासाहब उसके बारे में न जाने क्या क्या तर्क-वितर्क करने लगे।

वह भगवन्तराव को आग्रह कर कर परोस रही थी। किंतु खाने पर उनका ध्यान ही न था। उसने आग्रह से परोसे हुए सारे पदार्थों की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "मैं यह सारा डाल देने वाला हूँ।" उसके यह कहते ही वह हँसी और बोली, "खुशीसे छोड़ दीजिये। मैं सब चट कर जाऊँगी।" भगवन्तराव के थाल

में के जूठे पदार्थ लेने का उसका विचार—और मेरे सामने वह कह बताने का साहस—इन सब बातों का क्या मतलब है ?

उस युवती का और भगवन्तराव का अवश्य ही कुछ रहस्य है—यह संशय दादासाहब के मन में दृढ़मूल हो गया ।

बैठके के दाहिने ओर का कमरा दादासाहब को दिया गया था । बायें हाथ के कमरे में के सामान से स्पष्ट मालूम होता था कि उस कमरे में उस तरुणी का वास्तव्य था ।

"सफ़र से आपको बहुत थकान आ गई होगी—किन्तु—" भगवन्तराव पान देते हुए दादासाहब से बोले ।

"नहीं नहीं । सफ़र में मुझे ज़रा भी तकलीफ़ नहीं हुई । घंटे दो घंटे गपशप लड़ाते बैठने को मैं तैयार हूँ ।"

"मैं आपको एक पत्र पढ़ने के लिये देने वाला हूँ !" इतना कह भगवन्तराव तीसरी मंज़िल के अपने कमरे की ओर गये ।

भगवन्तराव पत्र देने वाले हैं मुझे ?

किसका ?

और किसका होगा ? सुलोचना का ही पत्र होगा ! शायद बिटियाने आत्महत्या करने के पूर्व भगवन्तराव के नाम भेज दिया हो !

मैं यहाँ आया हूँ तब से उन्होंने भूलकर भी मुझसे यह नहीं पूछा कि सुलोचना कहाँ है । इसका और क्या कारण हो सकता है ?

उन्हें यह विश्वास हो गया है कि सुलोचना अब इस संसार में नहीं है । उनकी बीमारी भी यही है । अभी अभी उन्होंने कहा कि मेरी बीमारी मन की बीमारी है । उसमें अवश्य ही कुछ सत्य होगा । किसी भी दूसरी युवती को उन्होंने अपने पास भटकने भी न दिया था । किन्तु सुलोचना के व्यवहार से उन्हें जबरदस्त धक्का पहुँचा होगा । पानी में डूबने वाला मनुष्य तिनके का भी सहारा ले लेता है । दुःखी मन भी उसी तरह का प्रयत्न किया करता है । वह किसी ऐसे मनुष्य को ढूँढ़ा करता है जो उसे धीरज दिलाए । यह तरुण विधवा उनकी अधीनता में काम करने वाली कोई नर्स होगी । सुलोचना के जीते, वह यहाँ प्रवेश न पा सकी होगी । पर आज—

भगवन्तराव एक लिफ़ाफ़ा लेकर वापस आये । बंद ही था वह !

उन्होंने उसे चारों ओरसे निरख कर देखा। एक कुशंका उनके मन में दौड़ गई कि किसी ने उसे खोलकर फिर चिपका दिया है।

उन्होंने लिफ़ाफ़े पर नाम पढ़ा—' पूज्य दादासाहब दातार— '

' पूज्य— '

सुलोचना कभी भी मुझे लिखते समय ' पूज्य ' नहीं लिखती। यह हस्ताक्षर भी उसका नहीं है ! यह हस्ताक्षर—

उन्हें वह परिचय का मालूम पड़ा। पर किसका है यह वे—

सहसा वे सोचने लगे—दिनकर का पत्र तो न होगा यह ?

जल्दी जल्दी से उन्होंने लिफ़ाफ़ा खोला। उस लंबे-चौड़े पत्र का अंतिम पन्ना उन्होंने बड़ी आतुरता से देखा। वह दस्तख़त—

दिनकर का ही पत्र था वह—

" आपका अप्रिय शिष्य,
—दिनकर सरदेसाई "

इन पंक्तियों पर उनकी दृष्टि फिरी न फिरी—

उनकी आँखें डबडबा आईं !

अँधियारा सा छा गया !

उसी आँसूभरी दृष्टि से वे अंत की कुछ पंक्तियाँ पढ़ने लगे।

" कब ? बताऊँ ? अगले जन्म में !

मैं पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ। मेरी अति उत्कट इच्छा है कि मैं सुलोचना का पुत्र होकर उसके उदर से जन्म लूँ। और जब मैं जन्म लूँगा उस समय अपनी प्रिय मातृभूमि स्वतंत्र हो चुकी होगी। हिमालय के समान मस्तक ऊँचा कर वह दूसरे राष्ट्रों की ओर स्वाभिमान से देखती होगी। आजका अपढ़ और अधपेट रहनेवाला भारतीय किसान अपनी माता का एक सुखी सेवक एवँ वीर सैनिक बन चुका होगा।

मेरा यह अंतिम स्वप्न सच हो या न हो। किन्तु मनुष्य स्वप्नों पर ही जीवन भर जीवित रहता है। इतना ही नहीं बल्कि मृत्यु की गोद में भी वह नये नये स्वप्न देखता हुआ गहरी नींद के आधीन हो जाता है।

वंदे मातरम्,
आपका अप्रिय शिष्य,
दिनकर सरदेसाई।

* * * *

दादासाहब की आँखों से अश्रुबिंदु पत्र पर टपटपाने लगे ! उन्होंने गर्दन ऊँची कर ऊपर देखा । भगवन्तराव कभी के चले गये थे ।

बैठके में से दादासाहब अपने कमरे में आए ।

दरवाजा बंद कर उन्होंने मेजपर की बत्ती जलाई । पलंग के पास रखी हुई आराम कुरसी मेजके पास खींच वे दिनकर का पत्र पढ़ने लगे ।

" पूज्य दादासाहब के चरणों में सादर प्रणाम ।

मैं चार साल तक आपके सहवास में पला हूँ । आपने पुत्रवत् मुझ पर प्रेम किया है । परीक्षाओं में मैं अच्छी तरह सफल न हो सका इसलिये आप मुझ पर गुस्सा भी हुए हैं । किन्तु क्रोध प्रेम का ही दूसरा स्वरूप है ना ? इसीलिये आज मेरा यह अंतिम पत्र मैं आपको ही लिख रहा हूँ ।

बचपन से ही चिट्ठियाँ लिखना मुझे विशेष पसंद नहीं है । सुलोचना की और मेरी इतने बरसों की घनिष्ठता है । किन्तु मुझे विश्वास नहीं कि मैंने उसे दसबीस चिट्ठियाँ भी भेजी हों । और जो कुछ भेजीं भी वे बिलकुल छोटी छोटी थीं ।

पर आज मैं आपको खूब लंबा चौड़ा पत्र लिखनेवाला हूँ । जीवन का प्रथम और अंतिम लंबा-चौड़ा पत्र !

रामगढ़ के न्यायासन ने मुझे फाँसी की सजा दी । राजासाहब ने फिर से सुनवाई करने का निश्चय किया ! किन्तु न्याय की विडम्बना का नाटक बार बार खेलने से ही क्या उसमें गंभीर सत्य का आविष्कार होता है ? इसीलिये मैंने फिर से कैफ़ियत देना मंजूर नहीं किया । मजिस्ट्रेटसाहब और जेल के अधिकारी डाक्टर शहाणेसाहब मेरे पास आये । उन्होंने खबर सुनाई कि मेरी फाँसी की सजा क़ायम कर दी गई है । उन्होंने यह भी बताया कि परसों मुझे सूली पर चढ़ा दिया जायगा— "

दादासाहब ने चौंक कर पत्र की तारीख देखी । पहले दिन की ही तारीख थी । क्या ? दिनकर कल ही फाँसी चढ़ेगा ? और भगवन्तराव ने भूलकर भी मुझे यह न बताया ।

वे क्यों बताने चले ? सिवाय द्वेष और ईर्ष्या के उनके मन में दिनकर के प्रति और होगा ही क्या ?

जी हाथ में ले दादासाहब पढ़ने लगे ।

"फाँसी देने के पूर्व क़ैदी को पूछा जाता है कि उसकी आख़िरी इच्छा क्या है ।

प्रथा के अनुसार भगवन्तराव ने मुझसे भी वही प्रश्न किया। मैंने निस्संकोच उत्तर दिया, " मैं एक पत्र लिखना चाहता हूँ ! "

" किसे ? " उन्होंने कुछ विचल होते हुए पूछा।

मजिस्ट्रेटसाहब भी सामने ही खड़े थे। भगवन्तराव शायद डर रहे थे कि उनके सामने ही मैं सुलोचना का नाम लूँगा।

सुलोचना का नाम लेता तो न्यायालय में मेरा बचाव भी हो सकता था। कदाचित् मैं उसका नाम लेता भी।

किन्तु कब ?

यदि सुलोचना से मेरा प्रेम न होता तब !

(और त्याग ही प्रेम की आत्मा है इस कल्पना पर मेरी श्रद्धा न होती तब !)

जब मैंने बताया कि मैं आपको पत्र लिखना चाहता हूँ तब भगवन्तराव की आशंका मिटी सी दिखाई पड़ी। उन्होंने मुझे वचन दिया है कि वे मेरा पत्र आपको जैसे का वैसा पहुँचा देंगे।

दादासाहब, आपही को यह पत्र लिखने का कारण—

पत्र सदा दो हृदयों का संभाषण होता है। और जिनके सन्मुख मैं आपना हृदय निःसंकोच खोल सकता हूँ ऐसे दो ही मनुष्य हैं। एक सुलोचना और दूसरे आप !

मेरी माँ—वह बेचारी मेरे पकड़े जाने की खबर सुनते ही चल बसी।

संसार से उसे छुटकारा मिला।

मेरी दीदी !

वह यहीं के एक बड़े साहूकार की पत्नी है। भैयादूज के दिन कई बार उसने मेरी आरती उतार मेरा टीका किया है। मैंने भी टीके का नेग दिया है। किंतु सच कहूँ ? मेरे समान भाई की बहन कहलाने में वह अपना अपमान समझती है। मैं कंगाल हूँ ! मैं राजा साहब के रोष का पात्र बना हूँ ना ? अपढ़ लोगों के साथ रह कर गँवार बन गया हूँ ! उसकी दृष्टिसे ये सब पागलपन के लक्षण हैं। परसों जब मैं फाँसी चढ़ूँगा तब उसका बहन का कलेजा कुछ फटेगा, कदाचित् आँखों में आँसू भी आ जायँ। पर दूसरे ही दिन अपने बड़प्पन के ठाटबाट में वह सब दुःख भूल जाएगी।

(आजकल के मानवी सुधार याने भावनाओं की स्मशानभूमि ही है। मेरे ऐसा सोचने का कारण, मेरे ये और ऐसे अनुभव ही हैं। बीसवीं शताब्दि के मनुष्य का

हृदय बाईं ओर छाती के नीचे नहीं होता। वह होता है दाहिनी ओर कोट की जेब में जहाँ से वह कभी कभी बाहर झाँक लेता है।

मेरे बहनोई? इसमें आश्चर्य ही क्या है कि उनसा सम्पन्न साहूकार मुझ जैसे आन्दोलनकारी को मूर्ख समझे?

किन्तु उनका एक उपकार मैं कभी नहीं भूल सकता। उन्हीं के कारण मेरा आपसे परिचय हुआ—मेरे जीवन में सुलोचना ने पदार्पण किया।

वह दिन आज भी मेरी आँखों के सामने है—अपने कालिज में साइन्स-भवन की आवश्यकता थी। उस भवन के लिये चंदा एकत्रित करने आप रामगढ़ आये हुए थे। राजासाहब आपकी संस्था के उपसभापति होने के कारण उन्हें खुश करने के हेतु नगर के बड़े बड़े रईस आपको चंदा दे रहे थे। माँ का कोई सँदेसा दीदीसे कहने के लिये मैं वहनोई के यहाँ आया था। आपने हँसते हुए मुझसे पूछा, "कौनसे दर्जे में पढ़ते हो?" मैंने उत्तर दिया, "अभी हाल ही दसवाँ दर्जा पास किया है!"

"कौनसे कालिज में पढ़ने का विचार है?"

मैंने रुखाई से उत्तर दिया, "मैं क्लर्क होने वाला हूँ!"

आपने मेरे बहनोई की ओर देखा। आप शायद यह सोच रहे थे कि इतने धनिक मनुष्य का साला कालिज क्यों नहीं जाता। मेरे बहनोई ने आपसे कहा, "मैं फिर आपको सारा हाल कह सुनाऊँगा।"

मैं अच्छी तरह से सोच सकता हूँ कि उन्होंने आपको क्या सुनाया होगा। मेरे पिताजी पुलिस के दारोगा तो हैं। पर परले सिरे के शराब हैं। उन्हें बहुत क़र्ज़ा है। इसलिये वे लड़के की कालिज की पढ़ाई का खर्च नहीं कर सकते, इत्यादि।

उनका कहना अक्षरशः सच था। पर और एक बात मेरे जीजाजी को मालूम न थी। मैं अपनी माँ की परिस्थिति और क्लेश देख न सकता था। यदि वह थोड़ी भी सुखी होती तो भिन्न भिन्न जगह भोजन के "वार[1]" लगाकर भी मैं आगे पढ़ने को तैयार हो जाता। किन्तु पिताजी की शराबखोरी के मारे उसकी जो

---

१ महाराष्ट्र में कई ग़रीब विद्यार्थी सप्ताह के भिन्न भिन्न दिन भिन्न भिन्न सज्जनों के यहाँ भोजन की व्यवस्था कर पढ़ाई करते हैं। इस प्रथा को 'वार' लगाना कहते हैं।

दुर्दशा हो रही थी—समय पड़े तो देवपूजन को जाने के लिये उसके पास योग्य साड़ी भी न थी यह दशा—

इसीलिये, माँ के लिये, मेट्रिक पास होते ही मैंने नौकरी करना निश्चित किया था। मुझे केवल बीस रुपया माहवार वेतन मिलने वाला था। किन्तु मैंने यह भी तय कर लिया था कि मेरा पहला वेतन मिलते ही किस दूकान से कौनसी बढ़िया साड़ी खरीदूँगा।

पर विधाता के मन में—नहीं आपके मन में मेरा क्लर्क होना न लिखा था। आपने दोपहर को मुझे खासकर बुला भेजा। मेरे बहनोई ने आपको बताया था कि मेट्रिक की परीक्षा में मैंने बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त किया था। संस्कृत में मुझे विशेष योग्यता मिली थी किन्तु "जगन्नाथ शंकरसेठ छात्रवृत्ति" कुछ ही गुणों से मुझे न मिल सकी थी। यह जानते ही आपने कहा,

"दिनकर, मैं ज्योतिषी हूँ। मैं तुम्हारे चेहरेपरसे बता सकता हूँ कि तुम कौन होगे।"

मैंने हठ से कहा, "मैं क्लर्क होने वाला हूँ।"

आप हँसकर बोले, "नहीं, तुम कवि होने वाले हो। मुझ जैसे प्रोफेसर होनेवाले हो।"

दादासाहब, आपका दूसरा भविष्य सच न हो सका। किन्तु पहला ?

कवि दो प्रकार के होते हैं। कविता लिखनेवाले और न लिखनेवाले! रवींद्र पहले प्रकार के श्रेष्ठ कवि थे।

मैंने कभी कविता नहीं लिखी। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मैं दूसरे प्रकार का एक छोटासा कवि हूँ। और क्या मैं उस व्यक्ति का नाम बताऊँ जो उस दूसरे प्रकार का समूचे संसार का एकमेव महाकवि है ?

महात्मा गांधी!

आप यह बात न मानेंगे कि महात्मा गांधी वाल्मीकि समान ही महाकवि हैं। उनके अहिंसावाद के आग्रह का आविष्कार कहाँ हुआ ? कोमलतम मानवी भावनाओं में ना ?

वाल्मीकि की काव्यस्फूर्ति भी तो ऐसे ही हुई थी। उनका क्रौंचवधवाला श्लोक—सुलोचना के पास ऐसा ही एक सुन्दर चित्र है। आपने देखा ही होगा।"

दादासाहब ने आँखें मूँद लीं।

बैठक के कमरे में का वह चित्र ! दिनकर उसे सुन्दर समझ उसकी स्तुति कर रहा था। पर इस समय दादासाहब उसे अत्यंत भीषण समझ रहे थे। चित्र का वह खून से लथपथ पक्षी और कल फाँसी पर चढ़ने वाला दिनकर—

मृत्यु का पाश गले में पड़ा हुआ होते भी दिनकर उस चित्र की सुन्दरता देख सकता है ? इतना स्थितप्रज्ञ होना उसने कहाँ सीखा ? जन्मभर गीता पढ़ने के उपरान्त जो साधना मैं प्राप्त न कर सका वह इस आंदोलनकारी बच्चे ने कहाँ प्राप्त की ?

दिनकर का पत्र पढ़ने के लिये दादासाहब उतावले हो रहे थे। उन्होंने आँखें खोलीं।

" मैं थोड़ा प्रवाह के साथ बह गया था ना ?

भगवन्तराव की कृपा से खूब मोमबत्तियाँ मुझे मिली हैं। सारी रात भी चाहूँ तो लिखता रहूँ।

मैं क्या कह रहा था ?

हाँ, अंत में आपके कहने कहाने से मैं कालिज जाने के लिये तैयार हुआ। आपने मुझे अपने ही यहाँ रखना मान्य किया था। जीवन में पहली बार मैंने अनुभव किया कि मानवता, धन और निकट संबंध की अपेक्षा कहीं ऊँची चीज है। मैंने माँ से कहा भी, " माँ, मेरा तुम्हारे देवताओं में तो विश्वास नहीं है। किन्तु, यह बात सच है कि मनुष्य के रूप में देवता अवश्य ही संसार में बसते हैं।"

यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि इतने बचपन में मेरी ईश्वर के प्रति अश्रद्धा कैसे हो गई।

वह एक घटना है।

मेरे साथ के कई लड़के स्कूल से लौटते समय श्रीदत्तभगवान् के मंदिर में भगवान् को तीन प्रदक्षिणा लगाये बग़ैर मकान न आते थे। परीक्षा के समय कोई कापी पर प्रतिदिन सौ बार ' राम ' ' राम ' लिखता। कोई बजरंगबली को मिश्री-नारियल की मनौती बोलता। और कोई कोई तो ' शनिमाहात्म्य ' भी पढ़ता। मैंने इसमें का कभी कुछ न किया।

मेरी माँ बड़ी देवभक्त थी। उसके पूजाघर में छोटे मोटे कुल पचास देवता अवश्य होंगे। सब की यथोचित पूजा करने के पूर्व वह जल भी ग्रहण नहीं करती

थी। बिलकुल बचपन के जो कुछ स्मरण अभी बाक़ी हैं उनमें मेरी माँ है और उसके देवता भी।

आज भी वह चित्र कितना मधुर है!

दियाबत्ती हो चुकी थी। माँ ने पूजाघर में नीरांजन लगा, मुझसे और जीजीसे "शुभं करोति कल्याणम्" कहने को कहा। फिर वह पिछले आँगन में जा तुलसी के पास नीरांजन रख आई। उसने हम दोनों को देवता के सामने बिठाया और वह करुणाष्टक कहने लगी—'अनुदिनि अनुतापँ तापलों रामराया'। वह पहले एक पंक्ति कहती। फिर हम बहनभाई उसी को दोहराते। जीजी मुझसे पाँच छः साल बड़ी थी। उसने वह पंक्ति ठीक तरह से कही। किंतु मैंने "तापलों लामलाया" कहा। तुरन्त ही जीजी मुझे 'तोतला' 'तोतला' कह चिढ़ाने लगी। मैं कुछ रोबाँसा हो गया। किंतु माँ ने मुझे गोदी में लेकर जीजी से कहा, "रहने दे मेरा तोतला। वही जन्मभर मेरे साथ रहेगा। तेरी रसवंती मेरे क्या काम की! दीदी और मँजली गई वैसे तू भी पति के यहाँ भाग जाएगी और देखते देखते मुझे भूलेगी भी।"

माँ की गोद में बैठ मैं जीजी की ओर तुच्छता से देखने लगा।

दीदी का विवाह मेरे जन्म के पूर्व ही हो चुका था। जब मैं दूधपीता बच्चा था तब मँजली की शादी हुई थी। कभी कभी दो चार दिन के लिये वे मैंके चली आती थीं। इसलिये मेरा उनका खास प्रेम न था। जीजी से अवश्य मेरी विशेष घनिष्ठता थी। किन्तु उसमें दो बड़े ऐब थे। एक तो वह हमेशा बड़प्पन का फ़ायदा ले मुझे चिढ़ाया करती थी। दूसरे, वह बड़ी ही भीरु थी। उसकी भीरुता मुझे बिलकुल पसंद न थी। दारोगा का लड़का होने के कारण मुझे जहाँ तहाँ ढीठता जताने में मौज आती थी।

आम की कैरी चाहे जितने ऊँचे पर लगी हो। सरपट पेड़ पर चढ़ उसे तोड़ने में और साथियों के साथ खट्टा मुँह बनाते उसे खाने में मुझे बड़ा आनंद मिलता था। खेलते समय सनसनाती हुई गिल्ली एक हाथ से मैं लैंका करता था। लड़कों को लेकर नदी किनारे के खेतों में नये भुट्टों पर हाथ साफ़ करने में भी मैं सिद्धहस्त था। बेचारा मालिक दारोगा का लड़का इस डर से मुझसे कुछ भी न कहता था। मैं समझता था कि वह मेरी शूरता से डरता है।

एक बार एक लड़के के दिमाग़ से अजब सूझ निकली। ज़ीने के नीचे एक

बालटी रखी जाय और ज़ीने परसे मनुष्य नीचे गड़गड़ाते गिरने का प्रयत्न करे तो बालटी में किस तरह गिरेगा ? सिर ऊँचाकर या नीचा ? उसका कहना था कि गिरने वाले का सिर नीचे रहेगा। मैंने ज़ीने की सीढ़ियाँ मन ही मन गिन हिसाब लगाया और निश्चित किया कि मनुष्य का सिर ऊपर ही रहेगा। वह अपना कहना छोड़ने को तैयार न था। मैंने भी हठ पकड़ा। मेरा कहना सच है यह सिद्ध करने के लिये मैंने ही वह प्रयोग कर दिखाया। मेरे सिर नीचा कर बदन उछालने के पहले जीजी मारे डर के चिल्लाकर भागी। मैंने अपना शरीर सीढ़ी से नीचे छोड़ दिया। फ़ुटबाल के सदृश सीढ़ियों पर से उछलता हुआ मैं नीचे आया। हर सीढ़ी पर मेरा शरीर उपटा खा रहा था। मानों हड्डी सील–लोढ़े में पिस रही थी। पर अंतमें बालटी में मेरे पैर जाते देख मैं खुशी से चिल्लाया 'मैं जीता' 'मैं जीता'। मुझे पता नहीं आगे क्या हुआ।

जब मेरी आँख खुली तब रक्तचंदन इत्यादि का लेप मेरे शरीर में लगा माँ मेरे सिरहाने बैठी हुई थी। आँख खुलते ही उसने 'दिनू' 'दिनू' कर पुकारा। उसकी पुकार सुनकर पास ही के कमरे से पिताजी आए। उन्होंने भी पुकारा और मैंने 'हाँ' कहा। माँ की तरफ़ देखते हुए वे बोले "क्यों बेकार आँसू पोंछ रही हो। पत्थर सा मज़बूत है वह। कल ही अच्छा हो जायगा। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि बच्चा एक नंबर का साहसी है। मैं केवल एक दारोगा ही हूँ। पर अपना दिनू पुलिस का कप्तान हुए बग़ैर न रहेगा। सच है ना दिनू भैया ?"

अंतिम वाक्य कहते हुए वे बड़े प्रेमसे मेरे पास आए, नीचे बैठे, और मुँह मेरे पास लाकर उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, "सच है ना दिनू भैया ?"

मैं मारे खुशी के सिर हिला कर हाँ कहने वाला था। किन्तु पिताजी के मुँह से ऐसी तीखी बू आई कि मैंने मुँह फेर लिया! मैंने माँ की और देखा और सँभलते हुए कहा, "माँ, समझीं, मैं पुलिस का कप्तान हूँगा।"

आगे कितने ही दिनों तक मैं माँ के ईश्वर के पास दो चीज़ें माँगता रहा—

मुझे पुलिस का कप्तान कर और पिताजी के मुँह को ऐसी बू न आने दे।

किन्तु शीघ्र ही मुझे विश्वास हो गया कि माँ का ईश्वर कुछ—कुछ भी नहीं कर सकता।

मुझे ठीक ठीक याद नहीं है। शायद मैं अंगरेजी पहली या मराठी चौथी कक्षा में पढ़ता था। बहुत करके अंगरेज्जी पहली में ही।

एक दिन रात को माँ की चीख़ सुन मैं घबराकर जाग उठा। पहले मैंने सोचा–वह चीख मैंने स्वप्न में ही सुनी है। पास ही माँ का बिस्तर था। वहाँ मैंने टटोलकर देखा। माँ वहाँ न थी।

"मैं तुम्हारे पैरों गिरती हूँ!" पास ही में कहीं उसके शब्द मुझे सुनाई पड़े। रोने का भी भास हुआ। मेरी समझ में कुछ भी न आता था।

मेरे मन में संदेह हुआ—मकान में चोर तो न घुसे होंगे। माँ को पकड़ वे शायद उसके जेवर वग़ैरह निकालते हों!

कमरे में अँधेरा ही था। पर मैं साहस कर उठा। कोने में का डंडा उठाया और धीरे धीरे आगे बढ़ा।

माँ का रोना मुझे अब स्पष्टतया सुनाई देने लगा।

वह पिताजी के कमरे में रो रही थी। मैंने सोचा कि चोरों ने उसे पिताजी के कमरे में बंद कर रखा है। माँ ने मुझे बताया था कि कार्यवशात् पिताजी रात बेरात मकान लौटते थे। वे घर नहीं हैं यह देखकर ही बदमाश अंदर घुसे होंगे। पर उन्हें यह पता नहीं कि पुलिस दारोगा का कप्तान होने वाला लड़का मकान में है। वह उनकी चमड़ी उधेड़े बग़ैर न रहेगा।

इस प्रकार विचार कर, काँपते हुए पैरों को धीरज बँधा, मैं कमरे के दरवाज़े तक गया। शायद दरवाज़ा अंदर से बंद हो इसलिये मैंने बड़े ज़ोर से उसपर लात मारी।

किन्तु दरवाज़ा बंद न था।

वह धड़् से खुला और मुझे यह दृश्य दिखा—

अंदर पिताजी और माँ दोनों ही थे। पिताजी दाहिने हाथ से माँ को तड़ातड़ तमाचे जमा रहे थे और बायें हाथ से बोतल आगे कर 'पियो' 'पियो' कह रहे थे। उस समय ठीक से मालूम न था कि वे क्या पीने को कह रहे हैं। किंतु ज्योंही उन्होंने माँ को मारने के लिये हाथ उठाया, मेरे क्रोध का पारावार न रहा। मैं दौड़कर आगे बढ़ा और मैंने हाथ में का डंडा उनकी कलाई पर दे मारा।

एकदम उनके होश ठिकाने आ गये। एक क्षण हाथ टूटसा गया। किन्तु दूसरे ही क्षण वे मेरे पास आकर चिल्लाये, "हरामी कहीं का! मुझे मारता है—तेरे बाप को मारता है—पुलिस के दारोगा को मारता है—यदि तेरे प्राण न लिये तो नाम का—"

मुझे मारने के हेतु उन्होंने हाथ उठाया। किन्तु बीच में माँ आ जाने के कारण उसे ही मार सहनी पड़ी !

वह मुझे खींचती हुई कमरे से बाहर लाई।

उस रात मुझे पास ले वह घंटों रोती रही। जब मैं उसकी आँखें के आँसू पोंछता तो थोड़ी देर के लिये रोना बंद हो जाता। किंतु मेरे किसी भी प्रश्न से वह फिर रोने लगती।

मैंने कहा, " पिताजी बहुत बुरे हैं ! "

वह बोली, " ऐसा नहीं कहते बच्चे। वे बुरे नहीं हैं। हमारा भाग्य ही फूटा हुआ है। "

" भाग्य किसके हाथ में होता है ? "

" ईश्वर के ! "

" फिर तुम्हारा ईश्वर हमारा भाग्य क्यों नहीं बदलता ? "

वह चुप रही। मैंने फिरसे वही प्रश्न किया तब वह बोली, " दिनू, यदि ईश्वर भी भाग्य की लकीर बदल सकता तो राम वनवास को क्यों जाते ? "

वह चाहती थी कि मैं सो जाऊँ इसलिये वह मुझे थपकियाँ देने लगी। उसे कुछ आराम मिलने के हेतु मैंने नींद का बहाना किया। किन्तु दो बातें मेरे मन से हटाये न हटती थीं।

पिताजी दारोगा हैं। वे अपनी पत्नी को पीटते हैं। पुलिस का कप्तान तो दारोगा से बहुत बड़ा होता है। वह तो अपनी स्त्री को गोली का ही निशाना बनाता होगा। ना बाबा, चाहे जो कुछ हो मैं पुलिस का कप्तान न बनूँगा।

और माँ कितनी भी गुस्सा हुई तो भी उस ईश्वर को नमस्कार न करूँगा, उसके पैरों न गिरूँगा। (वह तो केवल नैवेद्य डकारने वाला ईश्वर है।)

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि दूसरे दिन माँ को मारने की सजा पिताजी को अवश्य दी जाए। फिर मुझे नींद लग गई।

दूसरे दिन शाम को मदरसे से लौटते समय मैंने रास्ते पर के तीन तार पैने पैने पत्थर बीनकर किताबों के थैले में रख लिये। मेरा इरादा था कि अब कभी पिताजी ने माँ पर हाथ उठाया तो थैले के पत्थरों से उसका जवाब दूँगा।

थैला खूँटी पर टाँग कर ' माँ भूख ' कहते हुए मैं रसोईखाने की ओर दौड़ा। माँ अभी तक मुकटा ही पहने हुए थी। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ।

मैंने पूछा, " क्या तुमने अभी तक खाना नहीं खाया ? "

उसने उत्तर दिया, " नहीं ! "

वह बुधवार का दिन था । माँ सोमवार और शनिवार को व्रत रखा करती थी । इससे यह स्पष्ट था कि आज व्रत न था । फिर अभी तक उसने खाना क्यों नहीं खाया ?

मैंने कहा, " पहले तुम खाना खा लो फिर मुझे कुछ नाश्ता देना । "

" बेटा, मुझे खाना खाने में अभी देर है । "

" क्यों ? "

" वे कचहरी में भूखे हैं । कोई तो भी भारी मुक़दमा चल रहा है । वे भूखे हैं और मैं खाना कैसे खा लूँ ? "

कल रात पिताजी ने माँ को खूब पीटा था । वह सब भूल, बेचारी पाँच बजे तक उनकी राह देखती भूखी ही बैठी है । मेरा मन माँ के प्रति श्रद्धा से भर गया ।

उसकी तबियत खास अच्छी न थी । फिर भी हमेशा पूजा, व्रत इत्यादि किया करती थी । और उस पर भी इस तरह पिताजी के लिये इतनी देर तक भूखा रहना ! उनका भोजन होने के पहले कुछ भी ग्रहण न करना !

मैंने कहा, " यदि तुमने भोजन कर भी लिया तो भी पिताजी कुछ न कहेंगे । "

" वे तो इसी लिये गुस्सा होते हैं कि मैं उनकी राह देखती बैठी रहती हूँ । किन्तु— "

" किन्तु क्या ? "

" मैंने पहले भोजन कर लिया तो मेरा पत्नीधर्म ही क्या रहा, दिनू ? "

किसी को लकवा मार जाय और बिजली की मशीनद्वारा उसमें कुछ रक्त का दौरदौरा प्रारंभ हो । यही हाल मेरे मन का था । उस दिन जीवन में प्रथम मैंने अनुभव किया कि (अपने सुख की अपेक्षा, अहंकार की अपेक्षा, एवँ जीवन को अत्यंत उपयोगी अन्नजल की अपेक्षा भी मनुष्य के जीवन में भावना अधिक मूल्य रखती है । उस भावना को माँ ' मेरा धर्म ' कह कर पुकार रही थी ।) ऐसी माता के उदर से जन्म ले मैं पिताजी का बदला चुकाता ? छुकछुप कर उन पर पत्थर फेंकता ?

असंभव ! नितान्त असम्भव ! मैं बाहर गया, थैले में के पत्थर निकाले और उन्हें फेंकने ही वाला था कि—

मेरे लिये नाश्ता ले माँ बाहर आई। उसने पूछा, "कहाँ के पत्थर इकट्ठे कर रखे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "हमारी कक्षा में एक बड़ा शैतान लड़का है। वह हर किसी के थैले में पत्थर ही भर दिया करता है।"

माँ अपने धर्म का पालन कर रही थी। किन्तु मेरी समझ में न आता था कि मेरा धर्म क्या है। इस तरह के विचारों के कारण पढ़ाई पर से मेरा मन उचट गया। मुझे यह पूर्णतया ज्ञात हो गया कि मेरे पिताजी शराबी हैं। नगर में उनके बारे में कोई भी अच्छा मत न रखता था। यदि स्कूल में मुझसे कोई गलती हो जाती तो मास्टरसाहब की आलोचना का वाक्य भी एक ही होता था। "तुम्हें पढ़ाई से क्या मतलब! दारोगा के बेटे को शैतानी ही सुहाती है।"

इसी बीच जीजी का विवाह हो वह ससुराल चली गई। अब घर में हम इने गिने तीन ही आदमी रह गये। पिताजी, माँ और मैं! पिताजी रात बेरात जब चाहे मकान लौटते थे। कभी कभी तो वे होश में भी न रहते थे। मेरी पढ़ाई लिखाई के बारे में उन्होंने कभी पूछताँछ न की। मैंने भी उनसे बोलना क़रीब क़रीब छोड़ ही दिया था।

घर के काम से और देवपूजा से माँ को दम लेने को भी फुरसत न थी। यदि वह केवल एक बार भी पीठ परसे हाथ फेरती तो मेरा हौसला बढ़ जाता। किन्तु मुझसे बहुतेरी चर्चा करने का मौका उसे बहुत ही कम मिलता। यदि किसी इतवार के दिन मैं उसके सिर पर बैठ कुछ पूछने ही लगता तो वह कहती, "तुम तो अब लगे हो अंगरेज़ी पढ़ने! क्या मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दे सकती हूँ?"

मेरा चित्त पढ़ाई में तो न था—घर में खेलनेवाला भी बराबरी का कोई न था। फिर मैंने समय काटने के लिये किताबें पढ़ना प्रारंभ किया। देखते ही देखते किताबों में मेरा जी लगने लगा। रामायण, महाभारत, हरि नारायण आपटे के उपन्यास, खाडिलकर एवँ गडकरी के नाटक—जो कुछ हाथ लगा सब पढ़ डाला। पढ़ते पढ़ते मेरा विचारचक्र भी शुरू हुआ।

वृत्रासुर का पराभव करने के लिये दधीचि ने किस तरह अपनी हड्डियों से वज्र निर्माण किया यह कथा मैंने अनेकों बार पढ़ी। उस कथा में न लिखी हुई अनेकों बातें मुझे कल्पनासृष्टि में दिखाई देने लगीं। दधीचि के पुत्र तथा पत्नी उनसे

बिनती कर रहे हैं, " प्राण–त्याग न कीजिये " किंतु ऋषिवर उनसे कह रहे हैं, " यह मेरा धर्म है ! "

खाडिलकर के ' भाऊबंदकी ' नाटक में का रामशास्त्री—राघोबादादा पेशवा को देहान्तप्रायश्चित्त की सजा सुनानेवाला रामशास्त्री—मुझे बहुत अच्छा लगा। मनुष्य अन्नजल के लिये नहीं जीता। वह जीता है धर्म के लिये। दिन प्रतिदिन मैं यही सोचा करता था।

उन्हीं दिनों मैंने मिले उस जीवनचरित्र का आदि अंत देख डाला। उनमें के कितने ही मुझे आज भी याद हैं। राणा प्रताप, लोकमान्य तिलक, अल्फ्रेड दि ग्रेट, लिविंग्स्टन, गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी—

इन सब महान् पुरुषों में गांधीजी मेरे विचारों से बहुत कुछ मिलते हैं। उसी समय उनका असहयोग और खादी आंदोलन जोर शोर से चला हुआ था। रामगढ़ के रियासती वातावरण में भी कभी कभी उस आंदोलन की प्रतिध्वनि सुनाई देती थी। किन्तु उस प्रतिध्वनि से भी हमारे मन ऊँचे उठ जाते थे।

उसी धुन में हमारी कक्षा ने एक स्वर से गांधी–टोपी पहनने का निश्चय किया।

एक दिन मेरी गांधी टोपी पर पिताजी की नजर पड़ी। उन्होंने वह उठाकर सड़क पर फेंक दी। मेरी ओर गुस्से भरी आँखों से देख वे बोले, " फिर ऐसी टोपी कभी न पहनना। जानते हो तुम एक सरकारी नौकर के लड़के हो। "

उस दिन रात को मैं करवटें बदलता रहा। करवटें बदलता जाता था और मन ही मन कहता जाता था—सरकारी नौकर होना भी एक टेढ़ी खीर है। कुछ भी हो म कभी सरकारी नौकर न हूँगा।

दूसरी टोपी पहनकर मदरसे जाना मेरे जी पर आया। किन्तु माँ ने एक मार्ग सुझाया। उसने मुझे दूसरी गांधी–टोपी मोल लाने को कहा। मैंने उसकी खातिर मदरसे में गांधी–टोपी और बाहर हमेशा की टोपी पहनना मंजूर किया। जीवन की लड़ाई में अनिच्छा से भी कई संधियाँ करनी पड़ती हैं। मेरी वह पहली ही संधि थी।

किन्तु पिताजी की भीरुता का शल्य मेरे मन को बार बार वेदना पहुँचा रहा था। पिताजी होंगे सरकारी नौकर! पर उनके बेटे के गांधी टोपी पहनने से सरकार का क्या बिगड़ता है? और सरकारने जो चाहे कहा भी। किन्तु पिताजी को क्या वह सुनना चाहिये?

एक दिन मैंने यह माँ से कह सुनाया। तव वह वोली, "तुम्हारे पिताजी भीरु नहीं हैं। बहुत शूर हैं।"

"काहे परसे ?"

"दीदी के जन्म के समय की वात है। नदी की वाढ़ में एक वसोर का बच्चा बहा चला जा रहा था। उन्होंने वाढ़ में कूदकर उसे वचा लिया।"

मारे अभिमान के मेरी छाती फूल गई। किन्तु मैं यह न समझ पाया कि इतना साहसी पुरुष एक जरा सी बात के लिये सरकार से क्यों डरे।

मैंने यह संदेह फिर माँ से कहा। वह बोली, "उन्हें डर है कि कहीं नौकरी न छूट जाय।"

"छूट जाय तो छूट जाय !" मैंने कहा। माँने कहा, "बेटे, तुम अभी छोटे हो। यदि उनकी नौकरी छूट गई तो हम खाने को भी मुहताज हो जाएँगे। दीदी अच्छे घर पड़े इसलिये उन्होंने बड़ा दहेज दिया है। वे दारोगा हैं और व्याज ठीक समय पर दे रहे हैं इसलिये साहूकार घर पर धरना दे नहीं बैठते। पर कल यदि उनकी नौकरी छूट गई तो—" उसाँस ले वह फिर बोलने लगी—

"जब तक तू नहीं कमाता, उन्हें नौकरी करनी ही पड़ेगी !"

"पर सरकारी नौकरी और गांधी-टोपी का परस्पर क्या संबंध है ?"

माँ को कोई उत्तर न सूझ पड़ा। अंत में उसने कहा, "यह तो मुझे भी नहीं मालूम। पर वे कह रहे थे कि गांधी-टोपी राजासाहब को पसंद नहीं।" थोड़ी देर ठहरकर मेरी पीठ पर हाथ फेरती हुई वह बोली, "दिनू, तू अभी बच्चा है ! बेकार दिमाग़ खराब न कर। ठीक ठीक पढ़ाई कर। परीक्षा में सफलता प्राप्त कर। वकील बन पैसा कमा। फिर आराम से इन बातों का विचार कर। मेरी दूसरी और कोई इच्छा नहीं है। फिर मैं सुख से मर सकूँगी।"

आगे वह कुछ न बोल सकी। उसकी आँखों के कुछ आँसू मेरे गालों पर गिरे। मैंने निश्चय किया।—पिताजी शराबी हैं। उन्हें कर्ज़ा भी है। इसलिये माँ को सुखी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि खूब पढ़ाई कर मैं ऊँची ऊँची परीक्षाएँ पास करूँ और खूब खूब रुपया कमाऊँ—

अब मुझे पढ़ाई के सिवा कुछ न सूझता था। हमारे मदरसे में मुझसे दो-तीन कक्षाएँ आगे एक बड़ा होशियार लड़का था। अपनी क्लास में हमेशा पहला

नंबर रहता था उसका। सब उसी की प्रशंसा किया करते थे। उसका नाम था भगवन्त शहाणे।

वह घर का बिलकुल ही ग़रीब था। पर हर साल परीक्षा में सब विषयों के पुरस्कार वही प्राप्त करता था। मैंने उसी का अनुकरण करना तय किया। राजासाहब का ध्यान भी उसकी ओर आकृष्ट हुआ था। नगर में यह भी वदंता थी कि वे उसे उच्च शिक्षा के लिये कालिज तथा विलायत भी भेजने वाले हैं। मेरी भी इच्छा हुई कि शहाणे समान पढ़ाई कर राजासाहब का कृपापात्र बनूँ। मेरी पढ़ाई जोर से प्रारंभ हुई।

किसी भी उपन्यासकर्ता की प्रतिभा में इतनी चतुरता नहीं हो सकती जितनी आश्चर्य के धक्के बार बार देने वाले विधाता में होती है। जिन राजासाहब का कृपापात्र बनने का ध्येय अंगरेज़ी चौथी पाँचवीं में मेरे सन्मुख था उन्हीं राजासाहब की अवकृपा की तृणमात्र भी पर्वाह न करना आगे मेरा धर्म सा हो गया। विद्यार्थी दशा में भगवन्त शहाणे को मैं आदर्श मानता था। किन्तु जब मुझे प्रतीत हुआ कि संसार के बाजार में उसने अपनी बुद्धि मिलने वाली कीमत में बेच दी तो उसी के बारे में मेरे मन में अनादर उत्पन्न हो गया। और—जो सुलोचना मुझ पर प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी उसी सुलोचना के प्रेम के कारण मुझे प्राणों से हाथ धोना पड़ रहा है।

जीवन एक अद्भुतरम्य कथा है!

किन्तु इस कथा में मेरा उस समय का कार्य विशेष रम्य न था। कभी कभी मैं सोचा करता कि मेरा सब काम एक मशीन की तरह चल रहा है। ठीक गेहूँ पीसने की मशीन की तरह!—उदाहरणमाला के सवाल लगाना—शब्दार्थसंग्रह में से कठिन शब्दों के अर्थ लगाना—और व्याकरण के क्लिष्ट नियम याद करना—किन्तु माँ की याद आते ही मेरी सब थकान दूर हो जाती और मैं फिर बड़े उत्साह से अपने कार्यक्रम में लग जाता।

उस साल वार्षिक परीक्षा में मेरा पहला नंबर आया। मुझे तीन रुपये मासिक की छात्रवृत्ति भी मिली। पहले तीन महीनों के नौ रुपये जब मैंने माँ के हाथ पर रखे तो उसकी आँखें आनंद से भर आईं। मानो उसके प्रिय पुत्र ने त्रिभुवन की संपत्ति ही उसे लाकर दी थी!

बड़ी रात गये पढ़ते पढ़ते जब मैं ऊब जाता तो मैं माँके आनंद भरे उन नेत्रों को याद करता और मन से कहता कि वे आँखें उसी तरह सुखी रहनी चाहिये।

इसी समय हमारी कक्षा में जोशी नाम का एक विद्यार्थी आया। उसकी और मेरी शीघ्र ही मित्रता हो गई। किन्तु यह पहेली किसी को भी न बुझती थी। क्लास में मेरा नंबर पहला तो ये महोदय हमेशा फिसड्डी। मैं शरीर का दुबला पतला। किन्तु जोशीजी का शरीर मेहनत से पुष्ट। इसीलिये हर एक को आश्चर्य होता था कि हमारी मित्रता हुई कैसे।

अनायास ही हम दोनों मित्र बन गये थे। हमारे मित्र गृहपाठ के लिये दिए हुए गणित के उदाहरण कभी न करते थे। मास्टरसाहब भी उन्हें नोटिस दे दे कर थक गये। अंत में उन्होंने उसे कक्षा से निकाल देने की धमकी भी दी। जिस दिन उसे विश्वास हो गया कि वह प्रयोग होकर ही रहेगा उस दिन दोपहर की छुट्टी में जोशीबाबा ने मेरी सवालों की नोटबुक माँगी। मैंने भी आनंद से दे दी। उस दिन जोशीबाबा की सवाल करने की शक्ति देखकर मास्टरसाहब दंग रह गये। पर अंदर की बात मुझे और जोशी को ही मालूम थी।

उस दिन छुट्टी होने पर जोशी मुझसे बोला, "सरदेसाई, तुम्हारे उपकार मैं कभी न भूलूँगा।" मैंने हँसते हुए उत्तर दिया, "इसमें उपकार की क्या बात है?"

उसने पूछा, "तुम्हें संगीत से रुचि है?"

मेरा ईश्वरमें का विश्वास कभी का उड़ चुका था। किन्तु सबेरे ही सबेरे माँ जो भैरव और भूपाली के भजन कहा करती थी उन्हें बिस्तर पर पड़े ही पड़े सुनने में मुझे बड़ा आनन्द मिलता था।

मैंने जोशीबाबा को उत्तर दिया, "मैं भी तो मनुष्य ही हूँ!"

'शाबाश' कह वह मुझे क़रीब क़रीब हाथ पकड़ खींचते ही अपने यहाँ ले गया। उसके यहाँ तानपूरा, तबला इत्यादि साहित्य देखकर मैंने पूछा, "क्या तुम गाना सीखते हो?"

वह अभिमानपूर्वक बोला, "अर्थात्! मेरी समझ में तो गणित की अपेक्षा संगीत ही अधिक सरल है।"

"तुम किसके पास गाना सीखते हो?"

" मेरे बड़े भाई अच्छे गायक हैं। उन्हें हाल ही में दरबार में नौकरी मिली है। इसीलिये तो हम यहाँ रहने आये हैं। "

मुझे चाय पिलाने के बाद वह बोला, " अच्छा बताओ कौनसा गाना सुनाऊँ तुम्हें ? "

मैं एकदम बोल उठा, " माँ का। "

उन दिनों कवि यशवन्त की ' आई ' (माँ) बहुत ही लोकप्रिय थी। मैं उसे हमेशा गुनगुनाया करता था। किन्तु जोशीबाबा के गले से वह अधिक मधुर सुनाई दे इस विचार से मैंने कहा था।

मैंने माँगा हुआ वर सुन मेरा ईश्वर कुछ चक्करा सा गया। थोड़ी देर विचार कर जोशी बोला, " मुझे माँ की एक ही कविता आती है! कविता याने शिशुवर्ग के किताब में की एक पंक्ति। ' माँ तेरे उपकार, न भूलूँ '। "

हँसते हँसते मेरे पेट में बल पड़ गये।

खोई हुई चीज अचानक मिल जानेसे मनुष्य के चेहरे पर हर्ष की झलक आ जाती है। वही झलक जोशीबाबा के चेहरे पर चमकने लगी। मुझे उसका कारण मालूम न था।

जोशीबाबा गाने की बैठक जमाते हुए बोले, " अच्छा सुनो, माँ का गाना! "

वह ' वंदे मातरम् ' कहने लगा।

वह गीत मैंने पाठशाला में तथा नगर की अनेक सभाओं में कई बार सुना था। पर उसके कई शब्द सभाओं के कोलाहल के मारे मैं ठीक से समझ न पाया था।

जोशी मधुर एवँ स्पष्ट आवाज से कह रहा था—

सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्—
शस्य श्यामलां मातरम्।
वन्दे मातरम्।

मेरी आँखों के सामने गंगा जमना का अथाह जल नाचने लगा। मोती की बालें नचाने वाले काले काले खेत आ खड़े हुए।

जोशी गा रहा था—

सप्त कोटि कंठ कलकल निनाद कराले,
द्विसप्त कोटि भुजैर्धृत खर करवाले।

मैं संस्कृत अच्छी तरह जानता था। मैं सोचने लगा। यह गीत कब रचा गया है? हमारा देश तो निःशस्त्र है और कवि तो वर्णन कर रहा है कि चौदह करोड़ हाथों में तीक्ष्ण कृपाण चमक रहे हैं।

मेरा दिमाग़ चकरा गया। मुझे उन दिनों पता न था कि यह गीत बंकिमचंद्र के आनंदमठ नामक ऐतिहासिक उपन्यास में है।

जोशी का गाना समाप्त न हुआ था—

तुमि विद्या तुमि धर्म
तुमि हृदि तुमि मर्म
त्वं हि प्राणाः शरीरे

उसके आगे के शब्दों की ओर मेरा ध्यान ही न था। 'तुमि धर्म' 'तुमि धर्म' ये ही शब्द बार बार मेरे मन में प्रवेश कर रहे थे।

'तुमि धर्म!' तू ही धर्म! मातृभूमि की पूजा यही मनुष्य का धर्म है। आजतक मैं यही मान रहा था कि माँ का दुःख दूर करना ही मेरा धर्म है। किंतु जोशी के मुँह वह गीत सुनते सुनते मुझे विश्वास हुआ कि मेरी दो माताएँ हैं। दोनों ही दुःखमग्न हैं। दोनों को सुखी करना मेरा धर्म है।

जोशी की मित्रता के कारण मुझे कविताएँ गाने का शौक सवार हुआ। मैं खूब कविताएँ याद करने लगा। और उन्हें कह सुनाने भी लगा। कभी कभी रचना करने की भी धुन सवार होती। किन्तु वह मोह, पढ़ाई में रोड़ा न अटके, इस विचार से मैंने दूर रखा।

हर परीक्षा के समय होने वाली दौड़धूप, नतीजा निकलने तक होने वाली मन की उथल पुथल, पहला नंबर आने पर होने वाला आनंद, पारितोषिक वितरण के दिन राजासाहब के हाथ से पारितोषिक लेते समय पिटने वाली तालियाँ—और तालियाँ सुन जागृत होने वाला मेरा अभिमान—इन सारी बातों को मैं कभी न भूलूँगा ऐसा मैं उस समय सोचा करता था। किन्तु आज—

सूखे हुए पुष्प के समान हैं वे बातें! केवल एक ही बात बार बार याद आती है।

सब लोग हमारे अंगरेज्ञी अध्यापक की बहुत प्रशंसा किया करते थे। अंगरेज्ञी शब्दों के उच्चारण वे अंगरेज्ञों समान करने की बड़ी दक्षता रखा करते थे। विद्यार्थी

हमेशा गर्व के साथ कहा करते थे कि उनके यहाँ कुछ नहीं तो दस बारह अंगरेज़ी शब्दकोश अवश्य हैं।

इन अध्यापक महोदय ने एक दिन हमें एक कविता पढ़ाना शुरू किया। कविता का प्रारंभ इस प्रकार था—

Rule Britannia, Britannia rules the Waves.
Britons never shall be slaves.

मुझसे उन पंक्तियों का अर्थ पूछा गया। मैंने शाब्दिक अर्थ देकर पिंड छुड़ाया। "ब्रिटिश लोग कभी किसी के ग़ुलाम न होंगे।" इस दूसरी पंक्ति पर अध्यापकजी ने एक अच्छा खासा व्याख्यान दिया।

मुझसे न रहा गया। मैं खड़ा हो गया।

"कुछ पूछना चाहते हो?" उन्होंने पूछा!

"जी हाँ।"

"अरे वह जोशी भी समझ गया होगा यह पंक्ति! और तुम शंका पूछना चाहते हो?"

"आपने अभी बताया कि अंगरेज़ ग़ुलामी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं।"

"अच्छा फिर?"

"किसकी ग़ुलामी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं वे?"

"क्या मतलब?"

"वे स्वयं ग़ुलाम रहना पसंद न करते होंगे! किन्तु दूसरों को अपना दास बनाना उन्हें सर्वथैव श्रेयस्कर ही मालूम होता है।"

अध्यापकजी मेरी ओर देखते ही रहे। मैंने कहा, "यदि उन्हें सचमुच ग़ुलामी से घृणा होती तो क्या उन्होंने हमारे देश को स्वतंत्रता प्रदान न की होती?"

"शट् अप्! सरदेसाई, पाठशाला में पढ़ने आते हो तुम! राजनीति की चर्चा करने नहीं। जब तुम 'केसरी' के संपादक बनना तो अवश्य इस विद्वत्ता को प्रकट करना। हाँ, जोशी, पढ़ो,

Rule Britannia, Britannia rules the waves.
Britons never shall be slaves."

वह दिन पूरा का पूरा बेचैनी से बीता।

"हम कभी भी ग़ुलाम न होंगे।" अंगरेज़ों के इस निश्चय की स्तुति

करनेवाले हमारे अध्यापकजीको हमारी गुलामी की कुछ भी पर्वाह नहीं यह देख मैं आश्चर्यचकित हुए बग़ैर न रहा। "हम हिन्दुस्थानी भी ग़ुलाम न रहेंगे।" इस प्रकार की कोई रचना कर हमें पढ़ाना उनका कर्त्तव्य था। किन्तु वे तो उलटे, राजनीति का पाठशाला से कोई संबंध नहीं यह कह विद्यार्थियों की वीरवृत्ति को निस्तेज बना रहे थे। इस में कोई संशय न था कि हमारे अध्यापकजी विद्वान् थे। किंन्तु उनकी भावनाएँ ? वे बरफ़ के समान जम गई थीं। उदरभरण के लिये वे तोते की रट लगा रहे थे। उसके परे उन्हें कुछ दिखाई ही न देता था।

माँ पर मेरी भक्ति और दृढ़ होती गई। मुझे विश्वास हो गया कि अंगरेजी उच्चारणों में शक्ति-सर्वस्व खर्च करनेवाले उन बुद्धिमान् अध्यापकजी की अपेक्षा र, ट, फ, कर मराठी पढ़ने वाली मेरी भोलीभाली माँ कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अपना निज का कोई धर्म है, उस धर्म का आचरण करने के लिये कष्ट सहन करना चाहिये यह विश्वास उसके रोम रोम में भरा था। वह इस कल्पना से जीवित न थी कि जीवन एक बाज़ार है। उसकी दृष्टि में जीवन एक देवालय था। शायद अध्यापकजी का विश्वास था कि मनुष्य लेन देन पर जीवित रहता है। माँ की श्रद्धा थी कि मानव का जीवन भक्ति पर आरूढ़ रहता है।

मैं शीघ्र ही दसवें दर्जे में पहुँचा।

यह नहीं कहा जा सकता कि इस बीच का मेरा जीवन सुख से बीत रहा था। यह सच था कि मुझे काव्यामृत का रसास्वाद लेने में अधिकाधिक आनंद प्राप्त होने लगा था। और अख़बार पढ़ने की भी आदत मुझे पड़ने लगी थी। उन्हीं दिनों गांधीजी ने एक सुप्रसिद्ध अनशन किया था। उस समय हर रोज सबेरे उठ डाकघर में जा ताज़ा अख़बार पढ़े बिना मुझे चैन न आता था। जिस दिन गांधीजी ने अनशन तोड़ा उस दिन का मेरा आनंद अवर्णनीय था। मानो मेरी माँ ही बीमारी से उठ बैठी थी !

मेरा मेट्रिक का साल बहुत ही कष्टमय था। किसी झमेले में पड़ने के कारण पिताजी को दो चार महीने घर ही बैठा रहना पड़ा था। जब वे काम पर थे तब कम से कम शराब का अड्डा तो बाहर रहता था। अब घर ही शराबखाना हो रहा था। और माँ की तकलीफ़ों का पारावार न था। पिताजी का कहना था कि उनका कोई अपराध न होते हुए भी उच्च अधिकारियों ने डाह के कारण उनपर दोषारोप

किया था। इस अपमान से चिढ़कर पिताजी अधिक मात्रा में शराब पीने लगे थे। फिर रात भर हमारे यहाँ जो तांडव होता—

एक प्रसंग मुझे ज्यों का त्यों याद है! मैं कमरे में पड़ा हुआ बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का अच्छोद–सरोवर–वर्णन पढ़ रहा था। बीच में ही एक शब्द मैं न समझ सका। मैंने श्री. आपटे का संस्कृत कोश खोला। इतने में मुझे रसोईघर से माँ की 'दिनू' 'दिनू' पुकार सुनाई पड़ी।

मैं उस ओर दौड़ा। पिताजी खाने बैठे थे। किंतु थाली में ही उन्हें उलटी हो रही थी। वह हृत्कंपक दृश्य—

रात को मैंने विषण्ण हो माँ से कहा, "माँ, मैं पाठशाला जाना बंद किये देता हूँ। कहीं तो भी दस–पंद्रह रुपये की नौकरी मिल ही जायगी। पर तुम्हें इस नरक में अब मैं नहीं देख सकता"

वह बोली, "उन्हें छोड़ मैं कहीं, कहीं, भी नहीं जाना चाहती!"

"क्यों?"

"उनकी सेवा करना ही मेरा धर्म है।"

मैंने माँ से बहुतेरी बहस की। मेरे सब प्रश्नों के उत्तर उसने मुँह से नहीं दिये। किन्तु आँखों से! उसकी आँखों से बहती हुई भावना के सन्मुख मेरे बुद्धि की चतुराई फीकी से पड़ गई। मानो उसकी विशाल स्नेहार्द्र आँखें कह रही थीं, "मनुष्य सुख पर नहीं जीवित रहता। वह जीवित रहता है धर्म पर!"

फिर मैंने भी निश्चय किया। जिस प्रकार माँ एक कर्त्तव्य को धर्म मानती है उसी तरह मेरा भी कोई धर्म है। मेट्रिक पास होने पर आगे न पढ़ूँगा। मिले वह नौकरी कर माँ को यथासंभव सुख दूँगा।

मेट्रिक पास होने पर मैंने कालिज में पढ़ने की कोई कोशिश न की। मैं क्लर्की की नौकरी खोजने लगा। और दादासाहब, उसी समय यदि आप मेरे जीवन में न आते तो आज मैं अवश्य ही कहीं मोहर्रिर का काम करता होता। मेरी आयु अवश्य बढ़ जाती किन्तु मेरी कर्त्तव्यशक्ति का बिलकुल विकास न होता। क्लर्क की हैसियत में यदि और पचास साल भी मैं जीवित रहता तो संसार को उसका क्या उपयोग होता? इसके विपरीत—परसों आनेवाली मेरी मृत्यु—

वह सम्मान की मृत्यु है। जिस मृत्यु से सैकड़ों लोगों में चेतना उत्पन्न होगी

ऐसी मृत्यु है । वृक्ष के बढ़ने के लिये यह आवश्यक होता है कि उसकी टहनियाँ काट दी जाएँ । मेरे मरण से हमारा आंदोलन दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा । ”

अपनी मृत्यु की ओर शान्त भाव से देखने की दिनकर की यह दृष्टि दादासाहब को अतीव तेजस्वी दिखाई पड़ी । शेर ने पकड़ी हुई बकरी शेर के अंगार जैसे चमकीले नेत्रों की ओर नहीं देख सकती । उसी प्रकार अनेकों का यह अनुभव है कि मृत्यु के पाश से जकड़ा हुआ मनुष्य प्रलयाग्निपूर्ण उन आँखों की ओर नहीं देख सकता । प्रायः शान्त और गंभीर वृत्ति के हमारे प्रिंसिपल साहब ! किन्तु जब क़रीब दो साल पूर्व उन्हें हर दिन शाम को थोड़ा थोड़ा बुखार आने लगा था तब उनका भी चित्त विचल हुए बग़ैर न रहा था । मैं उनका समाचार पूछने गया तो वे बोले, “ दादासाहब, मेरी इच्छा है कि कमसे कम दस साल और जीवित रहूँ । ” यह मुझसे कहते ही उनकी आँखों में पानी झलक गया था ।

ऐसे ही चार पाँच और उदाहरण याद आते ही, सानन्द मृत्यु का स्वागत करने वाले दिनकर के लिये उनके मन में अतीव आदर उत्पन्न हुआ ।

पास ही में रखी हुई सुराही से थोड़ा पानी पी वे फिर पढ़ने लगे ।

“ दादासाहब, अगले चार पाँच साल अत्यंत मधुर स्मृतियों से भरे पड़े हैं । और स्मृतियाँ भी कुछ थोड़ी नहीं हैं । आकाश में नक्षत्र बिखरे हों अथवा उद्यान में बेला चमेली की बहार आए उसी तरह मुझे वे दिन प्रतीत होते हैं ।

मेरी और सुलोचना की घनिष्ठता होने देर न लगी । प्रथम ही मैंने उसकी आँखें देखीं । मुझे प्रतीत हुआ कि बचपन में माँ की आँखें भी ऐसी ही दिखाई देती होंगी । मेरी सब बहनें मुझसे बड़ी थीं । मेरे सज्ञान होने के पहले ही उनका विवाह हो वे सब ससुराल चली गई थीं । इस कारण बहन के प्यार की मेरी भूख अतृप्त ही रह गई थी ।

सुलोचना के प्रति मेरे भाव खिंचे जाने लगे । और शायद इसलिये उसे कोई भाई न था, मेरे बिना उसे भी चैन न आता था । उसके प्रेम के मारे उन दिनों मेरी नाक में दम था । कहीं पेड़ा मिलना तो उसका आधा मेरे लिये रख छोड़ती । मैं यदि खाने से इनकार करता तो जबरदस्ती मेरे मुँह में ठूँस देती । बालों में से फूल निकाल कर मेरी मेज पर रख देती और यदि गुलाब का फूल होता तो कोट में अवश्य लगा देती । मुझे भी उसे पढ़ाने में, उसके साथ घूमने में, उसे कहानियाँ सुनाने में, और कविता सुनाने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता था । खैर तो यह थी कि

जिस समय मैं कालिज जाने के लिये आपके यहाँ आया उस समय वह ग्यारह साल की थी। यदि थोड़ी भी छोटी होती तो मेरी पीठ पर बैठ वह 'घोड़ा' 'घोड़ा' अवश्य खेलती और उसका 'घोड़ा' बनकर दौड़ने में मुझे भी मजा मिलता!

कहते हैं कि प्रेम अंधा होता है। सुलोचना यों ही सोचा करती थी कि उसका दिनकर एक बहुत बड़ा मनुष्य होने वाला है। एक दिन मैं उसे रघुवंश का दूसरा सर्ग पढ़ा रहा था। उस समय वह बोली, "आज से मैं तुम्हें दिलीप कह पुकारूँगी।"

दिलीप! कामधेनु के प्राण बचाने के लिये अपना बलिदान करने को उद्यत होने वाला दिलीप राजा! सुलोचना यदि मेरा वह नाम न रखती–बार बार मुझे उस नाम से न पुकारती तो—

न जाने क्या हुआ होता। किन्तु, आगे चलकर रामगढ़ की जेल से छूटने के बाद मैं इस दुबिधा में था कि क्या करूँ। उसी समय मुझे सुलोचना मिली। 'दिलीप' यह पुकार कितने बरसों के बाद मेरे कानों पर पड़ी। मैंने मन ही मन कहा कि कामधेनु की रक्षा करना यही दिलीप का कर्त्तव्य है। हमारी कामधेनु—मेरे सामने अधपेट रह निर्वाह करने वाले हमारी रियासत के हज़ारों किसानों का चित्र झलक गया।

दादासाहब, सुलोचना के कारण मेरी चित्तवृत्ति प्रफुल्लित हो गई और मेरी बुद्धि का विकास आपके कारण हुआ। आपके यहाँ की चुनी हुई किताबें पढ़कर मेरे कितने ही पूर्वग्रह नष्ट हो गये। मेरी धारणा हो गई कि जगत् का सुधार करने वाले मनुष्यों को बुद्धिवाद का ही आश्रय लेना चाहिये।

आपकी विद्वत्ता, आपका चारित्र्य—कालिज में आपकी लोकप्रियता—प्रिंसिपल साहब भी आपका लोहा मानते थे—इन सब बातों पर मुझे गर्व था। जब आप महात्मा गांधी के चरखे पर तथा प्रार्थना पर अपना कठोर टीकास्त्र चलाते तब मैं सोचा करता—क्या ही अच्छा होता यदि दादासाहब राजनैतिक क्षेत्र में भाग लेते!

किन्तु आपके प्रति असीम आदर होते हुए भी आपके कई मत मुझे मान्य न थे। आप अख़बारों की ओर तुच्छता से देखते थे। आपकी वह दृष्टि मुझे कुछ अजीब मालूम पड़ती थी। मैं सोचा करता था कि आज के अख़बार ही बहुजन-

समाज के राजकीय एवँ सामाजिक जीवन का पोषण एवँ विकास करते हैं। मेरी समझ में यह न आता था कि आप उस जीवन के प्रति इतने उदासीन क्यों थे ?

अंत में एक दिन यह पहेली बुझी। वह अत्यंत अशुभ दिन था।

सुलोचना की माँ—हम सब को, सुलोचना को, आपको, और मुझे छोड़ परलोक सिधारी थीं। मुझे इतना दुःख हुआ जितना कि स्वयं मेरी माँ की मृत्यु से होता। आँसू रोके न रुकते थे।

पर आप ? सुलोचना को गोदी में ले उसे सांत्वना देने के बजाय, उसके आँसुओं में आँसू बहा दिलासा देने की जगह, आप गीता पढ़ते बैठे !

शायद आप सोचते हों कि भावनाओं का प्रदर्शन एक लज्जास्पद बात है !

दादासाहब, क्षमा कीजिये ! मैं जानता हूँ कि आपकी पत्नीसे आपका उत्कट प्रेम था। मैं यह भी जानता हूँ कि माँ की मृत्यु के बाद आप ही ने उसे फूल के समान पाला पोसा। किन्तु उस दिन आप का गीता पढ़ना मुझे अभी तक खटकता है। आप का कर्त्तव्य था कि मुक्तकंठ से क्रंदन करने वाली सुलोचना को आप एक हाथ से खींच गोदी में लेते और दूसरे हाथ से मूक-अश्रु बहाने वाले दिनू को पास बिठाकर दोनों के मस्तकों पर गंगा-यमुना का अभिषेक करते।

किन्तु आपके बुद्धिवादी मन को यह बात कैसे सुहाती !

उस दिन मैंने ही सुलोचना की सान्त्वना का प्रयत्न किया।

दूसरे दिन कालिज में आपके धीरज की बहुतेरे विद्यार्थियों ने प्रशंसा की। किन्तु वह मुझे पसंद न थी। मैंने सोचा—दादासाहब उत्तररामचरितम् अच्छी तरह पढ़ाते हैं। किन्तु भवभूति को वे अच्छी तरह समझ नहीं सके हैं। जीवन का अर्थ रूखा बुद्धिवाद नहीं है। किसी दवाखाने में रखे हुए हड्डियों के ढाँचे को क्या मनुष्य कहा जाता है ? उसी प्रकार का यह बुद्धिवाद है।

भवभूति को आप बहुत चाहते हैं। साध्वी सीता के लिये उसने लिखा हुआ करुण रस आपने अनेकों बार तन्मय होकर पढ़ाया होगा। किन्तु प्रत्यक्ष अपनी आँखों के सामने प्रिय पत्नी की मृत्यु देख आप इतने शांत चित्त कैसे रह सके ? बुद्धि के पूजन में कभी कभी भावना का दम घुट जाता है। कम से कम आपके जीवन में तो यही हुआ था।

गांधीजी की दांडीयात्रा प्रारंभ हुई तब मैं यह बात अच्छी तरह जान गया। अपढ़ मजदूर और ताँगेवाले भी उस राष्ट्रीय आंदोलन से एकरूप हो गये थे।

पर आप गांधीजी पर प्रखर टीका करने में ही धन्यता मानते थे। सारे देश में समुद्र जैसा भयंकर तूफ़ान उमड़ पड़ा था। पर आप रत्नाकर की हिलोरों की ओर पीठ फिरा किनारे की वालुका में रेत के किले बना रहे थे। आपको इसी चिंता ने घेर रखा था कि कालिज ठीक तरह से कैसे चले।

आगे जून में मैं शिरोड़ा के सत्याग्रह-संग्राम से नमक लेकर आया। विजया दशमी के दिन सुवर्ण भेंट देते हैं ना! उसी प्रकार यह नमक आपको भेंट देने का मैंने कई बार सोचा। पर हर बार मैंने अपने मन को रोका। मुझे डर था—वह नमक देखकर आप तुच्छतापूर्वक हँसेंगे। आप उसे फेंककर कहेंगे, "दिनू, राजनीति नमकमिर्च के आंदोलन का नाम नहीं है। राजनैतिक क्षेत्र में काम करने के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञान चाहिये, आंतरराष्ट्रीय गतिविधि का गहरा परिचय चाहिये, भारतीय राज्यशासन की गुत्थी समझने की शक्ति चाहिये!"

आपका उस प्रकार का व्याख्यान बार बार सुनकर मैं ऊब गया था! मैं भावनापूर्वक आपको नमक देने जाऊँ, आप उस भावना की खिल्ली उड़ाकर नमक फेंक दें, और यह अपमान असह्य हो मैं आपको भला बुरा कहूँ! मैं हमेशा प्रयत्नशील था कि मेरे उपकारकर्त्ता का भूलकर भी अपमान न करूँ। इसीलिये वह नमक आपको देने के झंझट में मैं न पड़ा।

किन्तु जिसे मैं टाल रहा था बात होकर ही रही।

सत्याग्रह आंदोलन ज़ोर पकड़े हुए था। बंबई में पुलिस ने आंदोलनसंबंधी एक जुलूस को रोका। जुलूस में के स्वयंसेवक तथा देशसेविकाएँ नेताओं के साथ घंटों बरसात में भींगते रहे। उस जुलूस में महामना पंडित मालवीय सदृश वयोवृद्ध नेता भी थे।

यह वार्त्ता सुनते ही हमारे कालिज के विद्यार्थियों में हलचल मच गई। उन्होंने हड़ताल मनाई। हमें समझाने के लिये प्रिंसिपलसाहब ने आपको भेजा! छात्रों का शोरगुल सुनकर आप बोल उठे, "कालिज यह सरस्वती का मंदिर है। चौक का बाज़ार नहीं।"

हंटर की फटकार सुन जिस प्रकार सर्कस का सिंह चुपचाप पिंजरे में चला जाता है उस तरह छात्रों का वह प्रचंड समूह सहसा सहम गया। किसी का भी शब्द सुनाई न देता था।

मुझे वह शांतता असह्य हो उठी। आपके बुद्धिचातुर्य से आपही पर आसानी

से प्रहार किया जा सकता था। मैं चिल्लाया, "चौक का बाजार है इसीलिये सब लोग जीवित रहते हैं। मंदिर का नैवेद्य तो पुजारी ही हड़प जाता है। भक्तगण तो भूखे ही रहते हैं।"

लड़कों ने प्रचण्ड करतलध्वनि की। निमिषमात्र में ही आपकी हार हुई। उसके बाद विद्यार्थियों ने आपकी एक भी बात न सुनी। आपके इस अपमान का दुःख जितना आपको न हुआ होगा उतना मुझे हुआ। काश् आपके विरुद्ध बोलने की बारी मुझपर न आती!

किन्तु—

मेरे आपके बीच एक पीढ़ी की दूरी थी ना?

उस दिन से एक नया प्रश्न हाथ धो मेरे पीछे पड़ गया। हमारी पाठशालाएँ तथा कालिज क्या सचमुच सरस्वती के मंदिर हैं? क्या इन मंदिरों में से उपनिषदों की रचना करने वाले ऋषिमुनियों समान अथवा आधुनिक पाश्चात्य संशोधन कर्त्ताओं सदृश ज्ञान की अखंड उपासना करने के लिये जीवन व्यतीत करने वाले विद्यार्थी निकलते हैं? जिस देव की पूजा इन मंदिरों में ठाट बाट के साथ होती है क्या वह देव जीता जागता देव है या केवल एक सुन्दर संगमरमर की मूर्त्ति?

प्रतिदिन रात को बिस्तरे पर पड़े पड़े एक एक दो दो बजे तक मैं इसी बात का विचार किया करता था। या यों कहिये कि कुछ दिन तक मेरी नींद बिलकुल ही उड़ गई थी।

अंत में मेरा विश्वास हो गया। हमारे देश में धर्म के समान ज्ञान की भी विडंबना हो रही है। दादासाहब, आपकी विद्वत्ता का अधिक से अधिक क्या उपयोग हुआ? आपके कालिज के कुछ विद्यार्थी संस्कृत लेकर, बी. ए. तथा एम्. ए. की परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए होंगे! उनमें से कुछ प्रोफेसर भी बने होंगे। उनका जीवन-यापन सुख से हो रहा होगा! विश्वविद्यालय की परीक्षाएँ और उनके लिये लगने वाले नोट्स् इनके बल पर उन्होंने बड़े बड़े बँगले भी बनवाए होंगे!

किन्तु अपने चालीस करोड़ लाड़लों के लिये भारतमाता को जिस नूतन मंदिर की आवश्यकता है, जिस मंदिर की नींव, दादाभाई, रानडे, विवेकानंद, तिलक, आगरकर, लाजपतराय, सुरेन्द्रनाथ इत्यादि सैकड़ों सुपुत्रों ने अपना सर्वस्व खर्च कर भरी है, वह मंदिर बाँधने में आपके इन विद्वान् सच्छिष्यों ने क्या तृणमात्र भी मदद की है? मातृभूमि का जीर्ण मंदिर दिन प्रतिदिन गिरा जा रहा है।

उस मिट्टी पत्थर के नीचे सहस्रों देशबांधव समा रहे हैं। पर क्या उनकी आवाज़ की गूँज आपके इन शिष्य-प्रशिष्यों को सुनाई पड़ी है ?

(समाजवादियों का कहना है कि धर्म यह अफ़ीम है) किन्तु मैं सोचता हूँ कि बुद्धिवाद भी अफ़ीम हो सकता है।)

इसी अफ़ीम के परिणाम आज हम सहन कर रहे हैं। हमारे बड़े बड़े प्रोफेसर लीजिये, डाक्टर लीजिये, लेखक लीजिये, जगत् में उनकी क्या कीमत है ? आप सरीखे प्रोफेसर जन्मभर किसी कविता की रट लगाते बैठें, अच्छे अच्छे विद्वान् डाक्टर विलायती दवाइयों की दलाली करें और मोटरें उड़ाते जीवन खर्च करें, और प्रतिभाशाली लेखक समाज के तोता–मैनाओं की प्रणयचेष्टाओं के चित्र खींचने में, अथवा जीवन का कोई क्षुद्र विदूषक खोजकर उसे भड़कीले रंगों में दिखाने में अपनी चतुरता दिखाएँ, इससे अधिक बुद्धि का अपव्यय और क्या—

भगवन्तराव का ही उदाहरण लेता हूँ इसलिये आप नाराज़ न हों यह प्रार्थना है। उनके समान कुशाग्रबुद्धि शायद ही लाखों में कोई मिले। विलायत की परीक्षाओंमें उन्होंने जो यश प्राप्त किया था वह सुनकर मुझे उनपर गर्व होता था। हम दोनों एक ही स्कूल के विद्यार्थी थे। और जिस का आदर्श मैंने बचपन से अपने सन्मुख रखा था उसी ने यह सुयश प्राप्त किया था। मेरी ही तरह रामगढ़ रियासत के हर मनुष्य ने उस समय भगवन्तराव की स्तुति की होगी। किन्तु भगवन्तराव ने अपनी बुद्धि एवँ अपने ज्ञान का क्या उपयोग किया ? वे रामगढ़ के दरबार–सर्जन बन बैठे ! आगे क्या किया ? रियासत के सैकड़ों गाँवों को त्रस्त कर किसानों की नाक में दम करने वाले जूड़ीबुखार (मलेरिया) का निर्मूलन करने के लिये उन्होंने क्या किया ? उन्होंने न कोई संशोधन किया न उन दीन दुःखियों की सेवा की जिनकी पसीने की कमाई से उनकी ऊँची तनख्वाह मिलती थी। रामगढ़ में हैजे ने कहर कर दिया। एक के बाद एक लोग धड़ाधड़ मर रहे थे। और डाक्टर भगवन्तराव राजासाहब के साथ बम्बई दिल्ली की सैर कर रहे थे।

सच तो यह है कि आजकल का हमारा बुद्धिवाद हमारी सुखलोलुपता का ही सुंदर नाम है। बुद्धिवादी कहलाने वाले लोग गांधीजी के आंदोलनों से प्रायः अलिप्त रहे हैं इसका कारण भी यही है। गांधीजी की विचारप्रणाली में सुखलोलुपता को स्थान प्राप्त नहीं है।

और दूसरों की बात ही क्या ? मैं जब इंटरमीजियट क्लास में था तब गांधीजी का सत्याग्रह जोरों पर था। क्या आपने कभी उसके अंतरंग में प्रवेश करने का प्रयत्न किया ? आगे चलकर भगतसिंह फाँसी पर चढ़ाया गया ! "एक अविचारी पागल लड़का !" यह कह कर आप उसे भूल गये।

किन्तु मेरे सदृश सहस्रों युवकों को अभीतक उसकी विस्मृति नहीं हुई है। हो सकता है भगतसिंह की विचारप्रणाली गलत हो। किन्तु उसकी देशभक्ति ? क्या यह नाक़बूल किया जा सकता है कि उसकी देशभक्ति सोलह आने थी ? सती जाकर मृत पति का सहवास प्राप्त करने की कल्पना भ्रमपूर्ण है। किन्तु मृत पति का मस्तक गोदी में लेकर हँसते हँसते जीते जी जल जाने के लिये एक अमोघ शक्ति की आवश्यकता होती है। उस शक्ति का नाम है भक्ति–उत्कट भावना।

(जीवन में जो लोग यह समझ बैठते हैं कि भक्ति, श्रद्धा, और भावना इन सबका बुद्धिवाद से बिल्लीचूहे का रिश्ता है, वही अंत में सुखलोलुप बनते हैं !)

उस साल इंटरमीजियट की परीक्षा में मैं प्रथम श्रेणी में पास न हुआ इस कारण आपको बहुत बहुत खेद हुआ। किन्तु उस साल मेरे मन में एक संघर्ष छिड़ा हुआ था। गणित की कापी ले जब मैं पढ़ने बैठता तो मुझे भगतसिंह के साहस की याद आती और फिर सवाल लगाने के बजाय कागज़ पर भ–भ–भ–लिखते बैठना ही मुझे अच्छा लगता था। उस समय मुझे यह अनुभव प्राप्त हो रहा था कि बाणभट्ट की कादंबरी की अपेक्षा हर दिन के अख़बार में अधिक काव्य है। आपको उन सब बातों का पता भी न था। मैं मुश्किल से दूसरी श्रेणी में पास हुआ था यह देख आप क्रोध से बोले, "कमसे कम बी. ए. में तो प्रथम श्रेणी प्राप्त करो। अन्यथा जन्मभर मास्टरी या क्लर्की का ही साथ रहेगा। प्रोफेसरी का तो नाम भी न लेना !"

कृतज्ञता के कारण मैं आपका यह सब कहना चुपचाप सुन रहा था। किन्तु वह सुनते सुनते मैं मन ही मन कह रहा था—यहाँ कौन ससुरा प्रोफेसर बनना चाहता है ? किसी टूटी हुई इमारत का कलश होने की अपेक्षा नये मंदिर की नींव का पत्थर होना अधिक अच्छा है !

किन्तु मैं यह न जानता था कि आगे क्या करना चाहिये। बी. ए. के प्रथम वर्ष में मैंने बाहरी कई ग्रंथ छान डाले। मेरी और सुलोचना की घनिष्ठता भी पहले

जैसी ही थी। किन्तु मेरी नई विचारधारा से समरस होना उसे दिन पर दिन कठिन हो रहा था। मैं स्वयं मेरे मन में नित होने वाले बदल को अच्छी तरह न समझ सका था। इस कारण बीच बीच में अकारण ही हम दोनों उलझ पड़ते थे।

एक बात याद कर मुझे अब भी हँसी आती है। वह एक साड़ी खरीदने दुकान में गई थी। मैं भी उसके साथ था। दो चार साड़ियाँ चुनकर वह मेरे पास आकर बोली, "इनमें से कौनसी खरीदूँ?"

मैंने कहा, "जो पसंद हो खरीद लो।"

बड़ी बड़ी आँखें बघार कर उसने कहा, "मैं तुम्हारी पसंद पूछ रही हूँ।"

"मेरी? क्यों? मुझे तो साड़ी नहीं पहननी है!"

"लेकिन देखना तो है या नहीं? मेरी पसंद की साड़ी देखकर तुम यदि आँखें बंद कर लिया करोगें तो मेरी पढ़ाई जो मटिया मेट हो जायगी।"

उसके बोलने की मन ही मन सराहना कर मैंने एक हरी साड़ी पसंद की।

एक आसमानी साड़ी मेरे सामने रख कर वह बोली, "और यह देखो!"

मैंने दूर से ही कहा, "नहीं नहीं! मुझे तो हरी ही पसंद है।"

आसमानी साड़ी खोलकर बताते हुए उसने याचना के स्वर में कहा, "किन्तु यह आकाशी रंग कितना अच्छा है!"

"सुलोच, हम आकाश में नहीं विचरते। हम पृथ्वी पर रहने वाले मानव हैं! जो घास का रंग, जो पत्तों का रंग वही हमारा रंग!"

सच पूछिये तो आसमानी साड़ी भी बढ़िया थी। पर मैं एक बार हरी पसंद कर चुका था ना!

मन ही मन मुझे गालियाँ देते हुए सुलोचना ने आखिर वह हरी ही साड़ी खरीदी।

बी. ए. का प्रथम वर्ष समाप्त हुआ। हम कुछ विद्यार्थियों ने छुट्टियों में गाँव गाँव घूमने का निश्चय किया। उस समय आंदोलन धधक ही रहा था। एक गाँव में एक मनुष्य पकड़ा गया। उसकी जगह काम करने के लिये कोई भी तैयार न था। मैंने उसकी जगह ली। जल्द ही मुझे कारागृह का मार्ग दिखाया गया।

कारावास का वह एक साल—पहले पहल मुझे माँ की तथा सुलोचना और आप की बहुत याद आती थी। कभी कभी दिन में किये हुए काम के कारण सब

अंग में दर्द होता था। फिर मुझे रात भर नींद न आती। खाने पीने का भी बुरा हाल था।

किन्तु शीघ्र ही मुझे इन बातों की आदत पड़ गई। मैं उस नयी दुनिया में रम गया।

मुझे वहाँ पढ़ने के लिये काव्य या उपन्यास न मिलते थे किन्तु वहाँ का प्रत्येक मनुष्य एक जीता जागता काव्य था—हर मनुष्य की जीवन कथा एक हृदयविदारक कुतूहलपूर्ण कथा थी। जिसका वर्णन भवभूति ही कर सकता है ऐसा करुणरस हर कोठरी में समाया हुआ था। वहाँ ऐसे विलक्षण मनुष्य थे कि जिनका यथार्थ स्वभाव—लेखन केवल विक्टर ह्यूगो या शरच्चंद्र ही कर सकते हैं। भाई को बचाने के लिये अपने पर खून का अपराध खींच लेने वाला निरपराध भाई मुझे वहीं दिखाई पड़ा। चोरी करने वाला एक मनुष्य मेरा मित्र वहीं हुआ। बच्चों को भूखों मरते देख कर उसने हर साल पंढरपुर की यात्रा करना छोड़ यह मार्ग स्वीकार किया था। वहम का भूत सवार हो अपनी स्त्री का खून कर, उसकी याद में जेल की सूखी रोटी का एक कौर प्रतिदिन निकाल रखने वाला एक बेडर भी मैंने वहीं देखा। पाठशाला न जा सकने के कारण बचपन से ही आवारागर्दिश सीखे हुए बच्चे अब हट्टे कट्टे नवजवान होकर जेल आये थे। पेट लायक मजदूरी न मिलने से भले बुरे मार्ग का अनुसरण कर कितने अधेड़ लोगों ने भी वहाँ प्रवेश प्राप्त किया था। स्वान्तः सुखाय, मैं हमेशा कविताएँ गुनगुनाया करता था। बहुतसे कैदी कविताएँ सुनने के शौक़ीन से बन गये। वे सब मेरे मित्र बने। मैं उनके हृदय में प्रवेश पा सका। फिर जिसका विचार कभी स्वप्न में भी न किया था वह कटु सत्य मुझे दिखाई देने लगा—मनुष्य स्वभाव से गुनहगार नहीं होता। परिस्थिति उसे गुनहगार बनाती है। बचपन में न पढ़ना न लिखना। बड़े होने पर न काम। जन्म से मृत्यु तक हाथ धो पीछे पड़ी हुई तीनों लोक की दरिद्रता! फिर क्या है? गरमी के दिनों में प्यास से व्याकुल होकर प्रवासी जिस तरह चाहे जिस पानी पर टूट पड़ता है उस प्रकार ये मनुष्य चाहे जैसे सुख-कण लूटते हुए भटकते फिरते हैं। उन्हें इतनी फ़ुरसत कहाँ कि नीति-अनीति का विचार करें!

ऐसी अनेक कथाएँ सुनकर मैं एक रात कंबल में मुँह छुपा रोने लगा। मेरे पास ही एक पठान सो रहा था! वह जाग पड़ा। उसने सोचा कि मैं माँ की याद

हो रो रहा हूँ। मेरी पीठ पर हाथ फेरते हुए वह बोला, "बच्चा, माँ की याद आया ?" भावनावशात् मैंने कहा, 'हाँ'। मैं न जान सका कि अपना दुःख उससे कैसे कहूँ।

यह सच था कि मैं माँ की याद से व्याकुल हो उठा था। किन्तु वह रामगढ़ की माँ न थी ! हिमालय की गोद में मूर्च्छित पड़ी हुई मेरी भारतमाता थी वह ! हर दिन मैं सोचता—उसका दुःख दूर करने के लिये हम बुद्धिमान् लोग क्या कर रहे हैं !

रामगढ़ के सब बड़े बड़े लोग मेरी आँखों के सामने आ खड़े हुए। वे सारे के सारे राजासाहब की चापलूसी कर रहे थे। बड़ी बड़ी तनख्वाह लूट रहे थे। और यह समझ कर सुख से रहते थे कि उनके और उनके बालबच्चों के चैन के लिये ही संसारशकट चल रहा है। आर्थिक गुलामी के कारण उन्हें समूचे देश की गुलामी दृग्गोचर ही न होती थी !

उनसे श्रेष्ठ मनुष्य भी—आपके कालिज के सारे प्रोफेसर मुझे याद आये। आप में से अनेकों का स्वार्थत्याग सचमुच वंदनीय था। किन्तु वह त्याग किस लिये था ? ये बुद्धिमान् लोग देश में क्लर्क और मास्टर तैयार कर रहे थे। बिलकुल अप-टु-डेट ढंग से रहने वाले युवकयुवतियाँ निर्माण कर रहे थे।—किन्तु उनमें से मातृभूमि के लिये संघर्ष ठाननेवाला, समाज सेवा के लिये आत्मोत्सर्ग करनेवाला शायद ही कोई तरुण निर्माण होता हो ! क्या कालिज का एक भी प्रोफेसर प्रयत्नशील था कि अधिकाधिक ऐसे ही विद्यार्थी बाहर निकलें ? इस बात का किसी को पता ही न था कि केवल बुद्धि से ही नई दुनिया नहीं बसाई जा सकती !

जो नवीन दृष्टि कालिज के तीन सालों में मुझे प्राप्त न हुई थी वह मुझे जेल में एक ही वर्ष में प्राप्त हुई। मैं सोचता हूँ—आज के हमारे जीवन का यथार्थ चित्र समझाने वाले दो ही कालिज हमारे देश में हैं—एक जेल और दूसरा गाँव। इनमें से किसी एक कालिज में हमारे युवक-युवतियों को एक साल अवश्य अध्ययन करना चाहिये ऐसा कानून बनना चाहिये। यदि कोई मुझे शिक्षा विभाग का डिरेक्टर बना दे तो—

अरे ! मैं तो यह भूल ही गया कि परसों मुझे फाँसी होने वाली है !"

दादासाहब आगे न पढ़ सके। वे आँखें बंद कर निश्चल पड़े रहे। अभी तक

वे यही समझ बैठे थे कि कालिज की पढ़ाई की ओर उदासीन हो दिनकर ने अपना जीवन बिगाड़ लिया है। किन्तु अब वे सोचने लगे—किसका जीवन निष्फल हुआ है? दिनकर का या मेरा?

कोई रहस्यपूर्ण उपन्यास समाप्त किये बग़ैर चैन ही नहीं आता। उसी प्रकार हाथ में के पत्र की अतृप्त उत्कंठा दादासाहब के मन में तूफ़ान मचा रही थी। उन्होंने फिर पढ़ना प्रारंभ किया।

"जेल से छूटकर मैं आपके घर आया वह संस्मरणीय दिन—

कभी भुलाया नहीं जा सकता। मेट्रिक का परीक्षाफल उसी दिन प्रकाशित हुआ था। सुलोचना को दूसरे नंबर की जगन्नाथ शंकरसेठ छात्रवृत्ति मिली थी। उससे मिठाई माँगने के बजाय मैं ही मिठाई लेकर आपके यहाँ आया।

मैं आया उस समय सुलोचना अपने कमरे में वेशभूषा कर रही थी। आईने में गांधी टोपी की परछाईं देखते ही उसने चौंक कर पीछे देखा।

एक विचित्र सी कल्पना मेरे मन में झलक गई—यह सुलोचना नहीं, सुलोचना की बड़ी बहन है। वह चञ्चीसी सुलोच न जाने कहाँ गई? और उसके समान दिखने वाली यह युवती—

हाँ, सुलोचना एकदम युवती ही दिखाई दे रही थी। शाम को देखी हुई कलियों को दूसरे दिन सबेरे फूलों के रूप में देख अबोध बालक अचंभे में पड़ जाता है। सुलोचना को देख मेरी भी वही हालत थी। किन्तु एकटक उसकी ओर देखने के मोह को मैं रोक न सका। उसकी विलोभनीय सुन्दरता—

मैंने पसंद की हुई हरी साड़ी पहन कर जब वह अपनी एक सखी के यहाँ जाने लगी तब मैंने अप्सरा कह उसकी स्तुति की। वह सत्य से परे न थी।

ऐसा निश्चय हुआ कि आप ही के यहाँ रह कर मैं बी. ए. पास करूँ। किन्तु मेरा ध्यान पढ़ाई की ओर बिलकुल न था। एक ओर सुलोचना का सौंदर्य मुझे आकर्षित कर रहा था। दूसरी ओर मेरी माँ मुझे खींच रही थी और जेल के सब अनुभव मेरे कानों में कह रहे थे—हमें न भूलना!

मैं एक चर्चामंडल का सभासद बना और मैंने साम्यवादी साहित्य पढ़ने का सपाटा लगाया।

इतना होने पर भी मैं तीसरी श्रेणी में क्यों न हो, बी. ए. पास हुआ इसी का मुझे आश्चर्य है। परीक्षाफल निकलने के पूर्व ही मैंने रामगढ़ में मास्टरी स्वीकार

कर ली थी। उसके सिवा और कोई चारा ही न था। पिताजी को लकवा मार गया था। और वे खटिया पर ही पड़े थे। साहूकारों ने कर्जे के लिये माँ को तगादे लगाना शुरू किया। तब—

सुलोचना का सहवास मुझे अतीव प्रिय था। साम्यवाद की मैं खूब किताबें पढ़ना चाहता था। किन्तु इन सारे दिवास्वप्नों को छोड़ मुझे रामगढ़ जाना ही पड़ा।

वहाँ मैं केवल नौ दस महीने ही नौकरी पर था। किन्तु इस अवकाश में मैंने बहुतसी बातें सीखीं। कदाचित् वे सब मुझे किसी भी किताब में पढ़ने न मिलतीं!

रिसायत के पास धन न था इसलिये स्कूल में पच्चीस रुपये मासिक वेतन पर बी. ए. पास युवकों की नियुक्ति की जाती थी। और उसी समय बड़ी राजकुमारी के लिये एक सुंदर नई कोठी बनवाई जा रही थी!

आजकल भगवन्तराव उसी बँगले में रहते हैं। वह खासकर आक्कासाहब के लिये बनवाया गया था। उनकी सौतेली माँ से उनकी न बनती थी। इसीलिये राजासाहब ने उनकी स्वतंत्र व्यवस्था की थी। और ग़रीब किसानों की कमाई के चालीस पचास हजार रुपये खर्च कर!

एक डेढ़ वर्ष पूर्व ही मेरा मित्र राजासाहब के खानगी विभाग में क्लर्क का काम करने लगा था यह मैंने सुना। उसे मेट्रिक पास करना असंभव सा था। किन्तु उसका बड़ा भाई दरबार में गवई था। और आक्कासाहब को संगीत की शिक्षा देने का काम भी उसेही सौंपा गया था। इसी हीले हवाले से उसे नौकरी मिली यह कोई अचरज की बात नहीं है। किन्तु हर मास पंद्रह रुपये वेतन पानेवाले इस मुहर्रिर को पच्चीस रुपये माहवार किराये के मकान में रहते देखकर मैं आश्चर्य से दंग रह गया। उसकी रहन सहन भी ठाट-बाट की थी। वह मुझसे एक दिन बोला, "दिनू, तुम हो पूरे बौड़म! अरे रियासत में नौकरी करना हो तो हमेशा 'खानगी' में ही करनी चाहिये। इसे वेदवाक्य समझो तुम।"

छः महीने के अंदर ही मुझे एक बात का पता पड़ा—जो अपराध कर ग़रीब लोक जेल की हवा खाते हैं उन्हीं अपराधों के कारण श्रीमान् लोग महलों में ऐश से रह सकते हैं, समाज में सन्मान पा सकते हैं।

मैंने विद्यार्थियों को छोड़ और दूसरों से मिलना जुलना बंद सा कर दिया। कभी कहीं किसी घरेलू बैठक में लड़के जमते तो मैं अपने हृदय की व्यथा कह सुनाता।

किताबें पढ़कर मेरा विश्वास हो गया था कि गांधीवाद की अपेक्षा साम्यवाद कहीं श्रेष्ठ है। उन कोमलहृदय बालकों को मैं रशिया के साम्यवादी क्रांतिकारियों के उदाहरण सुरसता से वर्णन कर सुनाता था। जब उनका तरुण रक्त खौलता तो मुझे भी अच्छा लगता।

किन्तु मैंने यह कभी न सोचा कि मेरे भाषणों से कोई अनर्थपूर्ण घटना घटेगी।

पर वह होकर ही रही!

रामगढ़ में गवर्नरसाहब चार घंटों के लिये आनेवाले थे।

मेरे साथ उठने बैठने वाले कुछ गरम-मिजाज लड़कों ने उनकी गाड़ी उलट देने का व्यूह रचा। किन्तु उनका प्रयत्न अयशस्वी हुआ। गिरफ़्तार किये हुए लड़कों में से दो माफ़ी के गवाह बन बैठे। उन लड़कों ने अपने बयान में मेरा नाम ले दिया।

पिताजी अब अच्छे हो कामपर जाने लगे थे। उन्हें यह खबर तुरन्त ही मिली। उन्होंने मुझे कहीं दूर निकल जाने की सलाह दी। माँ ने भी बहुत आग्रह किया। पिताजी नौकरी से हाथ धो बैठेंगे और मुझे बेकार तीन चार साल जेल में रहना पड़ेगा इस विचार से मैंने भी बाहर चला जाना मान्य कर लिया।

कम से कम दो तीन साल मुझे परदेसी बन घूमना था।

मैंने उत्तर-भारत जाने का निश्चय किया। पहले सोचा कि सुलोचना को केवल एक पत्र से खबर दे सीधा ही चल पड़ूँ। किन्तु फिर मन में सोचने लगा—न जाने उत्तर-भारत से मैं कब लौटूँगा! सुलोचना से मिले बिना जाना याने—कदाचित्—

उस मुलाकात का मतलब—

मृत्यु के दरवाजे पर केवल सत्य ही धीठता से आगे बढ़ सकता है। इसीलिये लिख रहा हूँ—अन्यथा—

सुलोचना के लिये मेरे मन में प्रणय की भावना प्रवेश कर चुकी थी। रामगढ़ पहुँचने पर मुझे बार बार उसे पत्र लिखने की इच्छा होती थी। किन्तु यह संभव था कि अस्पष्टतया मेरा प्रेम प्रगट हो। और यदि उस प्रेम का सुलोचना स्वागत करे तो?

मुझे मेरा ध्येयवाद छोड़ना पड़ता। वह हरसिंगार के फूल की तरह कोमल थी। और मेरा जन्म तो धूप सरदी और बरसात में ही बीतने वाला था। मेरी इच्छा

थी कि गरम हवा का झोंका लग यह फूल मुरझा न जाए। प्रेम प्रगट न करने में ही मेरे प्रेम की सफलता थी।

नौ दस महीने तक इसी विचार से मैंने मन को नियंत्रित कर रखा था। फिर भी उससे न मिलकर उत्तर-भारत जाना मेरे जी पर आ गया। उससे और आपसे बिदा होनेके हेतु मैं आपके यहाँ आया।

वह रात—

चाँदनी रात थी वह। किन्तु मेरे मन में अंधियारा छाया हुआ था। सुलोचना के दर्शन तथा उसके साथ संभाषण से मेरा मन शांत होने की अपेक्षा और असंतुष्ट हो गया। "कितने दुबले हो गये हो तुम!" यह कह उसने यों ही मेरे कंधे पर हाथ रखा। पर—

मेहमानों के कमरे में मैं बिस्तरे पर पड़ा तो था पर मुझे नींद न आ रही थी। न जाने क्या क्या विचार मेरे मन में आ रहे थे। सुलोचना के भविष्य के विचार से शायद प्रेम प्रगट करना योग्य न हो। किन्तु, एक बार, केवल एक ही बार उसका चुम्बन लेने में क्या हर्ज है? उसमें कौनसा पाप है?

मनुष्य का शरीर कितना विप्लवी होता है इसका वह विचित्र अनुभव मैं अभी तक नहीं भूला हूँ।

सुलोचना अपने कमरे में अकेली ही सोयी हुई थी। यदि मैं उसके कमरे में जाता तो किसी को पता भी न चलता। मैं उसके ओंठों से ओंठ लगाता तो शायद वह न भी जागती। और यदि वह जागती तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि मेरे साहस से घबरा कर वह चिल्लाती ही।

मेरे मन में बुद्धि और भावना के बीच एक तीव्र संघर्ष छिड़ गया। बुद्धि मेरे मोह का समर्थन कर रही थी। भावना उस मोह का सत्य स्वरूप विषद कर मुझे समझा रही थी—हो सकता है कि चुम्बन पाप न हो। यह भी संभव है कि सुलोचना भी तुम से प्रेम करती हो और इस कारण तुम्हारे इस साहस को सराहना से देखे। प्रणय के राज में मर्यादा का उल्लंघन अपराध नहीं होता। गुण ही कहाता है। पर क्या एक ही चुम्बन से तुम्हारी तृप्ति होगी? एक चुम्बन में से असंख्य चुम्बनों की इच्छा उत्पन्न होगी। मोह की पहिली सीढ़ी चढ़ने के बाद दूसरी सीढ़ी चढ़ने की तीव्र इच्छा तुम्हारे मन में होगी। और फिर सुलोचना के बारे का आजका अनासक्त प्रेम आसक्ति में परिणत हो जाएगा। यह आसक्ति अवश्य ही तुम्हारे

ध्येयमार्ग में रोड़े अटकाएगी। यदि तुम प्रेम के लिये ध्येयत्याग करने को तैयार भी हो जाओ तो भी तुम सुलोचना को सुखी न कर सकोगे। केवल प्रेम से जीवन-यापन नहीं होता। उसके लिये धन भी आवश्यक होता है। यह सच हो सकता है कि अधरों के अमृत में अटूट माधुरी हो। किन्तु दोपहर के बारह बजे उस माधुरी से चटनी का भी काम नहीं निकल सकता। सुलोचना सुख में पली हुई है। एक सुखी कुटुंब की बेमाँकी इकलौती लाड़ली बेटी है। तुम्हारा त्याग—तुम्हारी देशभक्ति—कष्टमय जीवन की तुम्हारी कल्पनाएँ—क्या सुलोचना उन्हें अपना सकेगी? फूल फूलदानी में ही शोभा देते हैं। यज्ञकुंड के पास वे मुरझा कर सूख जाते हैं।

खिड़की से आने वाली चाँदनी के प्रकाश में खाट खींच मैं बहुत देर विचार करता ही पड़ा रहा। जीवन के कटु सत्य का साक्षात्कार बुद्धि की अपेक्षा भावना को ही शीघ्र होता है यह अनुभव मुझे उस समय प्राप्त हुआ। सुलोचना और मैं चार साल एकत्र रहा। उस सहवास से हम दोनों में घनिष्ठता निर्माण हुई थी। और अब हम दोनों यौवन में पदार्पण कर रहे थे। इन्हीं चार सालों में हमारे स्वभाव भी भिन्न होते जा रहे थे। हम दोनों के स्वभावों की भिन्नता मुझे प्रतिदिन प्रतीत हो रही थी। किन्तु वह भिन्नता मैं किसी और को न समझा सकता था।

और आज—

वह भिन्नता मेरे शब्दों की अपेक्षा सुलोचना के घर में का वह क्रौंचवध का चित्र ही अधिक स्पष्टतया बता सकेगा।

उस चित्र में क्रौंचयुगल के नर का बाण से वध करने वाला निषाद है न? संसार का हर अन्याय चित्रकार ने उस जंगली भील के रूप में चित्रित किया है। उस निषाद के पास धनुषबाण हैं। हर अन्याय की सहायता के लिये ऐसे ही पाशवी शस्त्र तैयार रहते हैं। ये शस्त्र न तो बुद्धि से डरते हैं न भावना की पर्वाह करते हैं। संहारक उन्माद की तन्मयता में वे तांडवनृत्य किया करते हैं। उनको उन्मत्त शस्त्रों से आहत होने वाले निरपराध जीवों का चीत्कार हमेशा सुनाई दिया करता है। किन्तु उन चीत्कारों से अन्याय का हृदय जरा भी पानी पानी नहीं होता। पानी पानी कैसे हो? विनाश ही उसका आनंद है। सौंदर्य की

मूर्ति को छिन्न विछिन्न करना ही उसका पुरुषार्थ है। पाशवी शक्ति का प्रदर्शन करना ही उसकी शांति है।

भील के बाण से आहत होनेवाला क्रौंच-नर, और उसके लिये व्याकुल स्वर से चिल्लानेवाली, अपने प्राण संकट में हैं यह भूल उच्च स्वर से आर्तनाद करनेवाली क्रौंच-मादी,—ये दोनों संसार के निरपराध दीन-दुःखियों के, निष्पाप पद-दलित मनुष्यों के चित्र हैं। वह ग़रीब क्रौंचयुगल! उसने किसी का क्या बिगाड़ा था? उसने निषाद को क्या कष्ट पहुँचाया था? कहीं उड़ते उड़ते किसी पेड़ पर वह जोड़ी बैठी थी। वह इसी आनंद में थी कि उनसे प्रणय-चेष्टाओं के लिये अभीष्ट एकांत प्राप्त हुआ था।

उन बेचारों को क्या पता था कि इस जगत् में दूसरों को न सताने वाले जीव भी निर्भयता से नहीं विचर सकते, दीन दुःखियों का कोई वाली नहीं है, दरिद्रता एक भयंकर अपराध है, और कोई भी पाशवी शक्ति से प्रेरित होनेवाले अन्याय के शरसंधान से नहीं बच सकता।

एक ही क्षण! वृक्षपर के क्रौंचयुगल की मधुर प्रणयचेष्टाएँ चोराचोरी देखनेवाले पेड़ के नीचे की हरी घास देखते ही देखते क्रौंच-नर के रुधिर से भींग गई।

वह दृश्य देखकर सारा अरण्य काँप उठता है। किन्तु धनुषबाण से सज्ज उस निषाद का प्रतिकार करने का साहस किसी को नहीं होता।

इतने में ही एक चमत्कारपूर्ण घटना होती है। पक्षियों के दुःख से व्याकुल हो एक ऋषि महात्मा आगे बढ़ते हैं। क्रोध से वे आपे से बाहर हो रहे हैं।

अन्याय का प्रतिकार करने वाला बुद्धिवाद चित्रकारने ऋषि के रूप में चित्रित किया है। वह क्रुद्ध ऋषिवर भील से कहते हैं, "तुमने कितना भयंकर पाप किया है! इन निरपराध पक्षियों को दुःखसागर में ढकेल दिया है तुमने! तुम्हें कभी भी सद्गति प्राप्त न होगी!"

जिस प्रकार बुद्धिवाद अन्याय सहन नहीं कर सकता उसी तरह भावना भी अन्याय नहीं देख सकती। उस चित्र में की वह युवती याने भावना की प्रतिमूर्ति! वह उस लहूलुहान पक्षी को प्रेम से उठाती है, उसे गोदी में लेती है, उसकी निष्प्राण देह पर अश्रुओंकी बरसात करती है (किन्तु आँसू कितने ही पवित्र क्यों न हों, उनमें इतनी शक्ति कहाँ कि गये हुए प्राणों को वापस बुला लें!)

उन ऋषि के शाप की कीमत वह क्रूर निषाद शब्दों से अधिक नहीं करता। उसका निर्दय लतियल मन उस युवती के आँसुओं की तृणमात्र भी पर्वाह नहीं करता।

वह फिर धनुष को बाण लगा दूसरे पक्षी को मारने के लिये उद्यत होता है।

दादासाहब, आप अब इस दृष्टि से वह चित्र फिर से देखिये।

वह चित्र सुलोचना को भी बहुत प्रिय है। भगवन्तराव से लड़झगड़कर उसने वह चित्र प्रदर्शनी में खरीदा है। वह चित्र उसे इतना प्रिय है इसका मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं है! चित्र की उस तरुणी से उसका कितना साम्य है!

वह चित्र मुझे भी पसंद है। किन्तु जब जब मैं उसे भगवन्तराव के बैठके में देखता हूँ तब तब एक कल्पना मेरे मन में आए बग़ैर नहीं रहती। चित्रकार ने किसी विशेष कारण से वह चित्र अधूरा ही छोड़ दिया है। वह यह बताना चाहता है कि आज का संसार कैसा है। (आजकल बुद्धि और भावना दोनों मिल अन्याय का विरोध करते हैं। बिलकुल नहीं करते ऐसा नहीं है। किन्तु बुद्धि का विरोध केवल शब्दों तक ही सीमित है। आज संसार में बुद्धि केवल शापवाणी बोलती रहती है। और भावना? वह भी निष्क्रिय नहीं है यह सच है। पर वह कितने ही उसाँस भरे, कितने ही आँसू बहाए, चाहे जितनी कोमल सहानुभूति से अन्याय का भाजन बनने वाले जीव को पास ले, फिर भी उस सहानुभूति में इतनी शक्ति नहीं है कि उस क्रूर नरराक्षस से मोर्चा ले सके।)

किन्तु आज का यह जगत् कल ऐसा ही न रहेगा!

यदि कल के जगत् का सच्चा चित्र चित्रित करना हो तो मैं उसी चित्र में एक और आकृति खीचूँगा। वह एक नवयुवक की आकृति होगी।

तपोवृद्ध ऋषि और भावकोमल युवती इन दोनों से वह भिन्न होगा। उसके पास भी धनुषबाण होंगे। किन्तु वे ग़रीब पक्षियों के शरसंधान के लिये न होंगे। वह शरसंधान होगा केवल क्रूर भील के बाणों को बीच में ही काट गिराने के लिये। यदि भील चिढ़कर लड़ाई ठाने तो उसे पराभूत कर फिर वह नवयुवक वृक्षपर के उन निष्पाप पक्षियों का क्रीडा-कलरव सुनने में अबोध बालक की तरह अपने आप को भूल जाएगा।

कहते हैं कि (कला भूतकाल की कन्या, वर्तमान की पत्नी, और भविष्य की

माता होती है) क्रौंचवध चित्र की याद हो मुझे इस उक्ति की सत्यता हमेशा प्रतीत होती है।

दादासाहब, उस दिन यह चित्र मेरी आँखों के सामने न था यह सच है। पर मेरा मन एकसा कह रहा था—

(विकासशील मानवी जीवन की आत्मा सामाजिक भावना ही है। यह भावना तीने रूपों में प्रगट होती है—शब्दों में, अश्रूओं में और कृति में। इस भावना का पहला सुन्दर स्वरूप है कविता। किन्तु काव्य के शब्द कितने ही सुंदर क्यों न हों व हवा में ही उड़ जाते हैं। इस भावना का दूसरा कमनीय रूप है अश्रु! किन्तु मनुष्य के क्षुब्ध हृदयसागर से उमड़ने वाले ये मोती अंत में मिट्टीमोल ही रहते हैं। आँखों के पानी से मनुष्य अपने निज के हृदय की आग भी शान्त नहीं कर सकता। फिर समूचे जग का वड़वानल वह कैसे बुझा सकता है? चहुँ ओर का दुःख देख व्याकुल होने वाले हृदय को हलका करने के सिवाय और कोई शक्ति शब्दों और अश्रुओं में नहीं होती।

इस भावना का तीसरा स्वरूप ही मानवी प्रगति के लिये उपकारक्षम हो सकता है। इस रूप की भावना शब्दों अथवा आँखों से नहीं बोलती। वह सर्वदा हाथों से बोलती है। अपने रुधिर सिंचन से वह औरों के जीवन-सुमन का विकास करती है।

शब्द, अश्रु और रक्त! तीनों के उगम का स्थान एक ही है! किन्तु उनका अपना अपना जगत् कितना भिन्न है!)

आप, सुलोचना, और मैं एक ही मकान में चार पाँच साल आनंद से रहे। किन्तु हम तीनों का एक भिन्न भिन्न संसार था। जगत् का दुःख देख कर आप अपनी भावना पहले रूप में प्रगट कर रहे थे। सुलोचना दूसरे रूप में अपने हृदय का आविष्कार करने में आनंद मानती थी।

और मैं?

मेरी भावना धीरे धीरे तीसरे स्वरूप में प्रगट होने जा रही थी।

सुलोचना के जीवन में मेरे लिये स्थान न था। फूलों की डलिया में क्या कोई, गुलाब, बेला, चमेली के साथ साथ पत्थर भी रखता है?

उस रात सुलोचना ने मुझसे कहा कि वह मेरे साथ उत्तर-भारत में आने को

तैयार है। मैं सहम गया। थोड़ा हँसा। थोड़ी देर चुप रहा। फिर मैंने उसकी बात मज़ाक में टाल दी।

उसके बाद का मेरा जीवन? जेल के समान सफ़र भी एक जीती जागती पाठशाला है। उन तीन चार साल के अनुभवों में मैं अपने स्वत्व को एकदम भूल गया। पेट भरने के लिये मैंने मजदूरी से मास्टरी तक के अनेक प्रकार के काम किये। कराची से कलकत्ते तक तथा हरिद्वार से रामेश्वर तक मैं घूम घूम घूमा। इस यात्रा में एक कल्पना मेरे मन में बलवत्तर होती गई। 'सुजलाम्, सुफलाम्, शस्य श्यामलाम्' कहकर जिस मातृभूमि का गाना मैं बचपन में भक्ति से गाया करता था, उसका मंदिर आज एक बड़ा भारी जेलखाना बन गया है। हमारे करोड़ों देशबांधव कैदी से भी हीन दशा में जीवन बिता रहे हैं। वे किस लिये जीते हैं? किस आशा पर?

मैं जब काश्मीर गया तब वहाँ की प्राकृतिक शोभा देख मेरी आँखें चौंधिया गईं। हिमालय के वे स्फटिक-शुभ्र उत्तुंग हिमशिखर, पाप्लर, अखरोट, चिनार इत्यादि प्रचंड वृक्षों की वनराजि, विभिन्न रंगों के गुलाबों के नयन-मनोहर गलीचे, सिंध, झेलम, चिनाब, का मधुर-गंभीर संगीत—

प्रकृति की इस संपन्न पार्श्वभूमि पर मनुष्य की दरिद्रता कितनी विकराल मालूम पड़ती है! जब मैं काश्मीर से बाहर आया तब मेरा मन कुछ प्रक्षुब्ध ही था।

ताजमहल देखा उस दिन मुझे अवश्य सुलोचना की बहुत याद आयी। और कुछ भी मुझे न सूझता था। रह रह कर सुलोचना की मूर्त्ति ही आँख के सामने आती थी। वह अब बी. ए. पास हो चुकी होगी, पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सुंदर दिखाई देती होगी—

इसके बाद शीघ्र ही मैं एक मित्र के साथ राजपूताने में गया। भव्य चित्तौड़-गढ़ के भग्नावशेष देखते समय मेरे मन में कितनी ही कल्पनाएँ उमड़ आईं। ताण्डव नृत्य करनेवाले रुद्र की भीमकाय प्रतिमा के कोई पगला टुकड़े टुकड़े कर डाले। वे तितर बितर बिखरे हों किन्तु हर टुकड़े में स्फूर्तिदायी चेतना भरी दिखाई दे। यही आभास मुझे उस दिन हुआ। ताजमहल व्यक्ति के जीवन की सुन्दरता का चिह्न है। चित्तौड़ व्यक्ति के जीवन की सामर्थ्य की प्रतिमा है।

उस रात मैंने एक ग्रामीण रजपूत से राणा प्रताप के बारे में एक सुन्दर गीत सुना—वे स्वर अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं।

उस गीत में प्रताप की मृत्यु का वर्णन था।

एक टूटी झोंपड़ी में राणा प्रताप मृत्युशय्या पर पड़े हैं। अनेक लड़ाइयों के उनके सहकारी, सच्चे साथी, सिर झुका कर उनके पास बैठे हैं। उनका मन उनसे कह रहा है कि उनके नेता की आत्मा मृत्यु का स्वागत भी हँस कर ही करेगी। किन्तु प्रताप के कंठ से कराहने की आवाज़ बाहर पड़ती है। सरदार रुद्धकंठ से पूछते हैं, "राणाजी क्या चाहते हैं?" राणाजी उत्तर देते हैं, "वचन" "क्या?" सरदार पूछते हैं। "चाहे जो कुछ हो मुगलों का दासत्व स्वीकार न करेंगे! सुख के पीछे पड़ चित्तौड़ की स्वतंत्रता न खो देंगे! सिर पर मान की पगड़ी पहनने के लिये मातृभूमि के पैरों में परतंत्रता की बेड़ी न गिरने देंगे—यह वचन!" सब सरदारों ने वह वचन दिया। प्रातःकाल के समय जिस प्रकार गरुड़ घोंसले से बाहर निकलता है उस प्रकार राणा की आत्मा इस नश्वर देह को त्याग कर निकल गई।

धीरे धीरे मैं माँ को, सुलोचना को, आप को भूल गया। कभी कभी तो महीनों तक आप की याद न आती थी। मुझे एक ही धुन सवार थी—अज्ञान और दरिद्रता से ग्रसे हुए देशबांधवों की सेवा किस तरह करूँ! रात में, गहरी नींद सोया हुआ मनुष्य दीवार की घड़ी के घंटे भी नहीं सुन पाता। किन्तु जब नींद उचट जाती है तब घड़ी की टिक् टिक् भी असह्य हो जाती है। प्रणय, कीर्ति, वैभव, विलास इत्यादि का भी यही हाल है। जिसे ध्येय की धुन सवार होती है वह इन और दूसरी बातों की पुकार सुन ही नहीं पाता।

एक बार सब तीर्थों की यात्रा करने के लिये बैरागियों के एक झुंड के साथ मैं तीन चार मास तक घूमता रहा। उन धर्म के दीवानों के साथ भी मुझे वही अनुभव मिला।

उस झुंड के एक बूढ़े बैरागी से मेरी खूब दोस्ती हुई। ईश्वर-प्राप्ति के हेतु उसने उठाये हुए कष्ट—अनुभव किये हुए शारीरिक क्लेश—ठीक से न चल सकते पर भी हर साल सब तीर्थों की यात्रा करने का अट्टाहास—

उनके ईश्वर का अस्तित्व न हो। पर उनकी निष्ठा कितनी प्रखर, कितनी सच थी। हर मनुष्य का ईश्वर भिन्न हो सकता है। किन्तु अपने ईश्वर के लिये उस बूढ़े बैरागी समान कितने लोगों की भक्ति होती है?

रामगढ़ से निकलते समय मेरा झुकाव गांधीवाद की अपेक्षा साम्यवाद की

ओर अधिक था। किन्तु जब मैं देशभर घूमकर और भिन्न भिन्न देहातों में महीनों रहने के उपरान्त विचार करने लगा तब मैं सोचने लगा—

यद्यपि गांधीवाद और साम्यवाद ऊपरी तौर से परस्परविरोधी मालूम होते हैं पर मूलतः एक दूसरे के पोषक ही हैं। समाजवाद सारे संसार को पिता की दृष्टि से देखता है, गांधीवाद की दृष्टि माँ की दृष्टि है। समाजवाद नई दुनिया बसाना चाहता है। किन्तु नये मनुष्य के वग़ैर नई दुनिया नहीं बस सकती और यदि बसे भी तो नये मनुष्य के सिवा अधिक दिन नहीं ठहर सकती।

गांधीवाद नये मानव का निर्माण करना चाहता है। पर मनुष्य का हृदय जादू के डन्डे से तो नहीं पलटा जा सकता। वह विभिन्न संस्कारों से ही पलट सकता है। सामान्य मानव के संस्कार बहुशः सामाजिक ही होते हैं, आध्यात्मिक थोड़े से। नये मनुष्य के निर्माण के लिये यह आवश्यक है कि उसके चारों ओर की पुरानी दुनिया नित्य बदलती रहे।

दादासाहब हो सकता है आप मेरी इस चर्पट पंजरी से ऊब जाएँ। गांधीवाद प्रतिगामी है, वह बुद्धिवादी नहीं है इत्यादि आपके सब मतों से मैं परिचित हूँ। गांधीजी ने आजतक हिमालय समान कई भूलें की हैं यह आपका अत्यंत प्रिय वाक्य मुझे अच्छी तरह याद है।

किन्तु हिमालय सदृश गलतियां करने पर भी आसेतु–हिमाचल फैली हुई चालीस करोड़ जनता के हृदय–सम्राट् गांधीजी ही हैं इसका कारण एक ही है। गांधीजी की गलतियाँ हिमालय समान अवश्य हैं। किन्तु उनकी श्रद्धा, उनका त्याग, उनकी कर्त्तृत्वशक्ति हिमालय से भी ऊँची है। वे रानडे समान पूर्वद्रष्ट हैं, आगरकर समान कठोर सुधारक हैं, लोकमान्य समान प्राणपन से स्वतंत्रता के लिये लड़नेवाले वीरयोद्धा हैं, और महर्षि कर्वे समान निष्ठावान् समाजसेवा के उपासक भी हैं। उनके भिन्नभिन्न पहलुओं के कारण ही उनका व्यक्तिमत्व अत्यंत आकर्षक बन गया है। और इन्हीं भिन्न भिन्न पहलुओं के कारण ही उनकी विचारधारा के बाबत ग़लतफ़हमियाँ भी फैली हुई हैं।

दादासाहब, सच पूछिये तो स्वभाव से गांधीजी, बुद्ध, नानक, एकनाथ, तुकाराम पंथ के ही एक महान् व्यक्ति हैं। किन्तु उनका जन्म हिंदुस्थान में ऐसे समय हुआ कि राजनैतिक क्षेत्र में गोखले और तिलक के बाद उन्हें नेतृत्व

स्वीकार करना ही पड़ा। गांधीजी एक ही धर्म मानते हैं—वह है मानवता। किन्तु आज संसार के किसी भी देश की परिस्थिति ऐसी नहीं है कि मानवधर्म ही राष्ट्रधर्म बन सके। हमारे गुलाम देश का तो कहना ही क्या है? किन्तु क्या इसलिये गांधीजी दोष के पात्र हैं?

उनका स्वभाव संत का स्वभाव है। उन्हें क्रांति अभीष्ट है। किन्तु वह क्रांति केवल सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक ही न हो। उनके विचार में मानवी हृदय की क्रांति प्रथम आवश्यक है। आज सर्वत्र भोग-विलास के ही मूल्य रूढ़ हैं। मनुष्य की महत्ता उसकी सत्ता, उसकी संपत्ति, एवँ उसकी शक्ति पर कूती जाती है। किन्तु गांधीजी की श्रद्धा है कि आदर्श मानवी जीवन का अंतिम मूल्य सेवा, त्याग तथा भक्ति पर ही कूता जा सकता है। सत्ता की मदांधता और आर्थिक विषमता दूर किये बग़ैर इस मानवधर्म की पूजा संसार में न हो सकेगी यह गांधीजो अच्छी तरह पहचानते हैं। अगर हम इस दृष्टि से गांधीवाद की ओर देखें तो—

और सच कहूँ, दादासाहब? गांधीवाद से भी अधिक श्रेष्ठ गांधीजी स्वयं हैं। आप एक बार उनसे अवश्य मिलिये। रामगढ़ लौटने के पूर्व मैं खासकर उन्हें देखने सेवाग्राम गया था। मेरा यह अनुभव है कि विद्युत् और गांधीजी का व्यक्तित्व दोनों एक ही से हैं।

मैंने जब उन्हें प्रथम देखा तब वे सबेरे घूमने जा रहे थे। सर्दी का कड़ाका था। किन्तु बूढ़ा बड़ा तेज़ चल रहा था। ठीक किसी चपल बालक की तरह। मैंने सोचा—छोटे बच्चों की दौड़ में वे अवश्य प्रथम पुरस्कार पाएँगे! सच्चे कवि की शैशववृत्ति प्रौढ़ अवस्था में भी जागृत रहती है। नेताओं को भी अपनी युवावृत्ति इसी तरह सँभालकर रखनी पड़ती है। उसके बग़ैर नवजवानों से वे समरस नहीं हो सकते। अनेक नेता कुछ दिन चमकने के बाद फिर उनका नाम भी नहीं सुनाई देता इसका कारण भी यही है। वे बात की बात में बूढ़े हो जाते हैं।

तीसरे पहर मुझे गांधीजी से दस मिनट बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं उन्हें वंदन कर नीचे बैठा भी न था कि उनकी मधुर मुसकान ने मुझे अपना लिया। मुझे प्रतीत हुआ—गांधीजी के सारे सिद्धान्त इस मुसकान के रूप में

प्रगट होते हैं। वह मानवधर्म की पताका है। वह मुसकान कह रही थी—सारा संसार हमारा है। हम सब भाई भाई हैं।)

हम बातचीत कर ही रहे थे कि एक लड़की शर्माती हुई गांधीजी को फूल देने आई। फूल देते हुए वह तोतले शब्दों में बोली, "खूब सर्दी है! बापूजी आप कुरता क्यों नहीं पहनते?"

गांधीजी ने हँसकर उत्तर दिया, "मेरे पास कुरता नहीं है, बच्ची!"

"अच्छा मैं माँ से कहूँगी कि वह आपको एक कुरता दे दे।"

शायद वह गांधीजी के दर्शनार्थ आए हुए किसी धनिक की लड़की थी। वह माँ के पास जाने को निकली भी किन्तु गांधीजी ने उसे रोक लिया। वे हँसे और बोले, "एक कुरते से मेरा काम न चलेगा!"

"तो कितने? दो, तीन, चार, ग्यारह, सत्ताईस—" वह बच्ची मुँह आये अंक कहती जाती थी और गांधीजी गर्दन हिला नहीं कहते जाते थे। वह बड़े चक्कर में पड़ी। फिर गांधीजी बोले, "अपनी माँ से कहना मुझे चालीस करोड़ कुरते चाहिये। और हर छः महीने बाद फिर उतने ही देना पड़ेंगे। क्या तुम्हारी माँ दे सकेगी?"

उस लड़की के जाने के बाद मेरी उनकी थोड़ीसी बातचीत हुई। मेरा विचार आश्रम में ही रहने का था। किन्तु वह गांधीजी को पसंद न था। हाथ के फूलों की ओर देखते हुए वे बोले, "मेरा धर्म है कि मैं इन फूलों को यहीं के देवता पर चढाऊँ। उन्हें काशीविश्वेश्वर या डाकोरनाथजी पर चढ़ाना गलत होगा। ठीक है या नहीं?"

(जहाँ के फूल वहीं के ईश्वर को चढ़ाना हमारा धर्म है। वह गांधीजी का चिरस्मरणीय वाक्य था)

काशी चलकर मुझे रामगढ़ के एक सज्जन मिले। उन्होंने पिताजी की मृत्यु की खबर सुनाई। माँ से मिलने की मुझे अतीव उत्कंठा हुई। उक्त सज्जन ने यह भी बताया कि मुझ पर रियासत का वारंट अब भी था। पर—

मैंने निश्चय किया कि चाहे जो हो माँ से अवश्य मिलूँगा।

मैं रामगढ़ आया। थोड़े दिन जेल में काटे। जेल से बाहर आने पर रियासत के किसानों का संगठन करने में भिड़ गया।

हमारे आज के गाँव—ठीक टूटे फूटे मंदिर की तरह हैं। इन भग्न मंदिरों में

संतोष का टिमटिमाता दीपक भी नहीं है। अज्ञान और दरिद्रता की लोमड़ियाँ और कुत्ते सर्वदा उनके इर्द गिर्द चक्कर काटा करते हैं।

जीवन की पुरानी श्रद्धा नष्टप्राय हो चुकी है। किन्तु अभी नई श्रद्धा की निर्मिति नहीं हुई है। किसी भी ओर वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की शक्ति नहीं है, किसी भी बात या काम में उपासक की भक्ति नहीं। किसान को शहरी जीवन की माया की यथार्थ कल्पना नहीं। बेचारा प्रवाह में बहा सा जा रहा है। उदास और हताश हो, आया दिन काटने की चिंता में व्यस्त रहता है।

धीरे धीरे रियासत के किसानों में मेरी लोकप्रियता बढ़ने लगी। उसी प्रकार पुलिस–विभाग की दृष्टि भी मेरी ओर वक्र होने लगी। पुलिस में ऐसे लोग थे ही जिनकी मेरे पिताजी से अदावट थी। वे आँखों में तेल डाल मेरे कामोंपर नजर रखने लगे।

किन्तु मुझे तो सेवा करनी थी; षड्यंत्र नहीं रचना था। धर्म–पालन के लिये मैंने अपने को इस काम पर न्यौछावर कर दिया था। इस कारण सिवा इसके कि मुझसे चिढ़ें, पुलिस के लोग बहुत दिन तक और कुछ न कर सके।

मुझे बहुत से कार्यकर्त्ता भी मिलने लगे। किन्तु यह बात जितनी आनंद की उतनी ही डर की भी थी। आंदोलनों में हर तरह के मनुष्य होते हैं। कोई हुल्लड़बाज होते हैं; कोई भावुक होते हैं; कोई निःस्वार्थ सेवा करना चाहता है तो कोई व्यक्तिगत हेतु से भी आंदोलन में शामिल होता है। कई लोग अपनी जीभ काबू में रखना नहीं जानते। कई उत्तरदायित्व भूल जाते हैं।

बरसात में नदी में जा मिलने वाले सैकड़ों नाले नदीका पानी अधिकाधिक गंदा कर देते हैं। वही प्रकार कुछ कुछ हमारे आंदोलन में होने लगा। गवर्नर की गाड़ी उलटने का षड्यंत्र रचने वाले विद्यार्थी जेल से छूटतेही हम लोगों में आ मिले। उनके भाषण इतने तीव्र होते थे कि—और वह जोशी गवैया! मेरे साथ पढ़नेवाले जोशी का बड़ा भाई। वह भी बहुत दिनों तक जेल में सड़ रहा था। बाहर आते ही वह हमारा एक प्रमुख कार्यकर्त्ता बन बैठा। गाँवखेड़ों में उसकी मधुर आवाज का हमें बहुत उपयोग होता था। किन्तु वह ऐसा ऊलजलूल बोला करता था कि कभी कभी जब वह भाषण करता तब चुपचाप सिर नीचा करने के सिवा मुझे और कोई चारा ही न रहता।

ऐसे लोगों से दूर रहना भी संभव न था। उनसे जो अच्छे लोग थे वे हमारे आन्दोलन की हवा से भी दूर भागते थे।

गाँव गाँव में काम कर, थकने के बाद जब मैं माँ से मिलने रामगढ़ जाता तब न भूले सुलोचना के बँगले पर भी जाता। अँधियारे में घने जंगल से रास्ता काटते समय यदि किसी झोंपड़ी से प्रकाश किरण भी दिख जाता है तो यात्री को धीरज बँधता है। सुलोचना की आँखें देखने पर मुझे भी वही आनंद मिलता था।

पर आगे चलकर उसकी आँखों में मुझे खेद की छटा दिखाई देने लगी। उसे देखकर खलील गिब्रान की एक छोटीसी कहानी अवश्य याद आती। वह कहानी एक माँ और उसकी लड़की की है। दोनों को नींद में चलने फिरने की आदत थी। एक रात दोनों चलते फिरते एक बगीचे में आईं। लड़की को देखते ही माँ चिल्ला पड़ी, "बैरिन है तू मेरी। तेरे कारण मेरा यौवन नष्ट हुआ!" उतनी ही जोर से लड़की चिल्लाई, "अरी मर बुढ़िया। तेरे पीछे मेरी स्वतंत्रता खो गई। मेरा जीवन केवल तेरे जीवन की नकल ही रह गया!" इतने में एक मुरगा बोल पड़ा। दोनों की नींद खुली। माँ प्यार से बोली, "कौन? मेरी बच्ची?" लड़की ने प्रेमपूर्व उत्तर दिया "हाँ माँ, मैं ही, तुम्हारी लाड़ली बेटी!"

क्या पति-पत्नी का प्रेम ऐसा ही होता है?

पता नहीं!

लेकिन यह सच है कि सुलोचना और भगवन्तराव को देख कर मुझे वह कहानी याद आ जाती थी।

अब मैं कुछ ही घंटों का साथी हूँ। मेरी और सुलोचना की मुलाकात होना असंभव है। अन्यथा मैं ही उससे कहता—तुम भगवन्तराव की धर्मपत्नी हो। तुम्हें अपना धर्म पालन करना ही चाहिये। पत्नीका प्रेम पति की कर्तृत्वशक्ति को प्रेरणा देता है। तुम भगवन्तराव को चेतना देने वाली देवी बनो। उनके धर्म की उन्हें याद करा देनेवाली मार्गदर्शक प्रेयसी बनो।

आप उससे यह भी कहें कि मेरे लिये व्यर्थ न रोती बैठे। मेरे प्राण बचाने के लिये सभा के दिन शाम का उसका प्रयत्न—

मनुष्य को इसी कल्पना से कितनी शांति मिलती है कि कोई व्यक्ति उस से प्राणों की पर्वाह न कर प्रेम करता हो!

यह बात बिलकुल दूसरी है कि सुलोचना अपने प्रयत्न में यशस्वी नहीं हुई।

उस दिन मेरी माँ बिस्तरे पर पड़ी हुई जीवन के शेष पल गिन रही थी। दो पहर से मैं उसके पास था। मैं यही सोचता था—काश! माँ बेहोश हो जाए। फिर मैं उसे नाराज़ न कर सभा में उपस्थित हो सकूँगा।

पर उसे बेहोशी न आयी। पाँच बज गये। मैं उठकर जाने लगा। आर्तस्वर से 'दिनू' पुकार कर उसने मेरा हाथ अपने हाथ में जकड़ने का प्रयत्न किया। पर उतनी भी शक्ति उसमें न थी। उसकी दशा देख कर मेरी बहन ने डा. शहाणे-साहब को बुला भेजा।

मेरा ध्यान तो सभा की ओर ही था। ठीक इसी समय सुलोचना का नौकर जल्दी जल्दी से आया। उसके हाथ में सुलोचना का पत्र था। "मेरे हृदय में दर्द हो रहा है। तुरन्त आकर मुझसे मिलो।" उसके पहले ही दिन नाले का पानी जब एकदम चढ़ने लगा था तब वह बीच में ही मूर्ति के समान निश्चल खड़ी रही थी। पत्र पढ़ते ही मुझे वह बात याद आई। नाले में उतरते ही उसके हृदय में दर्द शुरू हो गया होगा। मुझे पता भी न था कि उसे हृदय की बीमारी है। हृदय का दर्द याने—मुझे ऐसे भी कई लोग मालूम थे जो हृद्रोग से घंटे आध घंटे में ही चल बसे थे। यहाँ मृत्युशय्या पर माँ, वहाँ सुलोचना—

और उसी में सभा की चिंता! शहर में सबेरे से ही अफ़वाहें फैल रही थीं कि आज की सभा में अवश्य ही कुछ अनोखी बात होकर रहेगी।

मैंने अपने साथियों को सँदेसा भेजा कि मेरे आने के पूर्व सभा प्रारंभ न करें। मैं सुलोचना के मकान की ओर चल पड़ा। मेरा चित्त ही ठिकाने न था। सुलोचना के बँगले के फाटक पर पहुँचने के बाद मुझे याद आया कि उसका पत्र मैं माँ के बिस्तर के पास ही भूल आया था। वह यदि किसी के हाथ पड़े तो—

किन्तु लौट जाने के लिये समय भी न था।

यह बात मालूम पड़ने में मुझे बहुत देर लगी कि मुझे बचाने के हेतु सुलोचना ने बीमारी का नाटक खेला है। उस समय तक सभा में जो न होना चाहिये वह हो चुका था। जोशी वग़ैरह वक्ताओं ने अपने भाषणों में प्रारंभ से ही जहर उगलना शुरू किया। पुलिस के लोगों ने उन्हें रोका। मारपीट शुरू हुई। किसानों के उस असंख्य समुदाय में से पुलिस पर पत्थर बरसने लगे। उसी मारपीट में पुलिस का दारोगा चल बसा। पुलिस के तीन चार जवानों पर भी खूब मार पड़ी थी। तुरन्त पुलिस ने गोली चला दी।

सुलोचना के घर से सभा की जगह तक पहुँचने में मुझे काफ़ी देर लगी। तुरन्त ही मुझे गिरफ़्तार किया गया। मुझ पर अभियोग लगाया गया कि भेस बदल कर समुदाय में मिल मैं लोगों को उकसा रहा था। सरकार को दो गवाह भी ऐसे मिल गये जिन्होंने मुझे भेस बदल यहाँ वहाँ समुदाय में फिरते देखा था। एक महीने तक मुक़दमा चला। हम में से अठारह बीस कार्यकर्त्ताओं को छोटी बड़ी सज़ाएँ हुई। मैं था सबका अगुआ! इसलिये यह ठीक ही था कि मुझे फाँसी जाने का सौभाग्य मिले।

किन्तु, दादासाहब,

सुलोचना को समझाइये। उपन्यास पढ़कर भी वह रोने लगती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है मानों उपन्यास की घटनाएँ उसके ही जीवन में घटी हैं। इसलिये—

फूल एक न एक दिन अवश्य मुरझाता है। मानवी जीवन का भी वही हाल है। फूल के जीवन की सफलता इसी में है कि मुरझा जाने तक अपनी महक न छोड़े।

आप कह सकते हैं कि मृत्यु मृत्यु में भी भिन्नता हो सकती है। फाँसी जाने की कल्पना से ही मनुष्य के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पर दादासाहब, यदि नाविक दल का सिपाही समुद्र में डूब कर मरता है तो क्या कोई आश्चर्य की बात है? फिर यदि देशभक्त सूलीपर चढ़े तो—

मुझे फाँसी का बिलकुल डर नहीं। किन्तु मैं यह सूचना करने वाला हूँ कि फाँसी के समय मेरा मुँह न ढका जाए। इस रीति से, मरते मरते भी मैं मातृभूमि के दर्शन कर सकूँगा। खूब आँखें भर कर।

जीवन के मैंने और सब ऋण चुकाने का प्रयत्न किया। किन्तु आप के ऋण से मुक्त न हो सका। कभी आपको पत्र भी न लिखा। इस अंतिम क्षण सोचा कि आपको सब कुछ खुले दिल से लिख भेजूँ। अब मेरा सब भार हलका हो गया है।

सुलोचना से कहिये—दिनकर पीछे उत्तर–भारत की यात्रा करने गया था न? उसी प्रकार अब भी वह बहुत दूर की यात्रा पर जा रहा है। उन दूर दूर के देशों की बातें देख वह फिर तुमसे मिलने आएगा। कब? बताऊँ?

अगले जन्म में।

मैं पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ। मेरी अति उत्कट इच्छा है कि मैं सुलोचना का पुत्र होकर उसके उदर से जन्म लूँ। और जब मैं जन्म लूँगा उस समय अपनी

प्रिय मातृभूमि स्वतंत्र हो चुकी होगी। हिमालय के समान मस्तक ऊँचा कर वह दूसरे राष्ट्रों की ओर स्वाभिमान से देखती होगी। आजका अपढ़ और अधपेट रहनेवाला भारतीय किसान अपनी माता का एक सुखी सेवक एवँ वीर सैनिक बन चुका होगा।

मेरा यह अंतिम स्वप्न सच हो या न हो! किन्तु मनुष्य स्वप्नों पर ही जीवन भर जीवित रहता है। इतना ही नहीं बल्कि मृत्यु की गोद में भी वह नये नये स्वप्न देखता हुआ गहरी नींद के आधीन हो जाता है।

वंदे मातरम्,
आपका अप्रिय शिष्य,
दिनकर सरदेसाई।"

४

मीयादी बुखार में जब बुखार उतर जाता है तब रोगी का अंग अंग शिथिल हो जाता है । दिनकर का पत्र समाप्त होते ही दादासाहब का ठीक वही हाल हुआ । पत्र उनके हाथ से नीचे जमीन पर गिर गया । किन्तु उसे उठाने वे आरामकुरसी पर से न उठे ।

उनकी आँखों के सामने वे ही तीन शब्द बार बार नाच रहे थे—आपका अप्रिय शिष्य !

कलतक वे शब्द सच थे । पर आज ?

भूकंप के धक्के से रात की रात में बड़े बड़े प्रासाद मिट्टी में मिल जाते हैं । अनुभव के धक्के से इसी तरह देखते देखते मनुष्य ने जतन की हुई कल्पनाएँ नष्ट–भ्रष्ट हो जाती हैं । पिछले चौबीस घंटों में हृदय को हिलोरने वाले दो धक्के उन्होंने पाये थे—सुलोचना की वह कहानी और दिनकर का यह पत्र ।

उन्होंने सोचा—जगत् में जिन्हें हम अत्यंत निकट के रिश्तेदार समझते हैं वे लोग भी कितने दूर दूर रहते हैं ।

नहीं ! हर मनुष्य का अंतरंग एक स्वतंत्र संसार होता है यह सच है ।

बुखार में धूप असह्य हो जाती है। उसी प्रकार कमरे की बत्ती का प्रकाश उन्हें असह्य हो उठा । उन्होंने शीघ्रही बटन दबा कर बत्ती बुझा दी । आँखे बंद कर वे निश्चल पड़े रहे। उन्हें प्रतीत हुआ कि उनका थका हुआ मन बधिर हो रहा है।

वह वधिरता कितनी विचित्र थी !

उन्हें सुनाई पड़ा, एक क्रौंच पक्षी चिल्ला रहा है—'*Men are not born. They are made.*' मानो वाल्मीकि क्रोध से उनकी ओर देखकर 'मा निषाद' श्लोक कह रहे हैं। सुलोचना सितार के तार तोड़कर उन्हें आकाश से मिला रही है और ईश्वर को टेलिफोन कर रही है !

सहसा उन्होंने चौंककर आँखें खोलीं।

दीवानखाने की घड़ी में टन् टन् टन् घंटे बज रहे थे। एक–दो–तीन–चार—

बारह बजे !

क्या ? दिनकर को छः ही घंटे बाद फाँसी होगी !

इस कल्पना से ही उनका हृदय काँप उठा।

उनके मन में एक विचित्र इच्छा हुई कि दीवानखाने में जाकर दिलीप ने वर्णन किया हुआ क्रौंचवध का चित्र देखें। वे उठे भी। इतने ही में—

वे कान लगाकर सुनने लगे।

वह कंगन की ही आवाज थी। वह दीवानखाने से ही—

उन्होंने धीरे से दरवाजा खोला। उन्हें कुछ न दिखाई दिया। पर साड़ी की फड़फड़ाहट—

कोई दीवानखाने में से बाहर जा रहा था।

फिर कंगन की ध्वनि सुनाई पड़ी।

फिर दादासाहब एकाग्र हो सुनने लगे।

वह व्यक्ति अब जीना चढ़ रही थी।

इतनी रात बीते—अँधेरे में—

शाम को देखी हुई वह ठाट–बाट वाली विधवा उन्हें याद आयी ! वही तीसरी मंजिल पर जा रही होगी !

क्या मतलब ?

भगवन्तराव का इस स्त्री से चोराचोरी प्रेम—अब वे अपनी जगह पर न रुक सके। धीमे पैरों से वे कमरे से बाहर निकल आए।

अँधेरे में टटोलते हुए वे दीवानखाने के दरवाजे के रास्ते से बाहेर आए। धीरे धीरे जीना चढ़ कर वे ऊपर गये। शायद भगवन्तराव तीसरी मंजिल पर थे। वे फिर जीना चढ़ने लगे बीच के मोड़ पर—

वह भगवन्तराव का शब्द था। उन्हें स्पष्ट सुनाई पड़ा, "तुम नीचे जाओ!"

"मुझे आपकी बड़ी चिन्ता है। इस तरह कितनी रातें आप जागते रहेंगे?" वह युवती कह रही थी।

"यह अंतिम रात है!"

"याने?"

भगवन्तराव ने कोई उत्तर न दिया।

"इसका क्या मतलब है राम जाने?" वह बोली।

फिर भी भगवन्तराव मौन ही रहे।

"मुझे पता न था कि आप इतने बदल गये होंगे। मेडिकल कालिज में आप मेरा जूठा पान चबा गये थे! याद है आपको?"

"याद न होने को क्या हुआ। जहाँ सारा पिछला जीवन ही आँखों के सामने दिखाई देता है वहाँ—"

"फिर?"

"उस समय का भगवन्तराव—"

"उस समय का भगवन्तराव एक ग़रीब विद्यार्थी था। आज के भगवन्तराव रामगढ़ रियासत के दरबार-सर्जन हैं। सारा सुख-विलास हाथ जोड़ उनके सम्मुख खड़ा है।

"नहीं!"

"क्यों?"

"सारे दुःख मेरे सामने मुँह खोले खड़े हैं"

"ये बाते रातबेरात बोलना अच्छा नहीं है।"

दादासाहब को भगवन्तराव का हँसना ही सुनाई पड़ा। थोड़ी देर से वे बोले, "सुनो, कमला, मैं अभद्र कुछ नहीं कह रहा हूँ। (लाड़ प्यार से लड़के बिगड़ जाते हैं न? सुख से मनुष्य भी नादान बन जाता है।) और जिस भगवन्तराव ने मेडिकल कालिज में तुमसे प्रेम किया उसने विलायत जाते समय भूमध्यसमुद्र में समाधि ले ली!"

आश्चर्यचकित हो दादासाहब सुन रहे थे।

पर उन्हें एक शब्द भी सुनाई न पड़ा। वह नीरवता उन्हें असह्य हो रही थी।

उन्होंने सोचा—शायद संभाषण समाप्त हो चुका है। पर यह कमला तो अभी नीचे नहीं आयी।

हो न हो वह अपना मोहजाल भगवन्तराव पर बिछा रही होगी। उसने अपने हाथ उनके कंधों पर रखे होंगे। अथवा—

थोड़े क्रोध के स्वर में भगवन्तराव बोले, "कमला, निकल जाओ यहाँ से।"

ज़ीने पर पैरों की आहट आयी। मुड़ाव के कोने में किसी तरह बदन चुराकर दादासाहब खड़े रहे। कमला क्रोध में ही ज़ीना उतरकर नीचे गई। दादासाहब असफेर में थे कि क्या करें। ऊपर जाएँ या नीचे—

भगवन्तराव जाग ही रहे थे। पर उनके मन की दशा कुछ ठीक नहीं दिखाई देती थी। इस समय दिनकर और सुलोचना के बारे में उनसे कुछ कहना याने—

ज़ीने पर से कोई उतर रहा था। वह भगवन्तराव ही थे।

उनके नीचे उतरने के बाद दादासाहब भी चुपचाप नीचे उतरे। वे इसी उधेड़बुन में थे—भगवन्तराव कहाँ जा रहे होंगे? कमला के कमरे की ओर?

नहीं नहीं! मेरे ही कमरे की ओर जा रहे हों मुझे कमरे में न देख फिर—

पर भगवन्तराव अंदर गये ही नहीं। वे अगले ही दरवाज़े से बाहर निकले। बगीचे में से जा रहे थे। कँकड़ीले रास्ते पर कर्र-कर्र-की ध्वनि दादासाहब को सुनाई पड़ रही थी।

उनका दिल काँप सा गया। यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि भगवन्तराव का चित्त आज ठिकाने पर नहीं है। पर इतनी रात बीते कहाँ जा रहे हैं? क्या सामने तालाब में आत्महत्या—

इस कल्पनासे ही दादासाहब डर गये। कमला ने अभी ही उनसे पूछा था, "इस तरह कितनी रातें आप जागते रहेंगे?" और उन्होंने उत्तर दिया था, "यह अंतिम रात है।" उस उत्तर का क्या मतलब हो सकता है? कहीं उन्होंने आत्महत्या करने का निश्चय तो नहीं कर लिया है?

भगवन्तराव फाटक खोल कभी के बाहर जा चुके थे।

दादासाहब भी जल्दी जल्दी उनका पीछा करने लगे।

भगवन्तराव सीधे तालाब की ओर गये।

दादासाहब ने सोचा कि दौड़ पड़ें। अन्यथा मेरे पहुँचने के पूर्व ही वे तालाब में कूद पड़ेंगे और—

दादासाहब ने गति तेज कर दी। उनकी आहट पाते ही भगवन्तराव एकदम रुक गये। दादासाहब पास आते ही वे आश्चर्य से बोले, " कौन ? दादासाहब ! "

" हाँ ! बहुत प्रयत्न के बाद भी नींद न आयी। तो कहा चलो थोड़ी देर ठंढी हवा में ही बैठें। याने— "

बोलते बोलते दादासाहब तालाब की पथरीली भीत पर बैठ गये। दोनों ही बड़ी देर तक चुप थे।

अंत में भगवन्तराव उनकी ओर न देखते हुए बोले, " एक बात के लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। "

दादासाहब प्रश्नार्थक दृष्टि से उनकी ओर देखने लगे।

" वह, आप के नाम का दिनकर का पत्र ! मैंने उसे खोलकर पढ़ लिया था। पढ़ना नहीं चाहिये था। पर— "

आगे क्या कहें यह न सूझने के कारण ही शायद वे चुप रहे।

दोनों आकाश की ओर देखने लगे। चाँदनी न थी। उलटे, बादलों के कारण एक भी तारका दृग्गोचर न होती थी। सारी प्रकृति उदास उदास मालूम हो रही थी।

भगवन्तराव तालाब के पानी की ओर देखते हुए बोले, " इतने वर्ष हुए मैं इस बँगले में रहता हूँ। किंतु शोभा का एक स्थान इसके अलावा और कीमत ही मैं इसे न देता था। पर पिछले मास— "

वे थोड़ी देर रुके।

उनके स्वर में थोड़ी कँपकँपी सी उत्पन्न हो रही थी। किंतु पैर फिसल कर गिरने वाला मनुष्य जिस तरह अपने को सँभालता है उसी तरह उन्होंने अपना स्वर स्थिर किया।

वे शांत चित्त से बोले, " यदि पिछले महीने में आकाश ने मेरा साथ न दिया होता, यह तालाब मेरा मित्र न बनता तो— "

बीच ही में उन्होंने मुड़कर बँगले की तरफ़ देखा। तीसरी मंजिल के कमरे की ओर देखते हुए उन्होंने पूछा, " क्या आपका भूतों में विश्वास है ? "

दादासाहब ने नकारार्थक संकेत किया।

भगवन्तराव बोले, " मेरा भी नहीं है। किन्तु पिछले महीने से मैं एक बात जान चुका हूँ। भूत जगत् में न भी हों तो मनुष्यों के मन में अवश्य होते हैं। "

दादासाहब कुछ भी नहीं बोलते यह देख वे किंचित् हँसे और कहने लगे, " मेरी बातें सुनकर आपको आश्चर्य होगा। पर—

तेज़ आँच पर दूध उफना जाता है। वही मेरा हाल है। "

दादासाहब पत्थर की मूर्ति के समान निश्चल थे। उन्होंने ' हाँ ' या ' हूँ ' कुछ न कहा। भगवन्तराव बोले, " आपका पहला तार आया तब मुझे कुछ धीरज बँधा। पर एक के बाद एक गाड़ियाँ चली गईं पर सुलोचना न आई। तब मुझे विश्वास हुआ कि— " वे एक क्षण रुक कर फिर बोले, " पहले दो साल हमने कितने आनंद से काटे। किन्तु सुख के उस उन्माद में न तो मुझे सुलोचना का हृदय मालूम हुआ न उसे मेरा हृदय। और मालूम होता भी कैसे ? जहाँ कभी कभी अपना निजका हृदय ही अपने आपको ज्ञात नहीं होता वहाँ—

बुखार तथा खाँसी आने वाले मनुष्य की परीक्षा हम डाक्टर लोग ' क्ष ' किरणों से करते हैं। जीवन भी ऐसा ही है। सुलोचना मुझ से झगड़ कर चली जाने तक मैं अपने आपको ही न पहचानता था। मैं सोचता था—रामगढ़ रियासत में बत्तीस तैंतीस साल पूर्व एक गाँव में जन्मा हुआ विनायकशास्त्री शहाणे का भगवन्त और मैं एक ही हूँ। किन्तु—

सुलोचना यहाँ से गई वह कुछ अकेली नहीं गई। मेरी नींद और मन की सुख-शांति भी साथ में लेती गई। उसके जाने पर दिन तो जैसे तैसे काम में बीत जाता था। पर रात ? रात तो जैसे काटने दौड़ती थी।

सुलोचना पर मुझे बड़ा क्रोध आ रहा था। पर मेरा उससे प्रेम ज्यों का त्यों कायम था। आप ही आप मैं सोचता था कि उसके बिना मेरा जीवन नीरस हो जाएगा। उसके बग़ैर जीवित रहना याने क्लोरोफ़ार्म के सिवाय शस्त्रक्रिया करने समान—

जब नींद नहीं आती तब मनुष्य का मन भूतकाल में नहीं बल्कि भविष्य में दौड़ने लगता है। किन्तु भविष्य का विचार मात्र मेरे लिये भयंकर था। कल सुलोचना तलाक़ ले मुझ से दूर जाएगी यह कल्पना ही असह्य—

शस्त्रक्रिया करते समय मेरा हाथ कभी नहीं काँपता। नजर कभी नहीं गिरती। पर इस कल्पना के आते ही हृदय में एक ठेस सी लगी। उस ठेस से बचने के लिये मैंने बहुत सी पुरानी यादों में अपने को भुलाना चाहा। कितने ही भगवन्तराव मेरे सामने आ खड़े हुए। पर सच्चा भगवन्तराव कौनसा यह बताना मेरे

लिये भी कठिन हो गया। नदी के पात्र के समान मनुष्य का जीवन भी बदलता रहता है यह देख मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।

मेरे पिताजी एक गाँव में पुरोहिती करते थे। स्वभाव से बहुत ही सीधे सादे थे। जूड़ी बुखार तो मानो हमारे गाँव में जन्म से ही लग जाता था। इस कारण उन्हें बुखार रहते भी स्नान कर काम पर जाना पड़ता था। उनके वे कष्ट देखकर बचपन में कभी कभी मुझे बहुत बुरा लगता था। मैं मन में कहता—जूड़ी बुखार एक बड़ा भारी राक्षस है। कहानियों में राक्षस मारे जाते हैं उस प्रकार इसे भी मारना चाहिये। मैं बड़ा होकर इस राक्षस को मारने के लिये—

जब मैं तीन चार साल का था तभी मेरी माँ की मृत्यु हो चुकी थी। पिताजी ने दूसरा विवाह किया। पर वह माँ भी अधिक दिनों तक जीवित न रही। गाँव के सब लोग कहते थे कि मेरी माँ ने चुड़ैल बन उसे ग्रस लिया। बच्चों के कष्ट न देख सकने के कारण शायद पिताजी फिर सेहरा बाँधने वाले थे। किन्तु उनकी अवस्था काफ़ी हो चुकी थी। दूसरे, जूड़ी बुखार से ग्रसे हुए उस दूर के गाँव में अपनी लड़की ब्याहने से लोग डरने लगे थे। आगे चलकर मुझे भी बार बार बुखार आने लगा। यहाँ मेरी एक दूर के नाते की एक मौसी थी। पढ़ाई बन्द न हो इसलिये पिताजी ने मुझे यहाँ भेजा। पर—

कहा जाता है कि माँ मरे और मौसी जिए। पर वह केवल किताबी कहावत जान पड़ती है। मेरी मौसी ने मुझ से कभी ठीक बर्ताव नहीं किया। मैं मन ही मन सोचने लगा कि सातवीं मराठी पास कर कहीं मास्टर बन जाऊँगा।

मेरे उस इरादे पर आज मैं ही हँसने लगता हूँ। उन दिनों मराठी मास्टर का वेतन केवल तेरह रुपये था। तेरह में से पाँच पिताजी को भेजने पर शेष आठ में मैं किस तरह रहूँगा इसी जोड़बाक़ी में उन दिनों मैं थक जाता था।

मराठी सातवीं में मैं सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ। इस कारण अंगरेज़ी स्कूल के हेडमास्टर का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने एक वर्ष में मेरी तीन कक्षाएँ पूर्ण कर लेने का ठहराया। भोजन के 'वार' लगाकर वह वर्ष जैसे तैसे बीता। इस समय भी मुझे मौसी के घर जैसा ही अनुभव प्राप्त हुआ। मैं कहता—दुनिया रुपयों की है, प्रेम की नहीं।

इसी समय पिताजी की मृत्यु हुई। दुनिया में मेरा अब कोई न था। अब मैं जी जान से पढ़ाई करने लगा। मैंने प्रथम छात्रवृत्ति कभी नहीं गँवाई। मैं यह

मन में आता तो कमला की याद आती और मन कहता—प्रेम एक जुआ है। जो हारने को तैयार हो वही खेले।

मैं दिन प्रतिदिन उदास हो चला था और सुलोचना यदि मेरे जीवन में न आती तो—जीवित रहने के लिये कदाचित् मैं किसी व्यसन का भी आश्रय लेता!

सुलोचना के सहवास में मैं जीवन के नये पुराने सब आघात भूल गया। मैं सोचने लगा कि अब जीवन में पूर्णता आ गई है। राजासाहब और सुलोचना ये ही दोनों मेरे कुलदेवता थे। इन दोनों की पूजा करते समय कभी कोई विरोध उत्पन्न होगा यह कल्पना मुझे स्वप्न में भी न आयी। पर—

इसी बँगले की तीसरी मंजिल पर राजासाहब की कन्यापर उसकी इच्छा के विरुद्ध मैंने शस्त्रक्रिया की थी। आक्कासाहब और उन्हें गायन सिखानेवाले गवैये का प्रेमसंबंध था। उसके ग़रीब होते हुए भी आक्कासाहब उससे विवाह करने को तैयार थीं। किन्तु राजासाहब को यह पसंद न था। उनके मुझपर उपकार थे। और मैं उनका ताबेदार भी था। वह विचित्र दिन—

आक्कासाहब को जब क्लोरोफ़ार्म दिया गया उस समय की उनकी करुण दृष्टि—बाण से घायल नन्हे पक्षी की तरह वह दृष्टि—आज भी मेरी आँखों के सामने झलक जाती है।

वह शस्त्रक्रिया अवश्य यशस्वी होती। पर आक्कासाहब के मन को जबरदस्त धक्का पहुँचा था। होशपर आने के बाद जो कुछ उन्होंने कहा मुझे शब्दशः याद है। वे बोलीं, "डाक्टरसाहब, आपने व्यर्थ ही क्लोरोफ़ार्म दिया। आप के शस्त्रों की कट् कट् आवाज मुझे एकसी सुनाई दे रही थी। मेरा बच्चा!" उनका वह बोलना सुनकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये। उनकी अंतिम बकवास भी कितनी विचित्र थी। "मनुष्य को जीवित रखना यह डाक्टर का धर्म है। जान लेना कसाई का धंधा है।"

सुलोचना का और मेरा पहला झगड़ा इसी घटना पर से हुआ था। उस समय तक मैं यही समझता आया था कि इस बारे में मैंने अपना कर्त्तव्य ही किया था। पर सुलोचना ने एक ही छोटासा सवाल पूछा, 'आपने नौकरी पर लात क्यों न मार दी?'

जब से दिनकर यहाँ आया तब से उस प्रश्न का अर्थ भी मैं धीरे धीरे सम-

झने लगा। संसार में धन की कीमत है, और ध्येय की भी है यह भुलाया नहीं जा सकता।

उसकी और सुलोचना की घनिष्ठता बढ़ने लगी। सुलोचना के लिये मैंने जेल की भूक हड़ताल बंद कराई, राजासाहब के जन्मदिन के उपलक्ष में राजनैतिक कैदी रिहा करने की सलाह दी। पर मुझे समूचे जीवन में एक ही बार प्रेम प्राप्त हुआ था। जब मुझे दिखाई दिया कि दिनकर मेरे और प्रेम के बीचमें उपस्थित होता है तो मुझे उसपर क्रोध आने लगा। और आखिर—

दिनकर की माँ बहुत बीमार थी। उसे देखने के लिये दिनकर के बहनोई का सँदेसा आया। मैं तुरन्त वहाँ पहुँचा। दिनकर माँ के समीप नहीं था। पर वहाँ सुलोचना ने दिनकर को लिखा हुआ एक पत्र पड़ा था। मैंने सुलोचना का अक्षर पहचान तुरन्त पत्र उठा लिया।

उस पत्र में लिखा था—मेरे हृदय में दर्द हो रहा है। तुरन्त आकर मुझसे मिलो। मैं अच्छी तरह जानता था कि उसे ऐसी कोई बीमारी नहीं है।

मैं बँगले पर आया। सुलोचना के कमरे का दरवाजा खोला। किंकर्त्तव्यमूढ़ हो वह दिनकर के गले से लिपट गई। वह देख मैं—

मैं ही जानता हूँ अगले चौबीस घंटे मैंने किस तरह बिताये। न जाने मैंने क्या भला बुरा सुलोचना को कहा! वह भी अंडबंड बकती रही! मुझसे बिना कहे ही वह चली गई!

कमला विधवा हो चुकी थी और बम्बई में मुझ से मिला करती थी। सुलोचना के चले जाने पर मैंने क्रोधावेश में उसे तार दिया। मुझे मनुष्य का साथ चाहिये था। वह आयी लेकिन— ”

भगवन्तराव एकदम उठ बैठे और चलने लगे। पानी की बड़ी बड़ी बूँदें गिरने लगी थीं।

चलते चलते वे हँसकर दादासाहब से बोले, “ यह सब गाथा सुनकर आप ऊब गये होंगे। पर सन्निपात होने पर रोगी बकने लगता है वही मेरा भी हाल है। एक बार सोचता—मेरा बर्ताव बिलकुल ठीक है। दूसरा मन कहता—अपने पुराने कपड़े होते हैं न? मनुष्य का पिछला जीवन भी उन्हीं समान होता है। मनुष्य नये कपड़े बनवाता ही है। उसी प्रकार उसे मन भी नया तैयार कर लेना चाहिये। यह शक्ति शायद सुलोचना के सहवास से मुझ में आ जाती। ”

दादासाहब बीच में ही बोल पड़े, "आज नहीं तो कल सुलोचना आ ही जाएगी। उसने आपके पढ़ने के लिये—"

इसी समय दोनों फाटक के अंदर आ चुके थे। भगवन्तराव अधीरता से बोले, "आते ही आपने मुझसे यह क्यों न कहा ?"

एक बालक की तरह दौड़ते ही वे बँगले की सीढ़ियों पर से चढ़े।

उनके हाथ में सुलोचना की कहानी देते समय दादासाहब सहम से गये। उस कहानी में सुलोचना ने सारी बातें स्पष्टतया लिखी थीं। दिनकर के चुम्बन की उसने बार बार प्रगट की हुई इच्छा—नहीं नहीं ! भगवन्तराव उसे कैसे पसंद करेंगे ?

दादासाहब ने दी हुई मोटी सी नोटबुक लेकर भगवन्तराव कभी के चल दिये थे।

दादासाहब को किसी प्रकार नींद न आयी। घड़ी में टन् से एक घंटा बजा। उन्होंने सोचा—एक बजा होगा ! दिलीप को फाँसी होने में सिर्फ़ पाँच छः घंटे और बाकी हैं। इस बीच उसका छुटकारा कैसे ?

बहुत देर तक वे जागते ही रहे। एक और घंटा बजा हुआ उन्होंने सुना।

❦ ❦ ❦ ❦

वे जागे तो घड़ी के ही घंटे से !

उन्होंने खिड़की से बाहर देखा। पौ फट चुकी थी। पर पानी की रिमझिम होने कारण सब कुछ उदास उदास मालूम हो रहा था।

उन्हें अपने आप ही आश्चर्य हो रहा था कि इतनी देर तक उन्हें नींद कैसे आयी।

कमरे से बाहर निकल वे झट भगवन्तराव के कमरे की ओर जाने लगे। नौकर ने कहा, "वे तो कब के बाहर गये हुए हैं।"

भगवन्तराव जेल के मुख्य अधिकारी हैं। इसलिये शायद उन्हें फाँसी के समय स्वयं उपस्थित रहना पड़ता होगा। इस और दूसरी कई कल्पनाओं से दादासाहब के तो होश से उड़ गये। बड़ी कठिनाई से वे दीवानखाने में आ बैठे।

सामने ही क्रौंचवध का चित्र था। उनके सामने दिनकर की आकृति आ खड़ी हुई। उसने लिखा था कि यदि उस निषाद का बाण हवा में ही काटनेवाला तरुण उस चित्र में और खींचा जाए तो वह चित्र कल के संसार का सच्चा चित्र होगा।

दादासाहब ने बड़ी कोशिश की कि उस कल्पित तरुण की मूर्त्ति चित्र में देखें। पर व्यर्थ ! इसी समय उनके कानों पर नौकर के शब्द पड़े—"बाईसाब, बाईसाब !"

दादासाहब दरवाज़े पर खड़े देखने लगे। फाटक में से सुलोच ही अंदर आ रही थी। उसकी गति कितनी धिमी थी ! और इन दो ही दिनों में वह कितनी दुबली हो गई थी ! उसकी हँसोड़ आँखें—उनपर एक अजीब उदासी छायी हुई थी।

सीढ़ियाँ चढ़कर उसने दादासाहब की ओर देखा।

दूसरे क्षण उसने आँखें फेर लीं। दादासाहब ने आगे बढ़ उसकी पीठ पर हाथ रखा। आँचल से आँखें पोंछती हुई वह बोली, "मैं यही निश्चय कर आयी हूँ कि सारा हाल राजासाहब से कह सुनाऊँ। पिछली तीन रातें न जाने कैसे बीतीं ! दादा, मुझपर क्रोध न कीजिये और उनसे कहिये—सुलोचना आपकी ही है। पर दिनकर को सुलोच को छोड़ और कोई—कोई भी नहीं है।"

वह आगे न बोल सकी। बैठके में आकर वह धड् से कुरसी पर गिर पड़ी और हाथों से मुँह ढक कर सिसकियाँ भरने लगी।

घड़ी में सात बजने में पाँच मिनट थे। दादासाहब ने सोचा—काश्, सुलोच एक ही दिन पहले आती ! अब—इस अंतिम क्षण !

यदि अभी के अभी उसे जेल ले चलें तो ? क्या ठीक है ? यदि एक भी मिनट देर हो—

वे एक टक खून से लथपथ उस चित्र के पक्षी की ओर देखने लगे। वे अधिक देर तक वह चित्र न देख सके। उन्होंने आँखें मूँद लीं।

बाहर मोटर रुकी। दादासाहब उठकर दरवाज़े में आये। भगवन्तराव मोटर से उतर रहे थे। शायद मोटर में और कोई भी था। भगवन्तराव उतरते उतरते उस दूसरी व्यक्ति से बोल रहे थे।

क्या दिनकर को फाँसी दिला, भगवन्तराव लौट आए हैं ?

अब सुलोच से क्या कहूँ ?

वे पसीने से तर हो गये। जीभ सूख सी गयी।

वह दूसरी व्यक्ति भी मोटर से उतर चुकी थी।

दादासाहब ने आँख फाड़ फाड़ कर देखा—वह तो दिनकर दिखाई दे रहा था—पहले से कुछ भिन्न अवश्य था—पर था दिनकर ही—

बालक की तरह तालियाँ पीटते हुए वे चिल्लाये, "सुलोच–सुलू–सुलोचना!"

सुलोचना ने सिर उठा कर देखा। उसकी समझ में न आया कि दादा को इतना हर्ष किस बात का हो रहा था।

बड़ी कठिनाई से दादासाहब उसे दरवाजे तक खींच लाये। भगवन्तराव और दिनकर फाटक से अंदर आ रहे थे। सुलोच अपनी आँखों पर विश्वास ही न कर सकी। दादा के कंधे पर उसने अपनी गर्दन टिका दी। एक अस्पष्ट उद्गार उसके मुँह से निकला—'दादा—'। मानो वह पूछ रही थी, "दादा, क्या यह स्वप्न सच हो सकता है?"

गर्दन उठाकर उसने फिर मुड़कर देखा। वह स्वप्न न था। भगवन्तराव और दिनकर हँसते बातचीत करते चले आ रहे थे।

उसे डर था कि आनन्द के मारे वह कहीं मूर्च्छित न हो जाए। वह दौड़ती ही तीसरी मंजिल पर गई। ठीक उस तरह जिस तरह मनुष्य की आहट पा गिलहरी झट पेड़ पर चढ़ जाती है।

दिनकर ने झुककर दादासाहब को नमस्कार किया। दादासाहब का जी भर आया। वह हँसते हँसते बोला, "दादासाहब, पीछे आप मुझे उपदेश दिया करते थे न? आज फिर वैसा ही उपदेश दीजिये।"

"किसे?"

"भगवन्तराव को। आज उन्होंने केवल मुझे ही नहीं छुड़ाया है किन्तु स्वयं भी छुटकारा प्राप्त कर लिया है!"

"याने?"

"उन्होंने अपने पद का इस्तीफ़ा दे दिया है। उनका आज ही जूड़ी बुखार की नई दवाई के संशोधन के लिये कलकत्ते जाने का इरादा है।"

"पर वह सफल न होगा।" दादासाहब हँस पड़े। कलाई की घड़ी देखकर भगवन्तराव बोले, "सफल न होने को क्या हुआ? सन्दूक में दो चार कपड़े भरे कि मेरी तैयारी हुई। दूसरी बातें बाद—"

"किन्तु मेरा अपना बूढ़े आदमी का भविष्य है कि आज तो क्या और दो चार दिन आप न जा सकेंगे!"

" देखूँ कैसे नहीं जा सकता ! " यह कहकर भगवन्तराव शीघ्रता से जीना चढ़ने लगे।

कमरे में पैर रखते ही उनकी दृष्टि पलंग की ओर गयी। नौकर पर बड़ा क्रोध आया उन्हें ! कपड़े कैसे अस्त बस्त पड़े थे ! कोई देखे तो यही सोचेगा कि भगवन्तराव अभी सो ही रहे हैं।

जल्दी जल्दी उन्होंने संदूक खोला। सारा सामान बाहर निकाल प्रवास के लिये आवश्यक चीजें फिर ठीक से भरने लगे। कपड़ों में उन्हें सुलोचना की एक तसवीर मिली। वह फोटो विवाह के बाद खिंचाई हुई थी। एकाग्र हो वे फोटो देखने लगे। देखते देखते चुम्बन लेने के लिये वे झुके। एकाएक पीछे से किसी ने वह फोटो उनके हाथ से खींच ली।

इस समय यह मज़ाक—वह कमला आयी होगी ऊपर !

गुस्से से उन्होंने मुड़कर पीछे देखा।

वह फोटो हाथ में ले सुलोचना खड़ी खड़ी हँस रही थी।

उन्होंने तुरन्त उसे अपने बाहुपाश में खींच लिया। उनके कंधे का आश्रय लेने-वाला वह मस्तक कोमलता से हाथ में ले वे सोच रहे थे—संसार का सारा सुख इस क्षण मेरी सेवा में सज्ज है !

नीचे झुक उन्होंने उसे चूमना चाहा। ' अरे छोड़ो ! ' कह उसने अपना मुँह उनके हाथों में और छुपा लिया। उसका शर्माना देख भगवन्तराव हँसे और बोले, " शर्माने को क्या हुआ ? यहाँ हम दोनों ही तो हैं। "

खरगोश अपने बिल में से जिस तरह देखता है उस तरह अपना सिर कुछ ऊँचा कर, भगवन्तराव से दृष्टि मिलाकर वह बोली, " नहीं, हम तीनों हैं ! "

" तीनों ? "

" हाँ। " उनकी गोद में अपने को छिपाती हुई वह बोली, " अपना बच्चा भी तो है ! "

रात को पढ़ी हुई सुलोचना की कथा उन्हें याद आयी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो उस कहानी में अंत में पुष्पवृष्टि हो रही है।

बैठके में सितार के मधुर स्वर सुनाई पड़े।

एकदम किसी ने पुकारा, " सुलोचना ! " सुलोचना ने अपने को भगवन्तराव के बाहुपाश से छुड़ा लिया।

दिनकर दरवाज़े में आते ही वह बोली,

" दिलीप ! "

सितार के स्वर स्पष्ट हो चले थे—'इस तनधन की कौन बड़ाई '

पतिपत्नी को आभास हुआ—

दरवाज़े में दिलीप नहीं है। आर्त, मधुर उदात्त स्वरों की प्रतिमूर्त्ति ही उतर आयी है।

दोनों ने सोचा—उसकी आँखें कह रही हैं—

क्रांति का दूसरा नाम है प्रीति !

